भागवत-कथा

[श्रीमद्भागवत महापुराण का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद]

●

भूमिका
श्री वियोगी हरि

संक्षेपकर्त्ता
श्री सूरजमल मोहता

●

१६५५
सत्साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

पहली बार : १९५५
मूल्य
चार रुपये

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस,
दिल्ली ।

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीमद्‌भागवत का हिन्दी रूपान्तर दिया गया है। पाठक जानते हैं कि भारतीय वाङ्‌मय में श्रीमद्‌भागवत का महत्वपूर्ण स्थान है और उसकी कथाएं जहाँ रोचक हैं, वहाँ शिक्षाप्रद भी हैं।

लेखक महोदय की आकांक्षा रही है कि ऐसा अनमोल ग्रंथ सामान्य पाठकों को भी सुलभ हो। इसलिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किया है कि अनुवाद की भाषा सरल-सुबोध रहे। उन्हें अपने प्रयत्न में बहुत-कुछ सफलता भी मिली है। वैसे भी पुस्तक इतनी सरस है कि पाठक उसे चाव से पढ़ेंगे।

पश्चिमी विचार-धारा ने हमारे देश की दृष्टि भौतिकता की ओर मोड़ दी है और आज हमारी उपलब्धियों के मानदण्ड में बड़ा परिवर्त्तन हो गया है, फिर भी जिस भूमि के कण-कण में धर्म व्याप्त रहा हो, वह पूर्णतया धर्म-विहीन कैसे हो सकती है? हमें यह देखकर हर्ष होता है कि आज भी हमारे करोड़ों देशवासियों में धार्मिक साहित्य की भूख है। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें ऐसा साहित्य दिया जाय, जो उनके संस्कारों को पुष्ट और उनके विवेक को संतुष्ट करे।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक का हिन्दी-जगत में अच्छा स्वागत होगा और पाठक इसे रुचिपूर्वक पढ़ेंगे।

—मंत्री

निवेदन

श्रीमद्भागवत-महापुराण एक अपूर्व धार्मिक ग्रंथ है। इस महान ग्रंथ में भगवान के अवतारों में यज्ञ, बुद्ध और कल्कि को छोड़कर अन्य सभी की कथाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। दशम स्कन्ध में वर्णित भगवान श्रीकृष्ण की सुमधुर मंगलमयी कथाएं तो भक्त-हृदयों को अत्यधिक प्रिय हैं। एकादश स्कन्ध में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव को दिया गया उपदेश, वर्णाश्रम-धर्म, सांख्य ज्ञान, भक्तियोग, संत-लक्षण इत्यादि विषयों का पूर्ण और श्रेष्ठ विवेचन है। यद्यपि श्रीमद्भागवत की सभी कथाएं भक्तियोग का उत्तम उपदेश देनेवाली एवं श्रद्धा बढ़ानेवाली हैं, फिर भी भगवान कपिल का माता देवहूति को उपदेश, जड़भरत, अजामिल, प्रह्लाद-चरित्र, वामनावतार एवं महाराज बलि की कथाओं ने मेरे हृदय को विशेषतया आकर्षित किया है।

यह तो सर्वविदित है कि हमारे यहाँ प्राचीनकाल में ग्रंथों में रचनाकाल या संवत् देने की प्रथा नहीं थी। फलस्वरूप, यह ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि श्रीमद्भागवत कब लिखा गया। मूलग्रंथ की रचना के विषय में इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि यह भगवान बुद्ध के अवतारग्रहण के पहले ही अपना रूप प्राप्त कर चुका होगा। ग्रंथ में उल्लिखित अवतारों में, भगवान बुद्ध और कल्कि का नाम हमें भविष्य में होने वाले अवतारों में मिलता है। ग्रंथ में अन्यत्र उनका उल्लेख नहीं मिलता। पर द्वादश स्कन्ध में नन्द, चन्द्रगुप्त और अशोकवर्द्धन आदि राजाओं के नामों का प्रवेश होने से यह शंका पुष्ट होती है कि ये भाग और इसी तरह के कई अन्य भाग मूलग्रंथ में बाद में जोड़े गए हैं।

हमें यह भी निश्चिततया नहीं मालूम कि इस विशाल ग्रंथ के महान रचयिता श्रीवेदव्यास ने इसे स्वयं अपने करकमलों द्वारा लिखा या अपने अद्भुत मेधा-शक्ति-सपन्न शिष्यों को अपने श्रीमुख से पढ़ाया।

प्राचीन पाण्डुलिपि के अभाव में हमारा दृढ़ता के साथ यह कहना कि यह ग्रंथ मूलतः लिखा ही गया था, एक अनधिकार चेष्टा होगी। श्रुति-स्मृति की पुरातन पद्धति से यह ग्रंथराज हमें परम्परागत प्राप्त होता गया—यह मत ही अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इस पूर्व-प्रचलित पद्धति से जो भी ग्रंथ मानव को प्राप्त हुए हैं, उनके विषय में यह आशंका तो सदैव बनी ही रहेगी। समय-समय पर अन्यान्य विद्वानों ने अपनी रुचि-अनुसार एवं समयानुकूल प्रकरण मूल रचनाओं के साथ अन्तर्निहित कर दिये होंगे। इस क्रिया के कारण ही कालान्तर में यह ग्रंथ इतना विशालकाय हो गया, यह कहना शायद अनुचित न होगा। यह कहा जाता है कि 'व्यास' नाम-रूपी एक नहीं, अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। विद्वानों ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि 'व्यास' एक उपाधि-मात्र थी, उसी प्रकार, जिस प्रकार महामहोपाध्याय, कविरत्न आदि उपाधियाँ आजकल प्रचलित हैं, पर यह तो निर्विवाद है कि इस ग्रंथ के अग्रगण्य रचयिता एवं प्रणेता, अलौकिक काव्य-शक्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ही थे। अन्य 'व्यास' उपाधि-विभूषित काव्य-कलाधरों एवं विचारकों ने समय-समय पर अपनी विविध कलाकृतियों को इस ग्रंथ में मिलाया, यह भी प्रायः असंदिग्ध है।

ग्रंथ के अन्दर ही हमें ऐसे उदाहरण मिलेंगे, जिनके मनन से हम उपरोक्त मत का प्रतिपादन कर सकते हैं। प्रथम स्कन्ध और द्वितीय स्कन्ध में वर्णित अवतारों के नामों और उनकी गणना में साम्य का अभाव पाया जाता है। प्रथम स्कन्ध में नारद और मोहिनी को अवतारों की गणना में प्रतिष्ठित किया गया है, पर द्वितीय स्कन्ध में शुकदेवजी द्वारा परीक्षित को सुनाये गए अवतारों में इन्हें न रखकर हंस और हयग्रीव को रखा गया है। इस भिन्नता को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना उचित नहीं होगा कि श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने ही दोनों स्थलों पर अवतारों का वर्णन किया है। विराट् भगवान की कथा प्रारम्भ में शुकदेवजी ने परीक्षित को सुनाई। आगे चलकर वही कथा मैत्रेयमुनि ने

विदुरजी को सुनाई। पर दोनों वर्णनों में प्रत्यक्ष भेद के दर्शन होते हैं। इसी तरह हम पाते है कि ग्रंथ में वर्णाश्रम-धर्म, साधक के कर्तव्य, संत-लक्षण आदि विषय एक स्थान पर ही नहीं, विविध स्थानों पर विवेचित हुए हैं।

भाषा और शैली का असाम्य भी स्पष्ट लक्षित होता है। कहीं पर वर्णन में असाधारण प्रखरता और तेजस्विता पाई जाती है तो कहीं पर शैथिल्य एवं सामान्यता। उदाहरणार्थ, नवम स्कन्ध में श्रीशुकदेव ने परीक्षित को बहुत से ऐसे राजाओं का जीवन-चरित सुनाया है, जिनका भक्ति-मार्ग में कहीं स्थान नहीं है। नवम स्कन्ध में कितने ही स्थलों पर भाषा में वह भावपूर्णता, ओजस्विता, स्निग्धता एवं रोचकता नहीं तथा वर्णन-शैली में वह वैचित्र्य नहीं जो इस ग्रंथरत्न के प्रतिभाशाली रचयिता की सर्व-मान्य विशेषताएं हैं। भगवान् कपिल, जड़भरत, अजामिल, प्रह्लाद तथा महाराज बलि के चरितों को अपनी देवनिर्मित तूलिका से अद्भुत कौशल के साथ प्रकाशित करनेवाला महान कवि एवं चिन्तक नवम स्कन्ध में आकर भगवान राम और राजा हरिश्चन्द्र के चरित खींचने में साधारण भाषा को ही क्यों प्रयुक्त कर पाया, यह शंका सहज ही हमारे मनों में अंकुरित होती है। इस शंका का एक ही समाधान है। वह यह कि इस विशाल ग्रंथोदधि में उपलब्ध अपार रत्नराशि को श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास ने ही नहीं, उत्तरकालीन अन्य विद्वज्जनों ने भी एकत्र किया है।

पर इस महान ग्रंथ के विषय में मेरी तुच्छ बुद्धि कोई निश्चित मत प्रतिपादन करने में सर्वथा असमर्थ है। हाँ, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने गोस्वामी तुलसीदास विरचित रामचरितमानस से क्षेपक स्थलों को हटाकर जो स्तुत्य कार्य सम्पादित किया, वैसा ही कार्य, यदि पक्षपातरहित विद्वानों एवं संस्कृत भाषा के मर्मज्ञों की सहायता से कोई संस्था इस ग्रंथ के शुद्धिकरण हेतु करने का उत्तरदायित्व संभाले तो यह भारतीय धर्म और जीवन के प्रति महान सेवा होगी।

इस कथासार के संकलन में मैंने अध्यायों को सिलसिलेवार रखने की अपेक्षा विषयों को शृंखलाबद्ध प्रस्तुत करने को अधिक महत्त्व दिया है। जहां कहीं भी कथा की शृंखला मुझे कुछ टूटती नज़र पड़ी, उसे एकत्र कर एक सुगठित और सुव्यवस्थित रूप में रखने की भरसक चेष्टा मैंने की है। इस उत्कृष्ट ग्रंथ में कई स्थल तो बड़े ही गहन और गूढ़ हैं। शब्दार्थ और तात्पर्य में अंतर है। शाब्दिक अर्थ से ऊपर उठकर वास्तविक अर्थ को पकड़ पाना तथा समझ सकना उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा ही सम्भव है। वास्तविक अर्थ न समझ पाने के कारण ही 'चीरहरण', 'रासलीला', 'युगलगीत' ऐसी सर्वप्रिय, सरस एवं कोमल कथाओं तक को छोड़ने का मैंने साहस किया है। मैं जानता हूं, भगवान के माधुर्य रूप के उपासक प्रेमी भक्त इसके लिए शायद मुझे क्षमा न कर सकें। फिर भी, अपनी अज्ञानता की ढाल आगे कर, मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

हमारे प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के पुनरुद्धार में गीता प्रेस, गोरखपुर वालों की अनवरत सेवा मुक्तकंठ से प्रशंसनीय है। श्रीमद्भागवत का यह संक्षिप्त संस्करण तैयार करने में मैंने गीताप्रेस द्वारा प्रस्तुत अनुवाद से काफी सहायता प्राप्त की है। अतएव गीता प्रेस, गोरखपुर के प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ।

श्री वियोगी हरिजी का भी मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने यत्र-तत्र भाषा का परिमार्जन कर उसे अधिक रोचक बनाया।

—सूरजमल मोहता

भूमिका

'विद्यावतां भागवते परीक्षा' यह कहावत प्राचीनकाल से विद्वत्समाज में प्रचलित है। विद्वानों की चूड़ान्त विद्या की परीक्षा श्रीमद्भागवत महापुराण द्वारा हुआ करती थी। केवल विद्वानों की ही नहीं, बल्कि कहना चाहिए कि बड़े-बड़े तत्वज्ञानियों, परमार्थमार्गियों एवं रसज्ञ भक्तों की भी परीक्षा भागवत से होती है। भागवत एक ही साथ समन्वयपरक दर्शन-ग्रंथ, उत्कृष्ट भक्तिरस-ग्रंथ और अद्वितीय काव्य-ग्रंथ भी है। दशम स्कन्ध जहां श्रीकृष्ण-लीलाओं का अनुपम रसार्णव है, तहां एकादश स्कन्ध भागवत सिद्धांतों का अद्भुत निचोड़ है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत-सिद्धांतों का असामान्य समन्वय तो हम भागवत में पाते ही हैं, सांख्य-दर्शन को भी हम एक निराले ही रूप में इस ग्रंथ में देखते हैं। अनेक आख्यानों को उपस्थित करते समय भी भागवतकार की दृष्टि निरन्तर तत्व-ज्ञान की गहनता और सूक्ष्मता पर ही रही है।

कहते हैं कि अनेक पुराणों और महाभारत की रचना करने के उपरांत भगवान् व्यास को परितोष नहीं हुआ। परम आह्लाद तो उनको श्रीमद्भागवत के प्रणयन और संगायन के पश्चात् ही हुआ। उसी भागवत का व्यासपुत्र शुकदेव ने विशद व्याख्यान किया। परम रसज्ञ शुकदेव के मुख से उद्गीत होने पर पद-पद से अमृत झर उठा—'शुकमुखादमृत-द्रवसंयुत्तम्'—यही कारण है, जो भागवत को भगवान् का 'निज स्वरूप' कहा गया है। निस्सन्देह, भगवदनुग्रह-मार्ग का यह सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है।

यद्यपि भागवत का एक-एक श्लोक लालित्य और माधुर्य से परिप्लुत है, तथापि इसके कई स्थल इतने गहन और इतने क्लिष्ट हैं कि उनका अर्थ लगाते हुए बड़े-बड़े पण्डितों की भी बुद्धि चक्कर खा जाती है।

पर यह 'गागर में सागर' भर लेने का काम हर किसी के वश का नहीं। श्री मोहता प्रस्तुत संकलन करने में बहुत कुछ अंशों में सफल हुए हैं, भागवत पर जितनी टीकाएँ, जितनी वृत्तियां और जितने भाष्य लिखे गए हैं, उतने और किसी भी पुराण-ग्रंथ पर नहीं ।

अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धांतों पर भागवत को उतारने के आचार्य तथा अन्य विद्वानों ने समय-समय पर प्रयत्न किये हैं, किन्तु फिर भी भागवत अपने-आप में निराला ही ग्रंथ रहा है——साम्प्रदायिक एवं विभिन्न दार्शनिकवादों से निराला ।

भारत की कई भाषाओं में अनुवाद ही नहीं, पद्यात्मक छायानुवाद भी भागवत के हुए हैं। मराठी का 'एकनाथी' भागवत तो प्रसिद्ध ही है। सूरदासजी ने अपने 'सूर-सागर' की रचना श्रीमद्भागवत के आधार पर ही की है। ब्रजवासीदास का 'ब्रज विलास' तथा द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' इन दोनों ग्रंथों की रचना भी भागवत के आधार पर हुई है। हिन्दी भाषा का 'शुक-सागर' और दशम स्कन्ध का गद्यात्मक रूपान्तर 'प्रेम-सागर' तो साहित्य-जगत में प्रसिद्ध ही हैं। श्री हरिभाऊ उपाध्याय का 'भागवत धर्म' भी भागवत के ग्यारहवें स्कंध की विस्तृत टीका है और इसी शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी है।

गोरखपुर के सुप्रसिद्ध गीता-प्रेस ने कुछ वर्ष पहले श्रीमद्भागवत का मूल हिन्दी अनुवाद के साथ ('कल्याण' का विशेषांक) निकाला था। उसे मेरे मित्र श्री सूरजमल मोहता ने ध्यान से पढ़ा और उन्हें यह इच्छा हुई कि इस महाग्रंथ का एक सरल एवं संक्षिप्त संस्करण तैयार किया जाय। रत्नाकर में डुबकी लगाते समय किस रत्न को लिया जाय और किसे छोड़ा जाय, यह विवेक करना बड़ा कठिन काम है। फिर भी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सारग्राही सम्पादकों को, यह जानते हुए भी कि उनकी यह अनधिकार चेष्टा है, यह अतृप्तिकर कार्य करना ही पड़ता है।

ऐसा कहा जा सकता है ।

भाषा में कहीं-कहीं पर थोड़ा-सा हेर-फेर मैंने कर दिया है, साथ ही, कुछ स्थलों का साधारण-सा सम्पादन भी ।

आशा है, इस संक्षिप्त भागवत से पाठकों को अवश्य आनन्दानुभव होगा ।

हरिजन-निवास, **—वियोगी हरि**

दिल्ली, १६-६-५५

7812

विषय-सूची

भागवत-कथा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

भागवत-माहात्म्य

ज्ञान और वैराग्य का क्लेश-अपहरण

जिस समय शुकदेवजी का यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था, उन्हें संन्यास लेने के लिए घर से जाते देख उनके पिता, व्यासजी महाराज, पुत्र-विरह से कातर हो पुकारने लगे—"तुम कहाँ जा रहे हो बेटा ?" किन्तु शुकदेवजी कोई उत्तर नहीं दे सके, क्योंकि वे परमज्ञान में पूर्ण तन्मय थे। ऐसे सर्वभूतहृदय भगवत्स्वरूप श्रीशुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ।

एक बार मुनिवर शौनकजी ने नैमिषारण्यक्षेत्र में महामति सूतजी से पूछा—"भक्ति और वैराग्य से प्राप्त विवेक द्वारा लोग किस प्रकार इस माया-मोह से अपना पीछा छुड़ा सकते हैं ? कलि-काल में जीव प्रायः आसुरी स्वभाव के हो गये हैं, इन भ्रान्त जीवों को परिशुद्ध बनाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"शौनक ! मैं तुम्हें सम्पूर्ण सिद्धान्तों का सार-तत्त्व सुनाता हूँ। मनुष्य के जन्म-जन्मान्तर के पुण्य के उदय से ही उसे भागवत-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त होता है। जब शुकदेवजी राजा परीक्षित को यह कथा सुनाने के लिए सभा में विराजमान हुए, तब देवता उनके पास अमृत का कलश लेकर आये और उन्होंने कहा—"आप कृपया यह अमृत-कलश लेकर बदले में हमें श्रीमद्भा-गवत-कथामृत का दान दीजिए।" परन्तु शुकदेवजी ने उन्हें भक्ति-शून्य जानकर इस कथामृत का दान नहीं दिया। इस प्रकार यह श्री-

भक्ति ही मोक्ष को देने वाली है। जिनके हृदय में भगवती भक्ति का निवास है, उन्हें प्रेत, पिशाच, राक्षस या दैत्य स्पर्श भी नहीं कर सकते। भगवान तप, वेदाध्ययन, ज्ञान और कर्म आदि किसी भी साधन से वश में नहीं किये जा सकते ; वे केवल भक्ति से ही वश में होते हैं। पूर्वकाल में भक्त का तिरस्कार करनेवाले दुर्वासा ऋषि को भी बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था। व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ और ज्ञानचर्चा आदि बहुत से साधनों की कोई आवश्यकता नहीं, एक-मात्र भक्ति ही मुक्ति देनेवाली है, यह विद्वानों का निर्णय है।"

यह सुनकर 'भक्ति' ने नारदजी से कहा—"देवर्षे ! आप धन्य हैं। आपकी मुझमें निश्चल प्रीति है। कृपया मेरे पुत्रों को जरा और रोग से छुड़ा दीजिए।" नारदजी करुणा से विगलित हो गए। उन्होंने वेद और गीता की ध्वनि से उन्हें चैतन्य करने का यत्न किया ; किंतु अति अस्वस्थ होने के कारण वे नेत्र भी न खोल सके। उनकी ऐसी अवस्था देख नारदजी को बड़ी चिंता हुई कि 'इनकी यह दशा कैसे दूर हो ?' उसी समय आकाशवाणी हुई—"मुनि ! खेद मत करो, तुम्हारा यह उद्योग निस्संदेह सफल होगा। इसके लिए तुम एक सत्कर्म करो।"

पर सत्कर्म शब्द का आशय नारदजी की समझ में नहीं आया। वैराग्य और ज्ञान को वहीं छोड़, वे वहां से चल पड़े और एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाकर वहां मिलनेवाले मुनियों से वह साधन पूछने लगे। उनकी उस बात को सुन तो सब लेते ; किंतु निश्चयात्मक उत्तर कोई भी नहीं देता था। इससे नारदजी बहुत चिन्तातुर हुए और उन्होंने तप करने का निश्चय किया। इसी समय उन्हें सनकादि मुनीश्वर दिखाई दिये। नारदजी ने उनसे कहा—"महात्माओ ! आप सभी महान योगी, बुद्धिमान और विद्वान हैं तथा निरन्तर हरिकीर्तन में तल्लीन रहते हैं। 'श्रीहरिः शरणम्' का मंत्र सदैव आपके मुख में रहता है। कृपाकर बतलाइये कि आकाश-

वाणी ने मुझे कौन-सा सत्कर्म करने को कहा है और उसका कौन-सा साधन है ? मुझे किस प्रकार उसका अनुष्ठान करना चाहिए ? भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की किस व्यवस्था से सुख-लाभ हो सकता है ?"

सनकादि ऋषियों ने कहा—"देवर्षे ! चिन्ता न करें। ऋषियों ने संसार को अनेक पथ दिखाये हैं ; किन्तु वे सभी कष्टसाध्य हैं। द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ और ज्ञानयज्ञ—ये सब तो स्वर्गादि की प्राप्ति करानेवाले कर्म की ही ओर संकेत करते हैं। किंतु पंडितों ने भक्ति-यज्ञ को ही सर्वश्रेष्ठ सत्कर्म (मुक्तिदायक) माना है। श्रीमद्-भागवत की महाध्वनि सुनने मात्र से ही कलियुग-जनित सारे दोष नष्ट हो जाते हैं।"

नारदजी ने शंका की कि जब उस कथा के प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक पद में वेदों का ही सारांश है तो वे श्रीमद्भागवत सुनने से कैसे क्लेश-मुक्त हो सकेंगे ? इसपर सनकादि ने कहा-"श्रीमद्-भागवत की कथा वेदों और उपनिषदों के सार-तत्व से बनी है और उनका निष्कर्ष होने के फलस्वरूप वह अत्युत्तम है। जैसे दूध में घृत और ईख में खांड व्याप्त हैं, किन्तु जबतक उन्हें अलग न कर दिया जाय, तबतक उनका स्वाद नहीं मिलता। ऐसी ही दशा भागवत-शास्त्र की है। भगवान व्यासदेव ने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की संस्थापना के लिए ही इसे वेदों के सार के रूप में प्रकाशित किया है। श्रद्धापूर्वक एकाग्रचित्त होकर इसके श्रवणमात्र से मुक्ति प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ में अठारह सहस्र श्लोक और बारह स्कन्ध हैं तथा श्रीशुकदेव और राजा परीक्षित का संवाद है। बहुत-से शास्त्र और पुराण सुनने से व्यर्थ का भ्रम ही बढ़ता है। मुक्ति देने का हेतु एकमात्र भागवत-शास्त्र ही पर्याप्त है। जिस घर में नित्यप्रति श्रीमद्भागवत की कथा होती है, वह तीर्थरूप हो जाता है और जो लोग उसमें रहते हैं, उनके सारे पाप नष्ट हो

जाते हैं। फल की दृष्टि से इसकी समता गङ्गा, प्रयाग, काशी आदि तीर्थ भी नहीं कर सकते। कलियुग में बहुत दिनों तक चित्त की वृत्तियों को वश में रखना, नियमों में बँधे रहना और किसी पुण्य-कार्य के लिए दीक्षित रहना कठिन है। इसलिए सप्ताह-श्रवण की विधि ही श्रेष्ठ है। जो फल तप, योग और समाधि से भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह सप्ताह-श्रवण से सहज में ही मिल जाता है।"

नारदजी ने सनकादि ऋषियों द्वारा श्रीमद्भागवत का यह माहात्म्य सुनकर 'भक्ति' 'ज्ञान', और 'वैराग्य' का क्लेश दूर करने के लिए भागवत-शास्त्र के श्रवण का निश्चय किया। हरिद्वार के आनन्द नामक सुरम्य धाम पर सनकादि ऋषि महात्मा नारद को श्रीमद्भागवत की महिमा और कथा सुनाने लगे। जिस समय वे सनकादि मुनीश्वर इस प्रकार सप्ताह-श्रवण की महिमा का वर्णन कर रहे थे, उस सभा में एक बड़ा आश्चर्य हुआ। वहां अपने दोनों पुत्रों के साथ 'भक्ति' बार-बार "श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!" का उच्चारण करती हुई अकस्मात् आ पहुँची। यह देख नारदजी ने प्रसन्नतापूर्वक मुनीश्वरों से कहा— "आज सप्ताह-श्रवण की मैंने यह बड़ी अलौकिक महिमा देखी। यहां के दुर्जन और पशु-पक्षी भी निष्पाप हो गये हैं। अब कृपा-कर यह तो बताइये कि इस कथा-रूपी सप्ताह-यज्ञ के द्वारा किस प्रकार के मनुष्य पवित्र हो जाते हैं?"

सनकादि मुनियों ने उत्तर दिया—"जो लोग नित्यप्रति नाना प्रकार के पापकर्म किया करते हैं, वे भी इस कलियुग में सप्ताह-यज्ञ द्वारा पवित्र हो जाते हैं। नारदजी! हम आपको इस विषय का एक प्राचीन इतिहास सुनाते हैं।"

गोकर्ण-धुन्धुकारी की कथा

पूर्वकाल में तुंगभद्रा नदी के तट पर एक अनुपम नगर था। उस नगर में समस्त वेदों का विशेषज्ञ और यज्ञ-कर्म में निपुण आत्मदेव

नाम का एक ब्राह्मण रहता था। धनी होने पर भी वह भिक्षा-जीवी था। उसकी पत्नी धुन्धुली कुलीन किन्तु अपनी बात पर अड़ जानेवाली थी। उसे दूसरों की चर्चा करने में सुख मिलता था। ब्राह्मण-दम्पति सुख से अपने घर में रहते थे। किसी भी वस्तु की कमी न होने पर भी उन्हें सन्तान के अभाव से मानसिक सुख नहीं था। इसके लिए उन्होंने अनेक पुण्य-कर्म किये, आधा धन धर्म-मार्ग में व्यय कर दिया ; पर संतान-प्राप्ति नहीं हुई। एक दिन वह ब्राह्मण बहुत दुखी होकर घर छोड़ बन को चल दिया। संतान के अभाव ने उसके शरीर को सुखा दिया था। उसे राह में एक महात्मा मिले। उन्हें नमस्कार कर वह आहभरी सांसें लेता हुआ खड़ा हो गया। संन्यासी ने पूछा—"ब्राह्मण देवता ! इतने दुखी क्यों हो ?" ब्राह्मण ने कहा—"महाराज ! संतान के बिना मुझे सब कुछ सूना-ही-सूना दिखाई देता है।" और फूट-फूटकर रोने लगा।

वह महात्मा योगनिष्ठ थे। उन्होंने सारा वृत्तान्त जान लिया और कहा—"ब्राह्मण देवता ! कर्म की गति प्रबल है। विवेक का आश्रय लेकर संसार की वासना छोड़ दो। सात जन्म तक तुम्हारे कोई संतान नहीं हो सकती।" ब्राह्मण ने कहा—"मुझे किसी भी यत्न से पुत्र दीजिये ही; नहीं तो आपके सामने मैं प्राण त्यागता हूँ।" तपोधन ने कहा—"विधाता के अमिट लेख को मिटाने का हठ करने के कारण राजा चित्रकेतु को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था।" लेकिन जब उस महात्मा ने देखा कि वह किसी भी प्रकार अपना आग्रह नहीं छोड़ता, तब उन्होंने उसे एक फल देकर कहा, "इसे तुम अपनी पत्नी को खिला देना। तुम्हारी स्त्री को एक वर्ष तक सत्य, शौच, दया, दान और एक समय एक ही अन्न खाने का व्रत रखना चाहिए। यदि वह ऐसा करेगी तो शुद्ध स्वभाववाला उसके एक पुत्र अवश्य होगा।"

यह दशा कैसे हुई ? गोकर्ण के यह पूछने पर वह जोर-जोर से रोने लगा और बोला, "मैं तेरा भाई हूं। मेरे कुकर्मों की गिनती नहीं की जा सकती। इसीसे अब प्रेतयोनि में यह दुर्दशा भोग रहा हूँ। अब किसी प्रकार मुझे इस योनि से तू छुड़ा दे।" गोकर्ण ने कहा, "मैंने तुम्हारे लिए विधिपूर्वक गयाजी में पिण्ड-दान किया है, फिर भी तुम प्रेतयोनि से मुक्त कैसे नहीं हुए?" प्रेत ने कहा, "मैंने इतने कुकर्म किये हैं कि सैकड़ों गया-श्राद्ध करने से मेरी मुक्ति होने की नहीं। मेरी मुक्ति का तू कोई और उपाय सोच।" यह सुनकर गोकर्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उससे कहा, "यदि सैकड़ों गयाश्राद्धों से तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती तो फिर कोई दूसरा ही उपाय करूंगा।"

गोकर्ण ने रातभर विचार किया। ज्ञान-प्रकाश पाने के लिए अपने तपोबल से उन्होंने सूर्य की गति को रोक दिया। उन्होंने स्तुति की—"भगवन्! आप सारे संसार के साक्षी हैं। मुझे कृपा कर धुन्धुकारी की मुक्ति का साधन बताइए।" सूर्यदेव ने गोकर्ण से कहा, "श्रीमद्भागवत के सप्ताह-परायण से उसकी मुक्ति हो सकती है।" इसपर गोकर्ण हर्षित हो, कथा सुनाने को तैयार हो गये और कथा कहनी आरम्भ की। सबके साथ वह प्रेत भी कथा सुनने के लिए वहाँ पहुँचा; किन्तु उपयुक्त स्थान न पाकर वह सात गाँठ के एक बाँस के छिद्र में घुसकर कथा सुनने लगा। गोकर्ण ने एक वैष्णव ब्राह्मण को मुख्य श्रोता बनाया था।

सायंकाल को कथा-श्रवण के समय एक विचित्र घटना हुई। श्रोताओं के सामने ही उस बाँस की गाँठ तड़-तड़ शब्द करके फट गई। दूसरे दिन इसी प्रकार दूसरी गाँठ फटी और तीसरे दिन तीसरी। सात दिनों में सातों गाँठों को फोड़कर धुन्धुकारी दिव्यरूप धारण कर सबके सामने आ खड़ा हुआ।

अपने भाई गोकर्ण को प्रणाम कर उसने कहा—"तुमने कृपा कर मुझे आज प्रेत-योनि की यातनाओं से मुक्त कर दिया।"

जिस समय धुन्धुकारी गोकर्ण से बातें कर रहा था, उसके लिए पार्षदों सहित एक विमान उतरा और धुन्धुकारी सब लोगों के सामने ही उस विमान पर चढ़ गया। गोकर्ण ने पार्षदों से पूछा, "यहां तो अनेक शुद्ध हृदय श्रोतागण हैं, उन सबके लिए आप लोग एकसाथ बहुत-से विमान क्यों नहीं लाये? हम देखते हैं कि यहाँ सभी ने भागवत-कथा सुनी है, फिर फल-प्राप्ति में इस प्रकार का भेद क्यों?"

भगवान के सेवकों ने कहा—"हे मानद! इस फल-भेद का कारण इन श्रोताओं के श्रवण का भेद ही है। इस प्रेत ने सात दिन निराहार रहकर कथा का श्रद्धापूर्वक श्रवण किया तथा सुने हुए विषय का स्थिरचित्त से गहरा मनन भी किया है। (जो ज्ञान दृढ़ नहीं होता, वह व्यर्थ ही जाता है। ध्यान न देने से श्रवण का, सन्देह से मन्त्र का और चित्त के इधर-उधर भटकते रहने से जप का कोई फल नहीं होता।) गुरु-वचनों में विश्वास, दीनता का भाव, मन के दोषों पर विजय और कथा में चित्त की एकाग्रता इत्यादि विषयों का पूर्ण पालन किया जाय, तभी कथा-श्रवण का यथार्थ फल मिलता है। यदि ये श्रोता फिर एकाग्रचित्त होकर श्रीमद्भागवत की कथा सुनें तो निश्चय ही इन सबको वैकुण्ठ-धाम की प्राप्ति हो सकती है।"

श्रावण मास में फिर गोकर्ण ने उसी प्रकार सप्ताह-कथा कही। कथा की समाप्ति पर अनेक विमान और भक्तों-सहित भगवान भी प्रकट हुए और उस गाँव के जितने भी जीव थे, सभी गोकर्ण के कथामृत के प्रभाव से विमानों पर चढ़-चढ़ कर भगवत्धाम को प्राप्त हो गए। जिस लोक में सूर्य, चन्द्रमा और सिद्धों का

भी सहज प्रवेश नहीं हो सकता, उसमें वे श्रीमद्भागवत के श्रवण करने से ही सुगमता से चले गये।

इस कथा को कहकर सनकादि मुनियों ने एक सप्ताह तक विधिपूर्वक भागवत-कथा का प्रवचन किया। इसके पश्चात् उन्होंने भगवान पुरुषोत्तम की स्तुति की। कथा के अन्त तक 'भक्ति', 'वैराग्य' और 'ज्ञान' परम स्वस्थ होकर जीवों का चित्त अपनी ओर आकर्षित करने लगे। नारदजी ने भी अत्यन्त अनुगृहीत हो उन मुनीश्वरों से कहा—"मैं श्रीमद्भागवत-श्रवण को सब धर्मों से श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि इससे भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है।"

वैष्णवश्रेष्ठ नारद ऐसा कह ही रहे थे कि वहां घूमते-फिरते योगेश्वर शुकदेवजी भी आ गये। प्रसंगानुसार उन्होंने भी कहा—"भावुक जनो! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्ष का परिपक्व फल है। जब भगवान श्रीकृष्ण इस धराधाम को छोड़कर अपने नित्यधाम को जाने लगे तब अपने भक्तजनों को आश्रय देने के लिए अपनी सारी शक्ति श्रीमद्भागवत-शास्त्र में उन्होंने प्रतिष्ठित कर दी। इसीलिए यह भगवान की साक्षात् शब्दमयी मूर्ति है।"

"शौनकजी! भाद्रपद मास की शुक्ल नवमी से श्रीशुकदेव ने राजा परीक्षित को, आषाढ़ मास की शुक्ला नवमी से गोकर्ण ने धुन्धुकारी को और कार्तिक शुक्ला नवमी से सनकादि ने नारदजी को यह कथा सुनानी आरम्भ की थी।"

●

प्रथम स्कन्ध

भगवान के अवतारों का वर्णन

मंगलाचरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥१॥
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥२॥
निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥३॥

एक बार शौनकादि ऋषियों ने भगवत्-प्राप्ति की इच्छा से पुण्यक्षेत्र नैमिषारण्य में एक महायज्ञ का अनुष्ठान किया। एक दिन उन्होंने सूतजी का विधिवत् पूजनकर उनसे पूछा—"सूतजी! आप तो सब धर्मों के ज्ञाता हैं, कृपाकर यह बतलाइये कि जीवों के परम कल्याण का सहज साधन कौन-सा है? भगवान श्रीकृष्ण किस इच्छा से इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे? योगेश्वर श्रीकृष्ण के नित्यधाम को सिधार जाने पर धर्म ने किसकी शरण ली है? भगवान का अवतार जीवों के परम कल्याण के लिए ही होता है।

आप उनकी मंगलमयी अवतार-कथाओं का वर्णन कीजिए।"

इन प्रश्नों से रोमहर्षण के पुत्र सूतजी को बड़ा ही आनंद हुआ। वे बोले—"ऋषियो! मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान श्रीकृष्ण के प्रति हृदय में भक्ति अंकुरित हो। भक्ति के अंकुरित होते ही निष्काम ज्ञान और वैराग्य प्रकट हो जाता है। श्रद्धालु मुनिजन भागवत्-श्रवण से प्राप्त ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्ति से अपने हृदय में उस परमतत्व परमात्मा का साक्षात् अनुभव करते हैं। इसलिए एकाग्रमन से भक्तवत्सल भगवान का ही नित्य निरंतर श्रवण, कीर्तन, ध्यान और आराधन करना चाहिए। पवित्र तीर्थों का सेवन करने से महत्सेवा, श्रवण-इच्छा, श्रद्धा और भगवत्कथा में रुचि उत्पन्न होती है। श्रीकृष्ण के विशद यश का श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करनेवाले हैं। जब श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्ति के सेवन से अशुभ वासनाएं नष्ट हो जाती हैं, तब भगवान के प्रति स्थायी प्रेम की प्राप्ति होती है। भगवान की भक्ति से जब संसार की समस्त आसक्तियां नष्ट हो जाती हैं, तब हृदय आनंद से भर जाता है और भगवान के तत्व का स्वतः अनुभव होने लगता है।

"प्रकृति के सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। अद्वैत परमात्मा ने ही इस संसार की स्थिति, उत्पत्ति और विनाश के तीनों गुणों को स्वीकार कर विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र ये तीन नाम ग्रहण किये हैं। तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्वगुण श्रेष्ठ है। प्राचीन युग में महात्मा लोग अपने कल्याण के लिए विशुद्ध सत्वमय भगवान विष्णु की आराधना किया करते थे। वेदों का तात्पर्य एवं योग-यज्ञादि समस्त कार्यों के ध्येय श्रीकृष्ण ही हैं। ज्ञान से ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण की ही प्राप्ति होती है; तपस्या श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही की जाती है; श्रीकृष्ण के लिए समस्त धर्मों का अनुष्ठान होता है और सभी गतियां श्रीकृष्ण में ही अंततः

विलीन हो जाती हैं। यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति और उसके गुणों से अतीत हैं, फिर भी अपनी गुणमयी माया से उन्होंने ही संसार की रचना की है। ये सत्व, रज और तम तीनों गुण उसी माया के विलास हैं। आत्मरूप भगवान तो एक ही हैं; पर प्राणियों की भावना से अनेक-जैसे लगते हैं।

"सृष्टि के आदि में भगवान ने लोकों के निर्माण की इच्छा की और पुरुषरूप ग्रहण किया। उसमें दस इंद्रियां, एक मन और पांच भूत ये सोलह कलाएं थीं। उन्होंने कारण-जल में शयन करते हुए जब योगनिद्रा का विकास किया, तब उनके नाभि-सरोवर से एक कमल प्रकट हुआ और उस कमल से प्रजापतियों के अधिपति ब्रह्मा उत्पन्न हुए। भगवान के उस विराट् रूप के अंग-प्रत्यंग में ही समस्त लोकों की कल्पना की गई है और वही भगवान का विशुद्ध सत्वमय स्वरूप है।

"प्रभु ने पहले कौमारसर्ग में सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार ऋषियों (ब्राह्मणों) के रूप में अवतार लेकर अत्यन्त कठिन अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया। दूसरी बार रसातल में धंसी हुई पृथ्वी को निकाल लाने के विचार से शूकर-रूप ग्रहण किया। नारद के रूप में उन्होंने तीसरा अवतार लेकर मुक्तिदायक कर्मयोग का उपदेश किया और नर-नारायण के रूप में चौथा अवतार लिया। पाँचवें अवतार में वे सिद्धों के स्वामी कपिल के रूप में प्रकट हुए और तत्वों का निर्णय करनेवाले सांख्यशास्त्र का उपदेश किया। अनसूया के वर मांगने पर छठे अवतार में वे अत्रि के संतान दत्तात्रेय हुए। सातवीं बार रुचि प्रजापति की आकूती नाम की पत्नी से यज्ञ के रूप में उन्होंने अवतार ग्रहण किया। राजा नाभि की पत्नी मेरू देवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान ने आठवां अवतार लिया। नवीं बार वे राजा पृथु के रूप में अवतीर्ण हुए। इस अवतार में

उन्होंने पृथ्वी से समस्त औषधियों का दोहन किया। मत्स्य के रूप में उनका दसवां अवतार हुआ। ग्यारहवें अवतार में कच्छप-रूप में भगवान ने मंदराचल को अपनी पीठ पर धारण किया। बारहवीं बार धन्वंतरि के रूप में अमृत-कलश लेकर समुद्र से वे प्रकट हुए और तेरहवीं बार मोहिनी-रूप धारण कर दैत्यों को मोहित करते हुए देवताओं को अमृत पिलाया। चौदहवें अवतार में उन्होंने नरसिंहरूप धारण कर दैत्यराज हिरण्यकशिपु की छाती अपने नखों से फाड़ डाली। पंद्रहवीं बार वामनरूप धारण कर बलि से केवल तीन पग पृथ्वी मांगी। सोलहवें अवतार में परशुराम और सत्रहवें में वे श्रीव्यास के रूप में अवतीर्ण हुए। अठारहवें बार रामावतार ग्रहण कर सेतु-बंधन आदि वीरतापूर्ण लीलाएं कीं। उन्नीसवें और बीसवें अवतारों में उन्होंने यदुवंश में बलराम और श्रीकृष्ण के नाम से प्रकट होकर पृथ्वी का भार उतारा। कलियुग में भगवान विष्णुयश नाम के ब्राह्मण के घर कल्किरूप में अवतीर्ण होंगे

"इस स्थूल रूप से परे भगवान का एक सूक्ष्म अव्यक्तरूप भी है। न तो स्थूल की तरह यह आकारादि गुणोंवाला है और न देखने-सुनने में ही आ सकता है। आत्मा का प्रवेश होने से यही जीव कहलाता है और इसीका बार-बार जन्म-मरण होता है। जिस समय परमेश्वर की माया निवृत्त हो जाती है, जीव परमानंदमय हो जाता है। वास्तव में जिनके जन्म-कर्म नहीं है उन हृदयेश्वर भगवान के जन्म और कर्मों का वर्णन तत्वज्ञानी जन इसी प्रकार करते हैं। वे लीला से ही इस संसार का सृजन, पालन और संहार करते हैं; किंतु उनमें आसक्त नहीं होते। भगवान चक्रपाणि की शक्ति और पराक्रम अनंत हैं। वे सारे जगत् के स्रष्टा होने पर भी उससे सर्वथा परे हैं।"

व्यास-नारद संवाद

शौनकजी ने प्रश्न किया—"सूतजी! तत्वज्ञानी परन्तु जड़ के समान विचरते रहनेवाले शुकदेवजी को हस्तिनापुर के नगरवासियों ने कैसे पहचाना तथा राजा परीक्षित का इनके साथ समागम कैसे हुआ, जिससे यह भागवत-संहिता कही गई? राजा परीक्षित भगवान के बडे भक्त थे। वे किस कारण गंगातट पर आमरण अनशन-व्रत लेकर बैठे थे? उनके जन्म और कर्मों का भी वर्णन कीजिए।"

सूतजी ने कहा—"द्वापरयुग में महर्षि व्यास का जन्म हुआ था। वे त्रिकालदर्शी थे। सब मनुष्यों के हितार्थ उन्होंने वेद के चार विभाग किये। व्यासजी ने अनेक पुराण, महाभारत, इतिहास आदि की भी रचना की; किंतु इससे उनके चित्त को शांति नहीं मिली। इस उधेड़बुन में वे पड़े ही थे कि उनके स्थान पर विचरते हुए नारद पहुँचे। उनको चिंताकुल देखकर नारदजी ने पूछा—'महाभाग व्यास! आपके धर्मशास्त्रों की रचना बड़ी अद्भुत है। ब्रह्मतत्व का भी आपने खूब मन्थन किया है। फिर अकृतार्थ पुरुषों के समान अपने लिए आप ऐसा मनःशोक क्यों कर रहे हैं?' व्यासजी ने कहा—'आपने जो-कुछ कहा, सब ठीक ही है। वैसा होने पर भी मेरे हृदय में शांति नहीं है, इसका कारण मैं आपसे ही पूछता हूँ। योगानुष्ठान और नियमों के द्वारा परमतत्व की प्राप्ति कर लेने पर भी मुझमें जो बड़ी कमी है, उसे आप ही कृपा करके बतलाइये, क्योंकि आप योगबल से अन्तःकरण के भाव जानने-वाले हैं।'

नारदजी ने कहा—'आपने भगवान के निर्मल यश का गान नहीं किया। वह शास्त्र या ज्ञान अधूरा है, जिससे भगवान संतुष्ट नहीं होते। अन्यान्य तत्वों का निरूपण करते हुए भी आपने भगवान श्रीकृष्ण की महिमा का निरूपण नहीं किया है। मोक्ष की

प्राप्ति का साक्षात् साधन, निर्मल ज्ञान भी, यदि भगवान की भक्ति से रहित हो तो उसकी विशेष शोभा नहीं होती। बिरले विचारवान ज्ञानी पुरुष ही संसार से निवृत्त होकर परमानन्द का अनुभव कर सकते हैं। अतः आप पारमार्थिक बुद्धि से रहित सामान्य जनों के लिए भगवान की कल्याणकारी लीलाओं का वर्णन कीजिए। जो भगवद्भजन कर केवल स्वधर्म-पालन करते हैं, उन्हें कौनसा लाभ मिलता है? विषयसुख तो कर्म के फल के रूप में सबको सर्वत्र स्वतः मिल जाते हैं; किंतु भगवान श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों का सेवक जन्म-मृत्युशील संसार में नहीं आता। विद्वानों ने इस बात का निरूपण किया है कि मनुष्य की तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दान का एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्यकीर्ति श्रीकृष्ण के गुणों और लीलाओं का वर्णन किया जाय।

'पूर्व जीवन में मैं वेदवादी ब्राह्मणों की एक दासी का लड़का था। कुछ योगी वर्षा ऋतु में एक स्थान पर चातुर्मास्य कर रहे थे। बचपन में ही मैं उनकी सेवा में लगा दिया गया। मेरे शील-स्वभाव को देखकर मुनियों ने मुझपर अत्यन्त अनुग्रह किया। उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया और भजन-पूजन में मेरी अभिरुचि बढ़ गई। मैं प्रतिदिन श्रीकृष्ण की मनोहर कथाएं सुना करता। श्रद्धापूर्वक सुनते-सुनते भगवत्-कथा में मेरी प्रीति हो गई। वर्षा और शरद् ऋतुओं में उन महात्माओं ने श्रीहरि के निर्मल यश का संकीर्तन किया और मैं प्रत्येक पद प्रेम से सुनता रहा। अब चित्त के रजोगुण और तमोगुण को नाश करनेवाली भक्ति मेरे हृदय में प्रकट हो गई। उन दीनवत्सल महात्माओं ने जाते समय कृपा कर मुझे उस गुह्यतम ज्ञान का उपदेश किया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से किया है। व्यासजी! पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण के प्रति समस्त कर्मों को

समर्पित कर देना ही संसार के तीनों तापों की एकमात्र औषधि है। इस लोक में जो कर्म भगवान के प्रीत्यर्थ किये जाते हैं, उन्हीं से भक्तियुक्त परम ज्ञान प्राप्त होता है। आप भगवान की प्रेम-रसमयी लीलाओं का वर्णन कीजिए। शांति प्राप्त करने के लिए इससे अच्छा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।'

व्यासजी ने पुनः पूछा—'देवर्षे! जब आपको ज्ञानोपदेश करनेवाले महात्मागण चले गये, तब आपने क्या किया?'

नारदजी ने कहा—'मेरी मां ने मुझे अपने स्नेहपाश में जकड़ रक्खा था। अतः कुछ काल तक तो मैं ब्राह्मण-बस्ती में ही रहा; पर एक रात मेरी मां को सांप ने डँस लिया और वह सदा के लिए चल बसी। मैंने इसे भगवान का एक अनुग्रह ही समझा और इसके बाद मैं उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। चलते-चलते मैं एक घोर गहन जंगल में जा पहुँचा। वहां एक नदी में स्नानादि से निवृत्त होकर तट के एक पीपल के पेड़ के नीचे आसन लगाकर मैं बैठ गया और मन-ही-मन उस घट-घटवासी परमात्मा का ध्यान करने लगा। भगवत्प्राप्ति की उत्टक लालसा से मेरे नेत्रों में आँसू छलछला आये और मेरे भक्तिपूर्ण हृदय में भक्तवत्सल भगवान का आविर्भाव हुआ। भगवान का वह अनिर्वचनीय रूप समस्त शोकों का नाश करनेवाला, अत्यन्त लुभावना था। मेरे रोम-रोम पुलकित हो उठे और मैं प्रेम में ऐसा डूब गया कि मुझे देह का कुछ भी भान न रहा।

'सहसा उस मनोहर रूप को न देख मैं अत्यन्त विरहातुर हो उठा। मेरी आतुरता देख मेरे शोक को शमन करते हुए मधुर वाणी से भगवान ने कहा—'खेद है, इस जन्म में तू मेरा दर्शन नहीं कर सकेगा। जिनकी वासनाएं पूरी तरह से शांत नहीं हो गई हैं, उन अधकचरे योगियों को मेरा दर्शन अत्यंत दुर्लभ है। निष्पाप बालक! उस आकांक्षा को जगाने के लिए ही मैंने

तुझे अपनी एक झलक दिखाई है। मुझे पाने की अभिलाषा से साधक धीरे-धीरे हृदय की सारी वासनाओं को त्याग देता है। अब तू इस प्राकृत-मलिन शरीर को छोड़कर मेरा पार्षद हो जायगा। समस्त सृष्टि का प्रलय हो जाने पर भी मेरी कृपा से तेरी स्मृति बनी रहेगी।'

'भगवान के अनुग्रह से मेरा हृदय परिशुद्ध हो गया और समय पर मेरी देह छूट गई। प्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि की रचना हुई तब मरीचि आदि ऋषियों के साथ मेरा भी जन्म हुआ। तभी से भगवान की कृपा से मैं सब लोगों में बेरोकटोक विचरण किया करता हूँ। मेरे जीवन का व्रत, भगवद्-भजन है और वह अखण्ड रूप से चलता ही रहता है। जिन लोगों का चित्त निरंतर विषय-भोग की कामना से आतुर रहता है, उनके लिए भगवान की लीलाओं का कीर्तन संसार-सागर पार करने का उत्तम साधन है, यह मेरा निज का अनुभव है।'

ऐसा कह त्रितापतप्त जगत् को आनन्दित करनेवाले देवर्षि नारद व्यासजी से बिदा ले परिभ्रमण को चल पड़े।

नारदजी के चले जाने पर व्यास भगवान ने अपने मन को पूर्णतया एकाग्र और निर्मल कर आदिपुरुष परमात्मा और उनकी आश्रित माया का ध्यान किया। भक्ति-योग को ही शान्ति का प्रत्यक्ष साधन समझकर उन्होंने श्रीमद्भागवत की रचना की। इसके श्रवणमात्र से पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण के प्रति परम प्रेममयी भक्ति सिद्ध हो जाती है, जिससे जीव के शोक, मोह और भय सब नष्ट हो जाते हैं। व्यासजी ने इसकी रचना और पुनरावृत्ति कर इसे अपने निवृत्ति-परायण पुत्र शुकदेव को पढ़ाया।

श्री शौनकजी ने शंका की कि शुकदेवजी तो अत्यन्त निवृत्तिपरायण हैं, फिर किसलिए उन्होंने इस विशाल ग्रन्थ का अध्ययन किया?

इसपर सूतजी ने कहा—'जो लोग ज्ञानी हैं और जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गई है, उन्हें भी भगवान के गुण अपनी ओर खींच लेते हैं। इसीसे विवश होकर शुकदेवजी ने इस ग्रन्थ का अध्ययन किया। अब मैं राजर्षि परीक्षित के जन्म, कर्म और मोक्ष आदि की कथाएं कहता हूं, इन्हींसे भगवान श्रीकृष्ण की अनेक कथाएं प्रकट होती हैं।

महाभारत की अंतिम घटनाएं

द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने अपने स्वामी दुर्योधन का प्रिय कार्य समझ, द्रौपदी के सोते हुए पुत्रों के सिर काटकर उसे भेंट किये। यह घटना दुर्योधन को भी अप्रिय लगी। द्रौपदी को अपने पुत्रों का निधन सुनकर अत्यन्त शोक हुआ। अर्जुन ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'मैं उस अधम ब्राह्मण का सिर गाण्डीव धनुष के बाणों से काटकर तुझे भेंट करुँगा।'

बच्चों की हत्या से अश्वत्थामा का मन उद्विग्न हो गया था। जब उसने देखा कि अर्जुन उसकी ओर झपटा आ रहा है तब उसने अपने बचाव का एकमात्र साधन ब्रह्मास्त्र ही समझा। यद्यपि उसके लौटाने की विधि उसे मालूम न थी, फिर भी प्राण संकट में जान, उसने उसी अस्त्र का संधान किया। उसका तेजोमय अमोघ रुप देख, अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति की—

'हे कृष्ण! तुम सच्चिदानन्दस्वरुप परमात्मा हो। तुम्हारी शक्ति अनन्त है और तुम्हीं भक्तों को अभय देनेवाले हो। तुम प्रकृति से परे आदिपुरुष साक्षात् परमेश्वर हो और अपनी चित् शक्ति से त्रिगुणमयी माया को दूर कर, तुम अपने अद्वितीय स्वरुप में स्थित हो। तुम्हारा यह अवतार पृथिवी का भार हरण करने तथा भक्तजनों के निरन्तर ध्यान और स्मरण करने के लिए ही हुआ है। यह भयंकर तेज सब ओर से मेरी ही ओर क्यों

आ रहा है ?'

भगवान ने कहा—'अर्जुन ! यह अश्वत्थामा का चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र है । तुम शस्त्रास्त्र-विद्या में निपुण हो, इसलिए ब्रह्मास्त्र के तेज से ही इस ब्रह्मास्त्र की प्रचंड आग को बुझा दो ।'

अर्जुन ने भगवान की बात सुनकर ब्रह्मास्त्र के निवारण के लिए ब्रह्मास्त्र का ही संधान किया । अब दोनों अस्त्रों की लपटों से प्रजा जलने लगी । लोकों का नाश होते हुए देखकर, भगवान की अनुमति से, अर्जुन ने उन दोनों को ही लौटा लिया । फिर उन्होंने अश्वत्थामा को पकड़कर बाँध लिया । भगवान श्रीकृष्ण ने उससे कहा—'अरे दुष्ट ! धर्मवेत्ता पुरुष असावधान, मतवाले, पागल, सोये हुए और बालक, स्त्री, विवेक-शून्य, शरणागत और भयभीत पुरुष का वध कभी नहीं करते । जो दुष्ट दूसरों को मार कर अपने प्राणों का पोषण करता है, उसका वध ही कल्याणकारी है ।'

यद्यपि अर्जुन के मन में गुरुपुत्र के प्रति दया आई, उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कर उसे शिविर में लेजाकर द्रौपदी को सौंप दिया । गुरुपुत्र का पशु के समान बांधकर लाया जाना सती द्रौपदी को भी अच्छा नहीं लगा । उसने अर्जुन से कहा—'इन्हें आप छोड़ दीजिए । ये हम लोगों के अत्यंत पूजनीय हैं । आर्यपुत्र ! गुरु-वंश की नित्य वंदना और पूजा करनी चाहिए ।' द्रौपदी की बात धर्म और न्याय के अनुकूल थी । वहां पर उपस्थित सभी नर-नारियों एवं युधिष्ठिरादि सभी भाइयों ने द्रौपदी की इस बात की बड़ी सराहना की ; पर भीमसेन ने तो उसका वध ही उचित समझा । इसपर श्रीकृष्ण ने अर्जुन की ओर संकेत करते हुए कहा—'पतित ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए; परंतु आततायी तो सदा ही वध्य है । इसलिए तुम उचित कार्य करो । 'अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बात समझ कर अश्वत्थामा के सिर की मणि उसके बालों के साथ उतार कर उसे मुक्त कर दिया । वह श्रीहीन होकर वहां से चला गया ।

युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, पुत्रशोक से व्याकुल गांधारी, कुन्ती और द्रौपदी आदि सबने गंगा-तट पर जाकर मृत स्वजनों को श्रद्धांजलि दी। श्रीकृष्ण ने उन्हें सांत्वना देते हुए समझाया कि प्राणी-मात्र काल के अधीन हैं। मृत्यु से किसी को कोई बचा नहीं सकता। कुछ काल बाद पाण्डवों से विदा लेकर, सात्यकी और उद्धव के साथ जब द्वारिकापुरी पधारने के लिए वे रथ पर सवार हुए तो देखा कि भय से विह्वल अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा दौड़ी आ रही है। उसने अत्यन्त कातर होकर उससे प्रार्थना की—'जगदीश्वर ! सूर्य के समान एक तेज मेरी ओर तीव्र गति से दौड़ा आ रहा है। यह भले ही मुझे जला डाले, पर मेरे गर्भस्थित शिशु का अमंगल न हो। अतः आप कृपाकर मेरी रक्षा कीजिए। भक्तवत्सल भगवान बात सुनते ही समझ गये कि अश्वत्थामा ने पाण्डवों के वंश को निर्बीज करने के विचार से ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने सुदर्शनचक्र से उसकी रक्षा की और उत्तरा के गर्भ को बचा लिया।

इसके बाद वे जब जाने लगे तो कुन्ती ने अपने पुत्रों और द्रौपदी के साथ उनकी स्तुति की—'भगवन् ! आप समस्त जीवों में समानरूप से स्थित हैं, फिर भी इंद्रियों और मन से आप देखने में नहीं आते, क्योंकि प्रकृति से परे आप आदिरूप परमेश्वर हैं। मैं आपको, नमस्कार करती हूँ। मैं अबोध नारी भला पुरुषोत्तम को कैसे जान सकती हूँ ? आपने शुद्ध हृदयवाले विचारशील जीवनमुक्त परमहंसों के हृदय में अपनी प्रेममय परा भक्ति का सृजन करने के लिए ही यह अवतार लिया है। विष से, लाक्षागृह से, हिडिम्ब आदि राक्षसों से और अन्त में अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से आपने हमारी रक्षा की है। जगद्गुरो ! जीवन में पद-पद पर हमें विपत्तियां आती रहें, क्योंकि विपत्तियों में ही आपके दर्शन हुआ करते हैं। आप निर्धन के धन हैं, कैवल्य मोक्ष भी

आपके अधीन हैं। मैं आपको अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सर्व-नियन्ता और कालरूप परमेश्वर समझती हूँ। न आप जन्म लेते हैं, न कर्म करते हैं। आपके बिना यदुवंशियों और हमारे पुत्र पाण्डवों का अस्तित्व ही क्या रह जाता है ? आपकी शक्ति अनन्त है। योगेश्वर ! मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ।'

महाराजा युधिष्ठिर को अपने भाई-बन्धुओं के मारे जाने का बड़ा शोक हो रहा था। श्रीकृष्ण ने समझाने की बहुत चेष्टा की; परन्तु उन्हें सांत्वना नहीं मिली। तब उन्होंने सब धर्मों की ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से कुरुक्षेत्र की, जहां भीष्म पितामह शरशय्या पर पड़े हुए थे, यात्रा की। अर्जुन के साथ भगवान श्रीकृष्ण भी रथ पर चढ़ कर चले। वहां पाण्डवों ने देखा कि भीष्म पितामह स्वर्ग से गिरे हुए देवता के समान पृथिवी पर पड़े हुए हैं। उन लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। भीष्म पितामह को देखने के लिए ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि आदि सभी वहां आये थे। भीष्म पितामह समयानुकूल कार्य करना जानते थे। उन्होंने वहां उन सब ऋषियों का यथायोग्य सत्कार किया। भगवान श्रीकृष्ण का प्रभाव तो उन्हें ज्ञात था ही, अतः उनकी उन्होंने हृदय से पूजा की। पांडव वहां बड़ी विनय और श्रद्धा-भक्ति से भीष्मपितामह के पास बैठ गये।

भीष्मपितामह की आँखें प्रेम के आंसुओं से भर आईं। उन्होंने पाण्डवों से कहा—'धर्मपुत्रो ! ब्राह्मण, धर्म और भगवान के आश्रित होने पर भी तुम लोगों को अत्यंत कष्ट उठाना पड़ा। जिस प्रकार बादल वायु के वश में होते हैं, वैसे ही सारा संसार काल भगवान के अधीन है। ये जो अप्रिय घटनाएं घटी हैं सब भगवान की ही लीला है। कालरूप भगवान कब क्या करना चाहते हैं, इसे कोई नहीं जानता। युधिष्ठिर ! संसार की सभी घटनाएं ईश्वरेच्छा के अधीन हैं। यह श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान, सबके आदिकारण और परमपुरुष नारायण हैं। सर्वत्र सम होने पर भी यह अपने

अत्यंत प्रेमी भक्तों पर विशेष कृपा करते हैं। यही कारण है कि ऐसे समय जब कि मैं अपने प्राणों का त्याग करने जा रहा हूँ, इन्होंने मुझे अपना साक्षात् दर्शन दिया।'

युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से विविध धर्मों के विषय में अनेक प्रश्न किये। तत्ववेत्ता पितामह ने भी, वर्ण और आश्रम के अनुसार, पुरुष के स्वाभाविक धर्म, वैराग्य, निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग, दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म और भागवत्धर्म की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्याख्या की। वे इस प्रकार धर्मों की व्याख्या कर ही रहे थे कि उत्तरायण का समय आ पहुँचा। अतः भीष्म पितामह ने अपनी मन की वृत्तियों को आदिपुरुष भगवान श्रीकृष्ण में लगा कर बड़े प्रेम से उनकी स्तुति की—'भगवन्! मृत्यु के समय मैं अपनी यह बुद्धि आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं श्रीकृष्ण को शस्त्र ग्रहण कराकर छोड़ूँगा, उसे सत्य करने के लिए आपने अपनी, शस्त्र-ग्रहण न करने की, प्रतिज्ञा भी भंग कर डाली। उन्हीं पार्थ-सारथि भगवान श्रीकृष्ण में मेरी परम प्रीति हो।' ऐसा कह भीष्म पितामह ने भगवान में अपने आपको लीन कर दिया। युधिष्ठिर उनके मृत शरीर की अन्त्येष्टि-क्रिया कर श्रीकृष्ण के साथ हस्तिनापुर चले आये। वहाँ चाचा धृतराष्ट्र और माता गांधारी को उन्होंने ढाढ़स बँधाया। इसके बाद श्रीकृष्ण की अनुमति से वे साम्राज्य का धर्मपूर्वक शासन करने लगे।

भगवान श्रीहरि युधिष्ठिर को राज-सिंहासन पर बैठाकर बहुत प्रसन्न हुए। भीष्म पितामह और भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों के श्रवण से युधिष्ठिर के अन्तःकरण की भ्रांति मिट गई थी। उनके सुशासन से प्रजा सुखी थी और देश धनधान्य से पूर्ण था। श्रीकृष्ण ने कई महीनों तक हस्तिनापुर में रहने के बाद महाराजा युधिष्ठिर से द्वारका जाने की इच्छा प्रकट की। सुभद्रा, कुन्ती, द्रौपदी, उत्तरा, गांधारी, धृतराष्ट्र, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव और

भीमसेन आदि भगवान श्रीकृष्ण का भावी वियोग नहीं सह सके। कठिनाई से उन्होंने अपने आँसुओं को रोका। अर्जुन, उद्धव और सात्यकी के साथ भगवान ने हस्तिनापुर से प्रस्थान किया। मार्ग में कुलवती स्त्रियां आपस में कह रही थीं—'सखियो ! यह वे ही सनातन परमपुरुष हैं, जो प्रलय के समय भी अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। उस समय सृष्टि के मूल तीन गुण भी नहीं रहते और जगदात्मा परमेश्वर में सब लीन हो जाते हैं। यह श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। वास्तव में, इन्हीं की भक्ति से अंतःकरण की पूर्ण शुद्धि हो सकती है। यह अपनी लीला से जगत् की सृष्टि, पालन तथा संहार करते हैं; पर उसमें आसक्त नहीं होते।'

परीक्षित का जन्म और पाण्डवों का महाप्रस्थान

शौनकजी ने सूतजी से पूछा, 'ऋषिवर ! हम लोग उत्तरा के सुपुत्र महाज्ञानी महात्मा परीक्षित के जन्म-कर्मादि की कथा सुनना चाहते हैं। कृपा कर आप हमें कृतार्थ करें।'

सूतजी ने कहा—'उत्तरा के गर्भ में स्थित शिशु परीक्षित जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के तेज से जलने लगा, तब उसने देखा कि एक ज्योतिर्मय पुरुष उसके सामने खड़ा है। वह देखने में तो अँगूठे भर का है, परन्तु उसका स्वरूप अत्यंत निर्मल है। उसका अति सुन्दर श्याम शरीर है और पीताम्बर धारण किये वह उस गर्भ के चारों ओर घूम रहा है। एक गदा के द्वारा ब्रह्मास्त्र के तेज को वह शान्त करता जा रहा है। इस प्रकार शिशु के सामने ही भगवान श्रीकृष्ण ब्रह्मास्त्र के तेज को शान्त कर अन्तर्धान हो गये। शुभ समय में पांडु के वंशधर परीक्षित का जन्म हुआ।

पौत्र के जन्म से युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्राह्मणों को सुवर्ण, गौएं, पृथिवी और उत्तम धान्यादि दान दिये। ब्राह्मणों ने भी सन्तुष्ट होकर युधिष्ठिर से कहा कि 'यह बालक बड़ा यशस्वी,

भगवान का भक्त और एक महापुरुष होगा। धर्मराज ! यह भगवान श्रीराम के समान ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ होगा। यह शिवि के समान दानी तथा भक्तवत्सल और दुष्यंत के पुत्र भरत के समान अपने वंश का यश फैलानेवाला होगा। धनुर्धरों में यह सहस्रबाहु और अपने दादा पार्थ के तुल्य होगा। भगवान शंकर-जैसा कृपालु और आश्रय-स्थान देने में यह विष्णु के समान होगा। यह कृष्ण का अनुयायी ययाति के समान धार्मिक, धैर्य में बलि के समान और भगवान के प्रति दृढ़ निष्ठा में प्रह्लाद के समान होगा। ब्राह्मणकुमार के शाप से तक्षक दंश से अपनी मृत्यु सुनकर यह, समस्त आसक्ति छोड़, भगवान के चरणों की शरण लेगा। अन्त में परमहंस शुकदेव से आत्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त कर गंगा के तट पर प्राण त्याग कर यह मोक्ष-लाभ करेगा। ज्योतिषशास्त्र के विशेषज्ञ ब्राह्मण इस प्रकार बालक के जन्म-लग्न-फल बनाकर चले गये। यही बालक परीक्षित के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह गर्भ में जिस परात्पर पुरुष का दर्शन पा चुका था, उसका स्मरण करता हुआ, उसीको सदा खोजा करता था। गुरुजनों के लाड़-प्यार से यह शीघ्र ही सयाना हो गया।

स्वजनों के वध का प्रायश्चित्त करने के विचार से युधिष्ठिर ने, तीन अश्वमेध-यज्ञ कर भगवान की अराधना की। भगवान श्रीकृष्ण इन यज्ञों में स्वयं उपस्थित रहे। कई मास हस्तिनापुर में रहकर वे पुनः अर्जुन के साथ द्वारका चले गये। कुछ समय बाद महाभाग विदुर तीर्थयात्रा करते हुए महर्षि मैत्रेय से आत्मज्ञान प्राप्त कर हस्तिनापुर लौट आये। चाचा विदुर को देखकर सबके नेत्रों से प्रेम के आँसू बहने लगे। युधिष्ठिर ने सबके साथ उनका बड़ी विनम्रता से सत्कार किया और उनसे प्रेमपूर्वक पूछा—'तात ! पृथ्वी पर विचरण करते समय किस वृत्ति से आपने जीवन-निर्वाह

किया ? आपने किन-किन तीर्थों और क्षेत्रों का सेवन किया ? आप द्वारका भी तो अवश्य गये होंगे ? वहां युदुवंशी आदि सभी स्वजन सुखी तो हैं ?' विदुर ने तीर्थों और यदुवंशियों के विषय में जो कुछ देखा, सुना या अनुभव किया था, सभी कुछ युधिष्ठिर को बतलाया। केवल युदुवंश के विनाश की बात नहीं कही। कुछ दिन विदुर हस्तिनापुर में रहे। पाण्डव, पिता के ही समान उनकी सेवा में तत्पर रहते थे। विदुर साक्षात् धर्मराज थे ; किंतु माण्डव्य ऋषि के शाप से कुछ काल के लिए उन्होंने मृत्युलोक में जन्म लिया था। उन्होंने काल की गति जानकर अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र से कहा—

'महाराज ! देखिये, अब बड़ा कराल समय आ गया है। झट-पट यहां से निकल चलिए। हम सबके सिर पर काल मँड़राने लगा है। इसके टालने का कोई भी उपाय नहीं है। आपकी उम्र भी ढल चुकी है और शरीर बुढ़ापे का शिकार हो गया है। आप पराये घर में पड़े हैं। दुःख है कि प्राणी को जीवित रहने की कितनी प्रबल इच्छा रहती है। इसीलिए तो आप भीम का दिया हुआ टुकड़ा खाकर कुत्ते का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जिनको आपने आग में जलाने की चेष्टा की, विष देकर मार डालना चाहा, भरी सभा में जिनकी धर्म-पत्नी को अपमानित किया और जिनकी भूमि और संपत्ति छीन ली, अब उन्हीं के अन्न से पले हुए प्राणों को पीसने में आपका क्या गौरव है ? यह आपकी प्राणों के प्रति कैसी ममता है ? हद हो गई, आपके अज्ञान की ! अब भी आप जीना चाहते हैं ? पर चाहने से क्या ? आपका यह जीर्ण शरीर आपके न चाहने पर भी क्षीण होता ही जा रहा है। संसार को दुःखरूप समझकर, इससे विरक्त हो, जो भगवच्चरण में अपने हृदय को लीन कर देता है, वही उत्तम पुरुष है। आगे जो समय आनेवाला है, वह मनुष्यों के गुणों को घटानेवाला होगा, इसलिए आप यहां

से निकलकर उत्तराखण्ड में चले जाइये।'

जब छोटे भाई विदुर ने धृतराष्ट्र को इस तरह समझाया तो उनके ज्ञान-चक्षु खुल गए और उन्होंने सम्बन्धियों के स्नेहपाश को काटकर उनके दिखलाये हुए मार्ग का अनुसरण किया। गान्धारी ने भी उनके साथ प्रस्थान किया।

तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने जब उनके राजमहल में प्रवेश किया और उन्हें धृतराष्ट्र, गांधारी और विदुर के दर्शन नहीं हुए, तब उन्होंने संजय से पूछा—'धृतराष्ट्र, माता गांधारी और हमारे परम-हितैषी विदुर कहां चले गये? मेरे किसी अपराध के कारण वे गंगाजी में तो नहीं कूद पड़े?' संजय भी अपने स्वामी धृतराष्ट्र को न पाकर विरहातुर हो रहे थे। उन्होंने कहा—'कुरुनन्दन! मुझे आपके दोनों चाचा और माता गांधारी का कुछ भी पता नहीं है।' इसी बीच देवर्षि नारद वहां आ पहुँचे। महाराज युधिष्ठिर ने उन्हें प्रणाम किया और पूछा—'भगवन, न जाने मेरे दोनों चाचा एवं माता गांधारी कहां चली गईं? आप हमारे परम हितैषी हैं, बतलाइये कि वे कहां चले गये?'

नारदजी ने कहा—'धर्मराज! यह सारा ही संसार ईश्वर के वशीभूत है। तुम किसी के लिए शोक मत करो। भगवान की इच्छा से ही यहां मिलना-बिछुड़ना होता है। तुम देहधारियों को जीव-रूप से नित्य मानो या देहरूप से अनित्य, चैतन्यरूप से नित्य या जड़रूप से अनित्य अथवा शुद्ध ब्रह्मरूप में नित्य-अनित्य कुछ भी मानो—किसी भी अवस्था में मोहजन्य आसक्ति के अतिरिक्त वे शोक के योग्य नहीं हैं। यह पांचभौतिक शरीर काल, कर्म और गुणों के वश में है। इन समस्त जीवों में माया के द्वारा स्वयं प्रकाश भगवान अनेक रूपों से प्रकट हो रहे हैं। तुम केवल उन्हीं को देखो। हिमालय के दक्षिण भाग में जहां सप्तर्षियों की प्रसन्नता के लिए गंगाजी ने, अलग-अलग सात धाराओं के रूप में, अपने

को सात भागों में विभक्त कर दिया है, जिसे सप्तश्रोत भी कहते हैं,—वहीं, ऋषियों के आश्रम पर, धृतराष्ट्र और गान्धारी, विदुर के साथ, चले गये हैं। वहां वे त्रिकाल-स्नान और विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं। अब उनके चित्त में किसी भी प्रकार की कामना नहीं है। वे केवल जल पीकर शान्तचित्त से परमतत्त्व की उपासना करते हैं। उनकी वासनाएं नष्ट हो चुकी हैं। आज से पांचवें दिन वे अपने देह का परित्याग कर देंगे। इसके पश्चात् विदुर भी तीर्थ-सेवन के लिए चले जायंगे।' इतना कह देवर्षि नारद वहां से चले गये।

अर्जुन द्वारका गये हुए थे। कई महीने बीत जाने पर भी वे वहां से लौटकर नहीं आये। इधर धर्मराज युधिष्ठिर को बड़े भयंकर अपशकुन दीखने लगे। उन्होंने भीमसेन से कहा—'भीम! अर्जुन को हमने द्वारका इसलिए भेजा था कि वहां श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं, इसका पता लगा आयें और सम्बन्धियों से मिल भी आयें। सात महीने बीत गये; पर वे अबतक नहीं लौटे, इसका कारण मैं नहीं समझ पा रहा हूं। कहीं देवर्षि नारद द्वारा बतलाया हुआ भगवान श्रीकृष्ण की लीला-समाप्ति का समय तो नहीं आ गया? मेरा हृदय अधीर हो रहा है और तरह-तरह की चिन्ताओं ने मुझे घेर रक्खा है।'

युधिष्ठिर ऐसा कह ही रहे थे कि अर्जुन द्वारका से लौटकर आ गये। उन्होंने देखा कि अर्जुन का शरीर निस्तेज हो रहा है और उनकी आंखों से आँसू बह रहे हैं। युधिष्ठिर ने चिन्तातुर हो उनसे पूछा—'भाई! द्वारकापुरी में यादव सकुशल तो हैं? प्रभु बलराम तो आनन्द से हैं? भगवान श्रीकृष्ण और सभी आत्मीय कुशल से हैं न? तुम स्वयं कुशल से हो न? तुम श्रीहीन से दिखलाई पड़ रहे हो, तुम्हारा किसी ने अपमान तो नहीं किया? मुझे विश्वास है कि तुमने कोई ऐसा निन्दनीय काम नहीं किया होगा, जो तुम्हारे

योग्य न हो। हो न हो, अपने परमप्रिय सुहृद श्रीकृष्ण के विछोह से अपने को तुम शून्य मान रहे हो। इसके सिवा ऐसा कोई दूसरा कारण तो नहीं दीखता, जिससे तुम्हें इतनी मानसिक पीड़ा हो?'

अर्जुन एक तो पहले से ही श्रीकृष्ण के विरह से कृश हो रहे थे, उन्हींके चिन्तन में वे ऐसे डूब रहे थे कि बडे भाई के प्रश्नों का तुरन्त कुछ भी उत्तर न दे सके। भगवान ने उनके साथ जो मित्रता, अभिन्नहृदयता और प्रेम से भरे व्यवहार किये थे, उनकी याद-पर-याद उन्हें रह-रहकर आ रही थी; किन्तु बड़े कष्ट से उन्होंने अपने शोक के वेग को रोका और उत्तर दिया—'महाराज ! आज श्रीकृष्ण से मेरा विछोह हो गया है। मेरे जिस प्रबल पराक्रम की बड़े-बड़े देवता भी आश्चर्य से प्रशंसा किया करते थे, उसे श्रीकृष्ण ने मुझसे छीन लिया। उनके आश्रय से, स्वयम्वर में राजाओं के तेज को हरणकर, मैंने द्रौपदी को प्राप्त किया था। उनके सान्निध्य मात्र से देवताओं सहित इन्द्र को भी जीतकर मैंने खाण्डव-वन अग्निदेव को दान किया और मय दानव की निर्माण की हुई सभा भी प्राप्त की। भीमसेन ने उन्हींकी शक्ति से जरासन्ध का वध किया, जिसकी मृत्यु के पश्चात् बहुत से बन्दी किये गये राजाओं को मुक्त कर दिया गया था। महारानी द्रौपदी कौरवों के अत्याचार से आँसू भरकर जब श्रीकृष्ण के चरणों में गिर पड़ी, तब उन्होंने उसके सामने ही उस घोर अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा कर उन धूर्तों की स्त्रियों की ऐसी दशा कर दी कि वे विधवाएं ही हो गईं। वनवास के समय, हमारे वैरी दुर्योधन के षड् यंत्र से, दस हजार शिष्यों के साथ भोजन करनेवाले महर्षि दुर्वासा ने हमें जब दुस्तर संकट में डाल दिया था, उस समय उन्होंने द्रौपदी के पात्र में बची हुई शाक की एक पत्ती का भोग लगाकर हमारी रक्षा की थी। उनके ऐसा करते ही नदी में स्नान करती हुई मुनि-मंडली को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उनकी तो बात ही क्या, सारा त्रिलोक

ही तृप्त हो गया है। उनके प्रताप से मैंने युद्ध में भगवान शंकर को प्रसन्न कर उनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया। उनकी कृपा से मैं, इसी शरीर से स्वर्ग गया और देवराज इन्द्र की सभा में, उनके बराबर के आसन पर बैठने का, मुझे सम्मान मिला।

महाराज! भीष्म, द्रोण आदि महारथियों से संचालित कौरवों की सेना अजेय थी; परन्तु उनका आश्रय ग्रहण करके, अकेले ही मैंने उसे परास्त कर, राजा विराट् का सारा गोधन उन्हें वापस दिलाया। कुरुक्षेत्र में कौरवों की सेना भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य तथा अन्य वीरों के रथों से शोभित थी। उसके सामने, मेरे आगे-आगे चलकर, वे अपनी दृष्टि से ही उन महारथी यूथपतियों की आयु, मन, उत्साह और बल को हर लिया करते थे। द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, शल्य और जयद्रथ आदि वीरों ने मुझपर अपने अचूक अस्त्र चलाये, किंतु जैसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्यों के अस्त्र-शस्त्र भगवद्-भक्त प्रह्लाद का स्पर्श तक नहीं करते थे, वैसे ही उनके शस्त्र मुझे छू तक न सके। यह सभी श्रीकृष्ण के भुज-दण्डों की छत्रच्छाया में रहने का ही प्रभाव था। श्रेष्ठ पुरुष संसार से मुक्त होने के लिए, जिनके चरणकमलों का सेवन करते हैं और अपने आप तक को जिनके लिए निछावर कर देते हैं, ऐसे भगवान को, मुझ दुर्बुद्धि ने अपना सारथी तक बना डाला। महाराज! जो मेरे हृदय ही थे, उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान से मैं आज विहीन हो गया हूं। श्रीकृष्ण की पत्नियों को मैं द्वारका से अपने साथ ला रहा था; परन्तु मार्ग में दुष्ट भीलों ने मुझे एक अबला की भाँति हरा दिया और मैं उनकी रक्षा न कर सका। वही मेरा गाण्डीव धनुष है; वे ही वाण, वही रथ है, वे ही घोड़े और वही मैं रथी अर्जुन हूँ, परंतु श्रीकृष्ण के बिना ये सब एक ही क्षण में निस्तेज हो गये।

द्वारकावासी, ब्राह्मण के शापवश मोहग्रस्त हो गये और मदिरा-पान से उन्मत्त होकर आपस में ही, एक-दूसरे से भिड़ पड़े

और नष्ट हो गये। उनमें केवल चार-पाँच ही बचे हैं। वास्तव में, यह सर्वशक्तिमान भगवान की ही लीला है। यदुवंशियों से भगवान ने दूसरे राजाओं का संहार कराया। तत्पश्चात् यदुवंशियों से ही यदुवंश का नाश कराकर उन्होंने पूर्ण रूप से पृथिवी का भार उतार दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने मुझे जो शिक्षाएं दी थीं, वे देश, काल और प्रयोजन के अनुकूल तथा हृदय के ताप को शान्त करने वाली थीं। उनका स्मरण आते ही हमारा चित्त विकल हो जाता है।

सूतजी ने कहा—'इस प्रकार प्रगाढ़ प्रेम से भगवान श्रीकृष्ण के चरणारविंदों का चिन्तन करते-करते अर्जुन की चित्तवृत्ति अत्यन्त निर्मल और प्रशान्त हो गई। उन्हें युद्ध के प्रारम्भ में भगवान के द्वारा उपदेश किया हुआ गीता-ज्ञान पुनः स्मरण हो आया। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से माया का आवरण भंग हो जाने के कारण उन्हें गुणातीत अवस्था प्राप्त हो गई। भगवान के स्वधाम-प्रयाण और यदुवंश के संहार का वृत्तान्त सुनकर निश्चलमति युधिष्ठिर ने स्वर्गारोहण का निश्चय किया। कुन्ती ने भी अर्जुन के मुख से यदुवंशियों के विनाश और भगवान के परमधाम-गमन की बात सुनकर संसार से अपना मुंह मोड़ लिया। भगवान श्रीकृष्ण ने जिस दिन अपने मानव-देह का उत्सर्ग कर, इस पृथिवी से प्रयाण किया, उसी दिन यहां कलियुग आ धमका। महाराज युधिष्ठिर से कलियुग का प्रसार छिपा न रहा। उन्होंने देखा कि देश, नगर, घरों और प्राणियों में लोभ, असत्य, छल और हिंसा आदि अधर्मों की वृद्धि हो रही है। तब अपने विनयी पौत्र परीक्षित को हस्तिनापुर के सम्राट्-पद पर अभिषिक्त कर, युधिष्ठिर ने, गृहस्थाश्रम के धर्म से मुक्ति ले, संन्यास ग्रहण किया और घर से वे निकल पड़े। हृदय में परब्रह्म का ध्यान करते हुए उन्होंने उत्तर दिशा की यात्रा की। भीमसेन, अर्जुन

आदि भी श्रीकृष्ण के चरणों की प्राप्ति का निश्चय कर अपने बड़े भाई के पीछे-पीछे चल दिये। पाण्डवों के हृदय में भगवान श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के ध्यान से भक्तिभाव उमड़ आया और उनकी बुद्धि सर्वथा परिशुद्ध हो, भगवान के उस स्वरुप में अनन्यभाव से स्थिर हो गई, जिसे निष्पाप पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। श्रीकृष्ण के प्रेमावेश में मुग्ध संयमशील विदुर ने भी अपने देह को प्रभास-क्षेत्र में त्याग दिया। द्रौपदी भी भगवान श्रीकृष्ण का चिन्तन करती हुई उन्हें ही प्राप्त हो गई।

कलियुग का आगमन और परीक्षित को शाप

पाण्डवों के महाप्रयाण के पश्चात् भगवान के परमभक्त राजा परीक्षित, श्रेष्ठ ब्रह्मणों की शिक्षा के अनुसार, पृथिवी पर शासन करने लगे। उन्होंने उत्तर की पुत्री इरावती से विवाह किया। उससे उनके जन्मेजय आदि चार पुत्र हुए। कृपाचार्य को आचार्य बनाकर उन्होंने गंगा के तट पर तीन अश्वमेध-यज्ञ किये।

जिस समय राजा परीक्षित पृथिवी का शासन कर रहे थे, उन्होंने सुना कि मेरे साम्राज्य में कलियुग का प्रवेश हो गया है। इससे उन्हें थोड़ा दुःख तो अवश्य हुआ; परन्तु यह मान कर कि युद्ध करने का अवसर प्राप्त हुआ वे बहुत अधिक दुखी नहीं हुए। युद्धवीर परीक्षित धनुष हाथ में लेकर रथ पर सवार हो, दिग्विजय के लिए निकल पड़े। उन्हें देश में सर्वत्र अपने पूर्वजों का सुयश सुनने को मिला। उस यशोगान से पद-पद पर भगवान श्रीकृष्ण की महिमा प्रकट होती थी। उन्हें यह भी सुनने को मिला कि श्रीकृष्ण ने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र की ज्वाला से किस प्रकार उनकी रक्षा की थी, यदुवंशियों तथा पाण्डवों में परस्पर कितना प्रेम था तथा पाण्डवों की भगवान श्रीकृष्ण में कितनी प्रगाढ़ भक्ति थी। जो लोग उन्हें यह चरित्र सुनाते, उनपर महामना राजा परीक्षित बहुत

प्रसन्न होते थे। इन राजाओं से परीक्षित की भक्ति-भावनाएं भगवान श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में और भी बढ़ती जाती थीं। वे प्रतिदिन पाण्डवों के आचरणों का अनुसरण करते हुए दिग्विजय करते जा रहे थे।

उन्हीं दिनों उनके शिविर से थोड़ी ही दूर पर एक आश्चर्यजनक घटना घटी। धर्म एक बैल का रूप धारण कर एक पैर से घूम रहा था। एक स्थान पर गाय के रूप में उसे पृथिवी मिली। धर्म पृथिवी से पूछने लगा—'कल्याणि! कुशल से तो हो? तुम्हारा मुख कुछ मलिन हो रहा है। तुम श्रीहीन-सी जान पड़ती हो। मालूम होता है, तुम्हारे हृदय में कुछ-न-कुछ दुःख अवश्य है। कहीं तुम मेरी चिन्ता तो नहीं कर रही हो कि अब इसके तीन पैर टूट गये, केवल एक ही पैर रह गया है? सम्भव है, तुम अपने लिए शोक प्रकट कर रही हो कि अब दुर्जन तुम्हारे ऊपर शासन करेंगे। क्या तुम दुश्चरित्र मनुष्यों द्वारा सताई हुई स्त्रियों के लिए शोक कर रही हो? सम्भव है, कुकर्मियों के चंगुल में पड़े हुए देश के लिए तुम शोक कर रही हो। माँ पृथिवी! अब समझ में आया। हो-न-हो, तुम्हें भगवान श्रीकृष्ण की याद आ रही होगी, क्योंकि वे तुम्हारा भार उतारने के लिए अवतीर्ण हुए थे और ऐसी अनेक लीलाएं उन्होंने की थीं, जिनके श्रवण और मननमात्र से जीव को मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। तुम अपने अंतःक्लेश का कारण मुझे बतलाओ।'

पृथिवी ने कहा—'धर्म! जिन भगवान के सहारे सारे संसार को सुख पहुँचानेवाले अपने चारों चरणों से तुम युक्त थे, उन्हीं समस्त गुणों के आश्रय, सौन्दर्य-धाम भगवान श्रीकृष्ण ने इस लोक से अपनी लीला संवरण कर ली है और यह संसार आज पापमय कलियुग की कुदृष्टि का शिकार हो गया है। यही सब देखकर मुझे भारी शोक हो रहा है।'

धर्म और पृथिवी इस प्रकार आपस में बातचीत कर रहे थे। इसी समय राजर्षि परीक्षित भी पूर्ववाहिनी सरस्वती के तट पर आ पहुँचे। वहाँ एक दिन राजा परीक्षित ने देखा कि एक राजवेष-धारी, हाथ में डण्डा लिये, एक गाय और बैल को बुरी तरह पीटता जा रहा है, जैसे उनका कोई स्वामी ही न हो। गाय उसके पैरों की ठोकरें खाकर अत्यन्त दीन हो रही थी। उसका बछड़ा भी उसके पास नहीं था। वह भूखी थी और उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। राजा परीक्षित ने अपना धनुष चढ़ाकर उसे ललकारा—'अरे! तू कौन है? इस प्रकार निरपराधों पर प्रहार करने वाला तू अपराधी है, अतः दण्डनीय है।' फिर उन्होंने वृषभ से पूछा—'कमलनाल के समान तुम्हारा श्वेत वर्ण है। तीन पैर टूट जाने पर भी तुम एक ही पैर से चलते-फिरते हो, यह देखकर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। तुम्हारे सिवा और किसी भी प्राणी की आँखों से ऐसे शोक के आँसू मैंने नहीं देखे। तुम्हारे ये तीन पैर किसने तोड़ डाले? धेनुनन्दन! अब तुम शोक न करो और इस दुष्ट से निर्भय हो जाओ। गोमाता! मैं दुष्टों को दण्ड देनेवाला हूँ, अब आप रोवें नहीं, आपका कल्याण हो। देवि! जिस राजा के राज्य में दुष्टों के उपद्रव से प्रजा त्रस्त रहती है, उस राजा की कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं। राजाओं का परम धर्म यही है कि वे दुखियों का दुःख दूर करें। जो किसी निरपराध प्राणी को सताता है उसका, चाहे वह कहीं भी रहे, मेरा भय अवश्य पीछा करेगा। बिना आपत्तिकाल के मर्यादा उल्लंघन करनेवालों को शास्त्रानुसार दण्ड देना और अपने धर्म में स्थित लोगों का पालन करना यह राजा का परम धर्म है। दुष्टों का दमन करने से साधुओं का कल्याण होता है।'

धर्म ने कहा—'राजन्! आप महाराज पाण्डु के वंशज हैं। आपका इस प्रकार दुखियों को आश्वासन देना योग्य ही है। जो

लोग किसी भी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते, वे अपने आपको ही अपने दुःख का कारण बतलाते हैं। कोई प्रारब्ध को तो कोई कर्म को, कुछ लोग स्वभाव को तो कुछ ईश्वर को दुःख का कारण मानते हैं। कुछ लोगों का ऐसा भी निश्चय है कि दुःख का कारण न तो तर्क के द्वारा जाना जा सकता है और न वाणी के द्वारा बतलाया ही जा सकता है।'

तब परीक्षित ने कहा—'धर्म का तत्व जाननेवाले वृषभदेव ! आप धर्म का उपदेश कर रहे हैं। अवश्य आप वृषभ के रूप में स्वयं धर्म हैं ! मालूम होता है, सत्ययुग में आपके चार चरण थे—तप, पवित्रता, दया और सत्य। इस समय तीन चरण नष्ट हो चुके हैं। अब आपका चौथा चरण केवल सत्य ही बच रहा है, कलियुग उसे भी ग्रस लेना चाहता है। क्या ये गोमाता साक्षात् पृथिवी हैं ? अनुमान होता है, यह चिन्ता कर रही है कि अब राजा का स्वांग बनाकर सनातन संस्कृतियों को तोड़नेवाले ढोंगी मुझपर शासन करेंगे। आप दोनों शान्त हों। मैं आप दोनों का दुःख दूर करने का प्रयत्न अवश्य करूंगा।'

महाराज परीक्षित ने इस प्रकार धर्म और पृथिवी को सान्त्वना दी। फिर उन्होंने अधर्म के कारण-रूप कलियुग का वध करने के लिए तीक्ष्ण तलवार उठाई। कलियुग ताड़ गया कि यह तो अब मुझे मार ही डालना चाहते हैं। उसने उनके चरणों पर सिर रख दिया। परीक्षित बड़े यशस्वी, दीनवत्सल एवं शरणागत-रक्षक थे। इसलिए उन्होंने उसको मारा नहीं। वे बोले—'तू हाथ जोड़कर, शरण में आ गया ; परन्तु तू अधर्म का सहायक है। इसलिए तुझे मेरे राज्य में नहीं रहना चाहिए। तेरे रहने से ही लोगों में झूठ, चोरी, दुष्टता, स्वधर्मत्याग, कपट, कलह, दम्भ और दूसरे पापों की वृद्धि होती है। अतः इस ब्रह्मावर्त में तू मत ठहर ; यहाँ धर्म और सत्य का निवास-स्थान है। इस क्षेत्र में महात्मा लोग भगवान की

आराधना करते हैं और सर्वात्मा भगवान जीवों की कामनाओं को पूर्ण करते हैं।' कलि ने कहा—'सार्वभौम ! आप मुझे ऐसा स्थान बतलाइये, जहाँ मैं स्थिरतापूर्वक रह सकूं।' राजा परीक्षित ने उसपर करुणा कर उसे चार स्थान बतलाये—द्यूत, मद्यपान, परस्त्री-संग और हिंसा। इन स्थानों में क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति और निर्दयता—ये चार प्रकार के अधर्म निवास करते हैं। इसपर कलियुग ने पुनः निवेदन किया—'इन चार स्थानों में मेरा निर्वाह नहीं होगा, इसलिए कृपाकर एक और स्थान बतलाइए।' कलियुग की इस प्रकार विनयपूर्वक याचना करने पर परीक्षित ने उसे रहने के लिए एक और स्थान 'सुवर्ण' दिया। इन्हीं पाँच स्थानों में कलि सुख-पूर्वक निवास करने लगा।'

सम्राट् परीक्षित कलियुग से कोई द्वेष नहीं रखते थे, क्योंकि इसमें एक बड़ा गुण है और वह यह कि पुण्यकर्म तो संकल्पमात्र से ही फलीभूत हो जाते हैं; परन्तु पापकर्म का फल करने पर ही मिलता है। धार्मिक राजाओं, प्रजावर्ग के नेताओं, सत्यप्रिय व्यापारियों और धर्मोपदेष्टा गुरुओं को इनकी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। परीक्षित ने, इसके बाद, वृषभरूप-धर्म के तीनों चरण—तपस्या, शौच और दया पुनः जोड़ दिये और आश्वासन देकर पृथिवी का भी संवर्धन किया। भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह से राजा परीक्षित अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के तेज से भयभीत नहीं हुए थे। जिस समय तक्षक आया वे चिन्तित भी नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने अपना चित्त भगवान के चरणों में समर्पित कर रक्खा था। उन्होंने सारी आसक्ति छोड़ दी और गंगा-तट पर जाकर, शुकदेव-जी से उपदेश ग्रहण कर, अपने शरीर को त्याग दिया। जो लोग भगवान श्रीकृष्ण की लीला-कथा और उनके चरण-कमलों का स्मरण करते हैं, उन्हें अन्तकाल में मोह नहीं होता।

ऋषियों ने कहा—'सूतजी ! यज्ञ करते-करते उसके धुंए से

हम लोगों का शरीर धूमिल हो गया है। किंतु भगवद्-भक्तों से हमारी फिर भी तुलना नहीं की जा सकती। ऐसा कौन होगा, जो श्रीकृष्ण-लीला के श्रवण से तृप्त हो जाय ? गुणातीत भगवान की गुणगाथाओं का पार तो ब्रह्मा, शंकर आदि योगेश्वर भी नहीं पा सके। भगवान को ही वे अपने जीवन का ध्रुवतारा मानते हैं। इसलिए आप उनके चरित्रों का वर्णन कीजिए। परीक्षित ने, शुकदेवजी के जिस ज्ञान से, भगवान को प्राप्त किया, उसी ज्ञान का वर्णन कीजिये और उन्हें ऋषि-पुत्र ने शाप क्यों दिया, उस घटना-चक्र को भी सुनाइए।'

सूतजी ने कहा—'भगवान की शक्ति अनन्त है। भगवान के गुणों की समता जब कोई नहीं कर सकता तो उनसे बढ़कर कोई हो ही कैसे सकता है ? यही सिद्धान्त निश्चित है कि प्राणियों के मन और वाणी से परमेश्वर की माया के स्वरूप का निर्णय नहीं किया जा सकता। ब्रह्मा ने भगवान के चरणों का प्रक्षालन करने के लिए, जो जल समर्पित किया था, वही गंगा के रूप में प्रवाहित हुआ है। यह जल शंकर-सहित सारे संसार को पावन करता है। उनके प्रेम को पाकर धीर पुरुष आसक्ति छोड़ परमहंस-आश्रम का आश्रय लेते हैं। इस आश्रम में किसी को कष्ट न पहुँचाना ही स्वधर्म है।

'एक दिन राजा परीक्षित शिकार खेलने गये हुए थे। वहां उन्हें बड़े जोर की भूख और प्यास लगी। इसलिए पास के ही शमीक ऋषि के आश्रम में वे चले गये। वहां आँखें बन्द किये हुए वे मुनि आसन पर बैठे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे निर्विकार ब्रह्मरूप तुरीय अवस्था में लीन थे। राजा परीक्षित ने उनसे जल माँगा। जब राजा को वहां बैठने को भी किसी ने न कहा, तब अपने को अपमानित मानकर वे क्रोधान्ध हो गये। उन्होंने धनुष की नोक से एक मरा साँप उठाकर ऋषि के गले में

डाल दिया और अपनी राजधानी को लौट आये। उन शमीक मुनि का पुत्र बड़ा तेजस्वी था। जब उस बालक ने सुना कि राजा ने मेरे पिता के साथ दुर्व्यवहार किया है तो उसने, 'इन मर्यादा भंग करने वालों को आज मैं दण्ड देता हूँ' ऐसा कह कौशिक नदी के जल से अपने वाणी-रूपी वज्र का यह कहकर प्रयोग किया, 'राजा परीक्षित ने मेरे पिता का अपमान किया है, इसलिए आज के सातवें दिन उसे यह तक्षक सर्प डस लेगा।'

आश्रम में आने पर अपने पिता के गले में साँप देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ और वह जोर-जोर से रोने लगा। शमीक मुनि ने पुत्र के रुदन को सुन अपनी आँखें खोलीं और देखा कि उनके गले में एक मरा साँप पड़ा है। उसे फेंककर उन्होंने अपने पुत्र से रोने का कारण पूछा। उसने उन्हें सारा हाल कह सुनाया। ब्रह्मर्षि शमीक ने राजा के शाप की बात सुन, दुखित होकर उससे कहा: 'अरे मूर्ख बालक! तूने बड़ा पाप किया! खेद है, तूने उनकी थोड़ी-सी ग़लती के लिए उन्हें इतना बड़ा दण्ड दिया! प्रतापी और धर्मपरायण राजा के न होने पर चोर आदि पाप-कर्म करने लगते हैं तथा प्रजाजनों की स्त्रियाँ और धन-सम्पत्ति भी लूट लेते हैं। सम्राट् परीक्षित तो बड़े ही यशस्वी और धर्मधुरन्धर हैं। वे कदापि शाप के पात्र नहीं हैं।'

राजधानी में पहुँचने पर राजा परीक्षित को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे सोच रहे थे कि मैंने ब्राह्मण के साथ बड़ा घृणित व्यवहार किया। अवश्य ही मुझपर कोई घोर विपत्ति आयेगी, जिससे मेरे इस पाप का प्रायश्चित्त हो सकेगा। वे इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि उन्हें ऋषिकुमार के शाप की सूचना मिली। इसपर उन्होंने सोचा—'अब मेरे लिए वैराग्य का अवसर आ गया है। अब भगवान के चरणकमलों की सेवा ही सर्वोपरि है।' ऐसा विचारकर वे आमरण अनशन-व्रत लेकर गंगातट पर जा बैठे

और अनन्य भाव से श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करने लगे। उनकी ऐसी अवस्था सुनकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि वहाँ पहुँचे। उन ऋषियों का राजा ने यथायोग्य सत्कार किया और फिर वे जो-कुछ करना चाहते थे, खड़े होकर उन्हें सुनाने लगे। उन्होंने कहा—'महर्षियो! स्वयं भगवान ही, ब्राह्मण के शाप के रूप में, मुझपर कृपा करने के लिए पधारे हैं। यह शाप वैराग्य उत्पन्न करनेवाला है। अब मैंने अपने चित्त को भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया है। तक्षक आकर मुझे डस ले, इसकी मुझे तनिक भी चिंता नहीं। आप लोग मुझपर अनुग्रह कर यहाँ भगवान की रसमयी लीलाओं का गायन करें। मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरा भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में अनुराग उत्पन्न हो, महात्माओं में विशेष प्रीति हो और जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति एक-सी मैत्री रहे। आप मुझे यही आशीर्वाद दीजिए।'

महाराज परीक्षित गंगा के दक्षिण तट पर उत्तरमुख होकर बैठ गये। राजकाज का भार उन्होंने अपने पुत्र जनमेजय को पहले ही सौंप दिया था। सभी महर्षियों ने परीक्षित के इस निश्चय की प्रशंसा की। उन लोगों ने भगवान श्रीकृष्ण के गुणों से प्रभावित परीक्षित के प्रति अनेक अनुरूप वचन कहे और निश्चय किया कि 'हम लोग तबतक यहीं रहेंगे, जबतक भगवान् के ये परमभक्त परीक्षित अपने नश्वर शरीर को छोड़, दोष और शोक से रहित होकर भगवद्धाम को नहीं चले जाते।'

ऐसी वार्ता हो ही रही थी कि परमहंस श्रीशुकदेव भी वहाँ आ पहुँचे। उनका वेश अवधूत का था। दिगम्बर वेश में महान् तेजस्वी दीख रहे थे। मुनियों ने उन्हें देखते ही पहचान लिया। वे अपने-अपने आसन छोड़कर उनके सम्मान के लिए खड़े हो गये।

द्वितीय स्कन्ध

तत्वज्ञान का उपदेश

राजा परीक्षित ने शुकदेवजी को प्रसन्नता से आदरपूर्वक प्रणाम किया और उच्च आसन पर बिठा कर जिज्ञासा की—'भगवन्! जो पुरुष सर्वथा मरणासन्न है, उसे कौन से विशुद्ध कर्म करने चाहिए? मनुष्यमात्र को क्या करना उचित है? वे किसका जप, श्रवण, स्मरण तथा भजन करें और किसका त्याग?'

राजा के इस अतिमधुर सम्भाषण एवं प्रश्नों के उत्तर में समस्त धर्मों के मर्मज्ञ महात्मा शुकदेव इस प्रकार कहने लगे—'परीक्षित! संसार में जिन्हें अपना सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र, कलत्र आदि सब असत् हैं। जो 'अभयपद' को प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा सर्वशक्तिमान् भगवान श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। चाहे जैसे हो, ज्ञान, भक्ति और धर्म की परम निष्ठा से जीवन को ऐसा बना लिया जाय कि मृत्यु के क्षणों में भगवान की स्मृति अवश्य बनी रहे। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी भगवान के लीलागुणों के वर्णन में रमे रहते हैं। राजर्षे! मेरी यों तो निर्गुण-स्वरूप परमात्मा में पूर्ण निष्ठा है, तथापि भगवान श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं ने मेरे हृदय को अपनी ओर खींच लिया है। जो इसके प्रति श्रद्धा रखते हैं, उनकी शुद्ध चित्तवृत्ति श्रीहरि-चरणों में लग जाती है। जो लोग मोक्षपद प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए तथा सिद्ध ज्ञानियों के लिए भी, शास्त्रों का यही निर्णय है कि वे भगवान के नामों का प्रेम से संकीर्तन करें। राजर्षि

खट्वांग ने अपनी आयु की समाप्ति का समय जान, दो घड़ी में ही सबकुछ त्यागकर भगवान का अभयपद प्राप्त कर लिया था। मृत्यु का समय आने पर मनुष्य घबराये नहीं। उसे चाहिये कि वह वैराग्य से ममता का निरोध करे और परम पवित्र अ, उ, म् (ॐ) इन तीन मात्राओं से युक्त 'प्रणव' का मन-ही-मन जप करे। एक क्षण के लिए भी प्रणव को न भूले। मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा ले और मन को भगवान के मंगलमय रूप में लगा दे। यदि भगवान का ध्यान करते समय मन रजोगुण से विक्षिप्त या तमोगुण से मूढ़ हो जाय तो भी उसे घबराना नहीं चाहिए। धैर्य के साथ योगधारणा कर-कर उसे वह वश में करे। धारणा स्थिर हो जाने पर ही भक्ति-योग प्राप्त होता है।'

परीक्षित ने पूछा—'महामुने! धारणा किस साधन से, किस वस्तु में, किस प्रकार की जाती है और उसका क्या स्वरूप माना गया है?'

शुकदेवजी ने कहा—'परीक्षित! आसन, श्वास, आसक्ति और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके बुद्धि के द्वारा मन को भगवान के स्थूल स्वरूप में लगाना चाहिए। सम्पूर्ण विश्व जो कुछ कभी था, है या होगा, वही भगवान का स्थूल और विराट शरीर है। जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्-तत्व और प्रकृति—इन सात आवरणों से घिरे हुए इस ब्रह्मांड-शरीर में जो विराट पुरुष भगवान स्थित हैं, वे ही धारणा के आश्रय हैं, उन्हीं की धारणा की जाती है। तत्वज्ञ पुरुष उनकी इस प्रकार कल्पना करते हैं: पाताल विराट पुरुष के तलवे, एड़ियां और पंजे रसातल, एड़ी के ऊपर की गांठें महातल, पैर के पिंडे तलातल, दोनों घुटने सुतल, जांघें वितल और अतल; पेडू भूतल और उनके नाभिरुप सरोवर को आकाश कहते हैं। आदिपुरुष परमात्मा की छाती को स्वर्गलोक, गले को महर्लोक, मुख को जन-

लोक और ललाट को तपलोक कहते है। उन सहस्र सिरवाले भगवान का मस्तक-समूह ही सत्यलोक है। इन्द्रादि देवता उनकी भुजाएं दिशायें कान, शब्द श्रवणेन्द्रिय, दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिका के छिद्र, गन्ध घ्राणेन्द्रिय और धधकती हुई अग्नि उनका मुख है। भगवान विष्णु के नेत्र अन्तरिक्ष हैं, उनमें देखने की शक्ति सूर्य, दोनों पलकें रात और दिन, भ्रूविलास ब्रह्मलोक, और तालु और जिह्वा जल और रस हैं। वेदों को भगवान का ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं और यम को दाढ़ें। सब प्रकार के स्नेह दांत हैं और उनकी जगन्मोहिनी माया को ही उनकी मधुर मुस्कान कहते हैं। यह अनन्त सृष्टि उसी माया का कटाक्ष-विक्षेप है। लज्जा ऊपर के और लोभ नीचे के होठ, धर्म स्तन और अधर्म पीठ, समुद्र कोख और पर्वत उनकी अस्थियां हैं। राजन्! विश्वमूर्ति विराट पुरुष की नाड़ियाँ ये सारी नदियाँ हैं, वृक्ष हैं रोम, परम प्रबल वायु है श्वास, काल उनकी चाल है और गुणों का चक्कर चलाते रहना ही उनका कर्म है। बादलों को उनके केश मानते है और सन्ध्या उन अनन्त का वस्त्र है। महात्माओं ने मूल प्रकृति को ही उनका हृदय बतलाया है और मन को चन्द्रमा कहा है। महत्तत्व को सर्वात्मा भगवान का चित्त कहते हैं और रुद्र उनके अहंकार कहे गये हैं। विविध देवताओं के नाम, जो बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते हैं, वे उनके कर्म हैं। इन्हींमें मुमुक्षु पुरुष, बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर करते हैं। इसलिए उन सत्य-स्वरुप आनन्दनिधि भगवान का ही भजन करना चाहिए, अन्य किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।

'विरक्त हो जाने पर मनुष्य स्वतःसिद्ध भगवान का निरन्तर भजन करे। भजन से जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालनेवाले अज्ञान का नाश हो जाता है। कोई-कोई साधक अपने शरीर के भीतर हृदयाकाश में विराजमान भगवान के प्रादेशमात्र-स्वरूप की धारणा

करते हैं। वे ऐसा ध्यान करते हैं कि भगवान की चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं, और वे पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं। जबतक मन इस धारणा के द्वारा स्थिर न हो जाय, तब-तक बार-बार चिन्तनस्वरूप भगवान को देखते रहने की चेष्टा करनी चाहिए। ये विश्वेश्वर भगवान दृश्य नहीं, द्रष्टा हैं। सगुण, निर्गुण सबकुछ इन्हींका स्वरूप है। जबतक इनमें अनन्य प्रेम-मय भक्तियोग स्थिर न हो जाय तबतक साधक को नित्य नैमित्तिक कर्मों के बाद एकाग्रता से भगवान के उपर्युक्त स्थूल रूप का ही चिन्तन करना चाहिए।

'परीक्षित ! जब योगी पुरुष इस मनुष्य-लोक को छोड़ना चाहे तब उसे देश और काल में मन को न लगाना चाहिए। मन से वह इन्द्रियों का संयम करे। बुद्धि से मन को नियमित करके मन के साथ बुद्धि को क्षेत्रज्ञ में और क्षेत्रज्ञ को अन्तरात्मा में लीन कर दे। फिर अन्तरात्मा को परमात्मा में लीन कर स्थित हो जाय। इस अवस्था में सत्वगुण भी नहीं है, रजोगुण और तमोगुण की तो बात ही क्या? जो बुद्धिमान पुरुष है, वह चाहे निष्काम हो या कामनाओं से युक्त हो अथवा मोक्ष चाहनेवाला हो, उसे भक्ति-योग के द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान की ही आराधना करनी चाहिए। जितने भी उपासक हैं, वे भगवद्भक्तों का संग करें। उनसे दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होती है, हृदय शुद्ध होकर आनन्द का अनुभव करने लगता है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति नहीं रहती और भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मनिष्ठ योगी को इस प्रकार अपने देह का त्याग करना चाहिए। मैंने इस वेदोक्त सना-तन मार्ग का तुमसे वर्णन किया है। संसार-चक्र में पड़े हुए मनुष्य के लिए, जिस साधना के द्वारा उसे भगवान की अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाय, वही श्रेष्ठ धर्म है। उसके अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है। तुमने जो मुझसे पूछा था कि

मरते समय बुद्धिमान् मनुष्य को क्या करना चाहिये, उसका उत्तर मैंने तुम्हें यह दे दिया।'

परीक्षित ने शुकदेवजी के भगवत्तत्व का निश्चय करानेवाले वचन सुनकर अपनी शुद्ध बुद्धि भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में अनन्यभाव से समर्पित कर दी और ममता का त्याग कर धर्म, अर्थ और कामादि कर्मों से संन्यास ले लिया। श्रद्धा से भगवान श्रीकृष्ण की महिमा सुनने के लिए उन्होंने श्रीशुकदेव से पुनः प्रश्न किया।

'मुनिवर! भगवान अपनी माया से इस संसार की सृष्टि, रक्षा और फिर संहार किस प्रकार करते हैं? आप कृपया मेरी इस शंका को दूर कीजिए।'

शुकदेवजी ने कहा—'संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की लीला करने के लिए भगवान सत्व, रज तथा तमोगुणरूप तीन शक्तियों को स्वीकार कर ब्रह्मा, विष्णु और शंकर का रूप धारण करते हैं। जो समस्त चर-अचर प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हैं, जिनका स्वरूप और उसकी उपलब्धि का मार्ग बुद्धि के विषय नहीं हैं, जो स्वयं अनन्त है और जिनकी महिमा भी अनन्त हैं, चर-अचर सभी प्राणी जिनकी मूर्ति हैं और जो बड़े ही भक्त-वत्सल हैं, उन भगवान श्रीकृष्ण को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन जीवों के समस्त पापों को तत्काल नष्ट कर देते हैं। विवेकी पुरुष जिनके चरण-कमलों की शरण लेकर आसक्ति को पार कर जाते हैं और ब्रह्मपद प्राप्त कर लेते हैं। जिन्हें बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मन्त्रज्ञ जबतक अपनी साधनाओं को समर्पित नहीं कर देते तबतक उन्हें कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। उन सर्वशक्तिमान् भगवान को मेरा बार-बार नमस्कार है। वे ही भगवान ज्ञानियों के आत्मा, भक्तों के स्वामी, कर्मकांडियों की वेद-

मूर्ति, धार्मिकों के धर्ममूर्ति और तपस्वियों के तप-स्वरूप हैं। इसलिए सभी प्रकार के ज्ञानीजन उनका विविध प्रकार से चिन्तन करते हैं। परीक्षित ! ब्रह्माजी ने देवर्षि नारद के प्रश्न करने पर यही बात कही थी और वही मैं तुमसे भी कह रहा हूं।'

नारदजी ने पूछा था—'पिताजी ! आप मुझे वह ज्ञान दीजिये, जिससे आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है। इस संसार का क्या लक्षण है ? इसका आधार क्या है ? इसका सृजन किसने किया है ? किसमें इसका लय होता है ? यह किसके अधीन है ? और वस्तुतः यह है क्या ? आप हमें इसका तत्व बतलाइए। आपका स्वामी कौन है ? और आपका स्वरूप क्या है ? जगत् में नाम, रूप और गुणों से जो कुछ जाना जाता है, उसमें ऐसी कोई सत्, असत्, उत्तम, मध्यम या अधम वस्तु नहीं देखता, जो आपके सिवा और किसी से उत्पन्न हुई हो। इस प्रकार सबके ईश्वर होकर भी आपने एकाग्रचित्त से किसकी घोर तपस्या की ? इस बात से मुझे शंका हो रही है कि आपसे बड़ा भी कोई है क्या ? मुझे इस प्रकार समझाइये, जो मैं ठीक-ठीक समझ सकूं।'

तब ब्रह्माजी ने कहा था—'नारद ! जबतक मुझसे परे का तत्व, जो स्वयं भगवान ही हैं, जान नहीं लिया जाता, तबतक मेरा ऐसा ही प्रभाव प्रतीत होता है। जैसे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे उन्हींके प्रकाश से प्रकाशित होकर जगत् में प्रकाश फैलाते हैं वैसे ही मैं भी उन्हीं स्वयंप्रकाशमान भगवान के चिन्मय प्रकाश से प्रकाशित होकर संसार को प्रकाशित कर रहा हूं। द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव वास्तव में भगवान से भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं हैं। वेद, यज्ञ, योग, ज्ञान, साध्य, साधन और सारी तपस्याएं भगवान की ओर ही ले जानेवाली हैं। वे द्रष्टा होने पर भी ईश्वर हैं। निर्विकार होने पर भी सर्वस्वरूप हैं। उन्होंने ही मुझे सृजा है। भगवान माया के गुणों से अतीत और

अनन्त हैं। मैं उनकी इच्छा के अनुसार ही सृष्टि की रचना करता हूँ। सारे संसार के और मेरे भी एकमात्र स्वामी वे ही हैं।

'एक से बहुत होने की इच्छा होने पर अपनी शक्ति से ही कालरूप भगवान ने तीनों गुणों में क्षोभ भर दिया और कर्म ने महत्तत्व को जन्म दिया। रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होने पर महत्तत्व का जो विकार हुआ, उससे ज्ञान क्रिया और द्रव्यरूप तमःप्रधान विकार हुआ और वह अहंकार कहलाया। उसके वैकारिक, तैजस और तामस ये तीन भेद हैं। वे क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्तिप्रधान हैं। जब पंचमहाभूतों के कारणरूप तामस अहंकार में विकार हुआ, तब उससे आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश की तन्मात्रा और गुण शब्द है। जब आकाश में विकार हुआ तब वायु की उत्पत्ति हुई और इसका गुण स्पर्श है। काल, कर्म और स्वभाव से वायु में भी विकार हुआ, उससे तेज की उत्पत्ति हुई, इसका प्रधान गुण रूप है। तेज के विकार से जल की उत्पत्ति हुई और इसका गुण रस है। जल के विकार से पृथिवी की उत्पत्ति हुई और इसका गुण गन्ध हुआ। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की उत्पत्ति हुई। वैकारिक अहंकार से मन, इन्द्रिय और इनके दस अधिष्ठातृ-देवताओं की उत्पत्ति हुई। उनके नाम हैं दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति। तैजस अहंकार के विकार से श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और प्राण—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं वाक्, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय—इन पाँच कर्म इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई।

भगवान ने कार्य-कारणभाव स्वीकार कर व्यष्टि-समष्टिरूप, पिण्ड और ब्रह्मांड की रचना की। ब्रह्मांड का अंडा एक सहस्र वर्ष तक जल में पड़ा रहा। फिर काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करनेवाले भगवान ने उसे जीवित कर दिया। अंडे को फोड़कर

उसमें से वही विराट् पुरुष निकला, जिसकी जंघा, चरण, भुजाएं, नेत्र, मुख और सिर सहस्रों की संख्या में हैं। उसके कमर के नीचे के अंगों में सातों पाताल और पेडू* के ऊपर के अंगों में सातों स्वर्ग की कल्पना की जाती है। उसके चरणों में पृथ्वी, नाभि में भुवःलोक और सिर में स्वर्लोक है।

उन्हीं विराट् पुरुष के मुख से वाणी और उसके अधिष्ठातृ देवता अग्नि की उत्पत्ति हुई। सातों छन्द उसकी सात धातुओं से निकले हैं। सब प्रकार के रस और उसके अधिष्ठातृ देवता वरुण विराट् के जिह्वा से उत्पन्न हुए। उनके नासाछिद्रों से प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँचों प्राण और वायु तथा घ्राणेन्द्रिय से अश्विनीकुमार, समस्त औषधियाँ एवं गन्ध उत्पन्न हुए। उनके नेत्र-गोलक स्वर्ग और सूर्य की जन्मभूमि हैं। समस्त दिशायें, आकाश और शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से निकले हैं। स्पर्श और वायु उनकी त्वचा से, रोम-रोम से उद्भिज पदार्थ, केश, दाढ़ी-मूंछ और नखों से मेघ, बिजली, शिला, एवं लोहा आदि धातुएं तथा भुजाओं से लोकपालों की सृष्टि हुई है। उनका चलना-फिरना भूः, भुवः और स्वः लोकों का आश्रय है। उनके उदर में प्रकृति तथा मृत्यु का स्थान है और हृदय मन की जन्मभूमि है। हम, तुम, धर्म, सनकादि, शंकर, विज्ञान और अन्तःकरण सबके-सब उनके चित्त के आश्रित हैं। मैं, तुम, देवता और नाना प्रकार के जीवधारी, जो आकाश अथवा स्थल पर रहते हैं, ग्रह, नक्षत्र, केतु, तारे, बिजली और बादल ये सब विराटपुरुष ही हैं। सम्पूर्ण लोक भगवान के अंशमात्र हैं और उनके अंशमात्र लोकों में प्राणी निवास करते हैं। कोई भी उनकी महिमा का पार नहीं पा सकता। जन, तप और सत्य लोकोंमें वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी तथा संन्यासी निवास करते हैं। गृहस्थ भूलोक, भुवःलोक और स्वर्लोक में ही निवास करते हैं। कर्म-मार्ग और ज्ञान का उपासनात्मक मार्ग–शास्त्रों में ये दो ही मार्ग बतलाये

गये हैं। मनुष्य दोनों में से किसी भी एक का सहारा लेकर मोक्ष पा सकता है।

विराट् पुरुष के नाभि-कमल से मेरा जन्म हुआ। जब इस पुरुष के अंगों के अतिरिक्त मुझे और कोई भी यज्ञ की सामग्री नहीं मिली, तब मैंने उनके अंगो में ही यज्ञ के योग्य सामग्री संग्रह कर उनका यजन किया। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं नारायण में स्थित है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो भगवान से भिन्न हो। पहले मैंने बड़ी निष्ठा से योग का सर्वांग अनुष्ठान किया था; परन्तु मैं अपने मूल कारण परमात्मा को नहीं जान सका। उनकी माया की शक्ति अपार है। मैं और शंकरजी भी उनके सत्य-स्वरूप को नहीं जानते। हम लोग केवल अवतार-लीलाओं का गान ही करते रहते हैं। मैं उन भगवान के श्रीचरणों को नमस्कार करता हूँ। वे अजन्मा एवं पुरुषोत्तम हैं। वे माया के लेश से रहित परम ज्ञानस्वरूप हैं। न उनका कहीं आदि है, न अन्त। वे तीनों गुणों से अतीत, सनातन और अद्वितीय हैं। परमात्मा का पहला अवतार विराट् पुरुष है। मैं, विष्णु, दक्ष आदि सबके सब परमतत्वमय भगवत्-स्वरूप ही हैं।

जब संसार की रचना का समय होता है, तब तपस्या, नौ प्रजापति, मरीचि आदि ऋषि; सृष्टि की रक्षा के समय धर्म, विष्णु, मनु और देवता; और प्रलय के समय रुद्र आदि के रूप में सर्वशक्तिमान की माया-विभूतियां प्रकट होती हैं। समस्त सृष्टि की रचना और संहार करनेवाली माया उनकी एक शक्ति है। आदिदेव भगवान शेष सहस्र मुख से उनके गुणों का गायन करते आ रहे हैं। परमात्मा का वास्तविक स्वरूप सत् और असत् दोनों से परे हैं। परमपुरुष भगवान का वही परमपद है, जहां स्वयं माया भी प्रवेश नहीं कर पाती। समस्त कर्मों के फल भी भगवान ही देते हैं। मनुष्य जो शुभ कर्म करता है, वह सब

उन्हींकी प्रेरणा से । यह शरीर जब नष्ट हो जाता है तब भी इसमें रहनेवाला अजन्मा पुरुष आकाश के समान विनष्ट नहीं होता । जो पुरुष भगवान की माया का वर्णन या वर्णन का अनुमोदन अथवा श्रवण करते हैं, उनका चित्त माया से कभी मोहित नहीं होता ।

राजा परीक्षित ने कहा—'निर्गुण परमेश्वर के गुणों का जो वर्णन लोगों का परम मंगल करने वाला है, उसे आप मुझे सुनाइये । ऐसा उपदेश कीजिये कि मैं अपने आसक्ति-रहित मन को सर्वात्मा भगवान में तन्मय करके अपना शरीर छोड़ सकूं । आपने बतलाया था कि विराट् पुरुष के अंगों से लोकपालों की रचना हुई और फिर यह भी बतलाया कि लोक और लोकपालों के रूप में उसके अंगों की कल्पना हुई है । इन दोनों बातों का तात्पर्य क्या है ? पृथ्वी पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप और उनमें रहनेवाले जीवों की उत्पत्ति कैसे होती है ?'

शुकदेवजी ने उत्तर दिया—'परीक्षित ! जैसे स्वप्न में देखे जानेवाले पदार्थों के साथ उसे देखनेवाले का कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहादि से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । ब्रह्मा सृष्टि करने की इच्छा से विचार करने लगे ; परन्तु जिस ज्ञान-दृष्टि से सृष्टि की रचना हो सकती थी, वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई । एक दिन उन्होंने तप-तप इस प्रकार की ध्वनि दो बार सुनी । यह सुनकर वक्ता को देखने की इच्छा से उन्होंने चारों ओर देखा, परन्तु वहां कोई दूसरा दिखाई नहीं दिया । अतः 'मुझे तप करने की प्रत्यक्ष आज्ञा मिली है, ऐसा निश्चय कर उन्होंने अपने मन को तपस्या में लगा दिया । तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें अपना वह लोक दिखाया, जो सबसे श्रेष्ठ है । उस वैकुंठलोक में भगवती लक्ष्मी अपनी विविध विभूतियों से भगवान के चरण-कमलों की सेवा करती रहती हैं । ब्रह्मा ने देखा कि

उस दिव्यलोक में भगवान विराजमान हैं। पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, मन, दस इन्द्रियां, शब्दादि पंच तन्मात्रायें और पंचभूत-ये पच्चीस शक्तियां उनके चारों ओर खड़ी हैं। समस्त ऐश्वर्य, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः नित्य सिद्ध-स्वरूप भूत शक्तियों से वे सर्वदा युक्त रहते हैं।

भगवान ने उनसे कहा—'ब्रह्मन्! तुम्हारी क्या अभिलाषा है, मुझसे कहो। मैंने तुम्हें तपस्या करने की आज्ञा दी थी। तपस्या मेरा हृदय है, मैं स्वयं तपस्या की आत्मा हूँ। मैं तपस्या से ही इस संसार की सृष्टि, उसका धारण-पोषण और फिर इसीसे उसे अपने में लीन कर लेता हूँ।'

ब्रह्मा ने कहा—'भगवन्! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सजग रहकर सावधानी से आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँ। मैं आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों को जान सकूँ। सृष्टि-रचना करते समय भी कर्तापन आदि के अभिमान से बँध न जाऊँ।' तब भगवान ने प्रसन्न होकर कहा—'अब ऐसा ही होगा। अनुभव, प्रेमभक्ति और ज्ञान का अपना स्वरूप मैं तुमसे कहता हूँ। सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही था। मेरे अतिरिक्त यह सृष्टि नहीं है। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह मैं ही हूँ। जो आत्मा अथवा परमात्मा का तत्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है।' इतना कह भगवान अन्तर्धान हो गये।

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित! ब्रह्मांड से निकलने पर विराट् पुरुष अपने रहने का स्थान ढूँढ़ने लगा और इसलिए उसने जल की सृष्टि की। विराट् पुरुष से उत्पन्न जल का नाम 'नार' पड़ा। वह पुरुष नार में हजार वर्षों तक रहा, इससे उसका नाम 'नारायण' पड़ा। 'नारायण' ने योगनिद्रा से जगकर एक से अनेक होने की इच्छा की। अतः अखिल ब्रह्मांड को उसने अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत

नाम के तीन भागों में विभक्त कर दिया। विराट् पुरुष के आकाश से इन्द्रियबल, मनोबल और शरीरबल की उत्पत्ति हुई। उनसे, इन सबका राजा प्राण, उत्पन्न हुआ। शरीर में प्राण के प्रबल रहने पर ही इन्द्रियां सबल रहती हैं। जब प्राण जोर से आने-जाने लगा तब विराट् पुरुष को भूख-प्यास लगी। उनके शरीर में पहले मुख प्रकट हुआ। मुख से रसनेन्द्रिय प्रकट हुई। इसके अधिष्ठातृ-देव वरुण ने वहां अपना स्थान ग्रहण किया। इसके बाद अनेक तरह के रस उत्पन्न हुए। जीव इनका आस्वादन करता है। जब उनकी बोलने की इच्छा हुई तब वाक्-इन्द्रिय उसके अधिष्ठातृ देवता अग्नि और विषय—बोलना—ये तीनों प्रकट हुए। श्वासवेग से नाक, सूँघने की इच्छा से गन्ध और उनके फैलानेवाले वायुदेव का आगमन हुआ। अश्विनीकुमार नासारन्ध्रों के अधिष्ठातृ देवता हुए। जब विराट् पुरुष को देखने की इच्छा हुई तब नेत्रेन्द्रिय और सूर्य उत्पन्न हुए और उन्हें विविध रूप का ज्ञान होने लगा। सुनने की इच्छा होते ही कान, उनके अधिष्ठातृ देवता दिशाएं और श्रवणेन्द्रिय प्रकट हुए। इससे इनको शब्द का ज्ञान होने लगा। उष्णता और शीतलता आदि स्पर्श भाव के आने पर उनके शरीर में चर्म प्रकट हुआ। वायुदेव इसमें स्थित हुए। कर्म करने की इच्छा होने पर उनके हाथ निकल आये और अभीष्ट स्थान पर जाने की इच्छा होते ही पैर उग आये, और उसके अधिष्ठाता विष्णुदेव ने उनमें प्रवेश किया। जब विराट् पुरुष को अन्न-जल ग्रहण करने की इच्छा हुई तब कोख, आँतें, नाड़ियां उत्पन्न हुईं। विराट् पुरुष के शरीर में पृथ्वी, जल और तेज से ये सात धातुएं प्रकट हुईं—त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि। इसी प्रकार आकाश, जल और वायु से प्राणों की उत्पत्ति हुई। मन सब विकारों का उत्पत्ति-स्थान है और बुद्धि समस्त पदार्थों का बोध करानेवाली है। फिर इसमें बुद्धि उत्पन्न

हुई, जिसमें वाक्पति ब्रह्मा ने प्रवेश किया और विराट् ज्ञातव्य विषयों को जानने लगा। फिर इसके हृदय प्रकट हुआ और इसमें चन्द्रमा का निवास हुआ। इस मनःशक्ति के द्वारा संकल्प, विकल्पादि रूप के विकारों का इसे बोध होने लगा। तत्पश्चात् विराट् के अहंकार उत्पन्न हुआ और इसके साथ अभिमान (रुद्र) ने उसमें निवास किया। इस शक्ति से ज़ीव अपने कर्त्तव्य को स्वीकार करता है। अब इसमें चित्त प्रकट हुआ। चित्तशक्ति से जीव विज्ञान (चेतना) को उपलब्ध करता है। विराट् पुरुष के सिर से स्वर्लोक, पैरों से पृथ्वी और नाभि से आकाश उत्पन्न हुए। सत्वगुण की अधिकता से स्वर्ग, रजोगुण की प्रधानता से पृथ्वी तथा तमोगुण के आधिक्य से अंतरिक्ष में जीव, देवता, मनुष्य और प्रेत के रूप में निवास करते हैं।'

तृतीय स्कन्ध

विदुर-उद्धव संवाद

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित ! अब मैं तुम्हें महात्मा विदुर का उद्धव से मिलने का प्रसंग सुनाता हूं, जिसके फलस्वरूप विदुर का मैत्रेयमुनि के साथ समागम हुआ और मैत्रेय ने उन्हें धर्म-तत्वों का उपदेश किया।

यह उन दिनों की बात है, जब राजा धृतराष्ट्र से विदुर ने कहा था—'महाराज ! यदि आप अपने कुल की कुशल चाहते हैं तो युधिष्ठिर को उनका हिस्सा दे दीजिये।' और उनकी यह बात सुनते ही कर्ण, दुःशासन और शकुनि-सहित दुर्योधन ने क्रोधान्ध हो, उन्हें राज्य से निकल जाने की आज्ञा दी थी तथा भाई के सामने ही इन कठोर वचनों से मर्माहत होने के कारण वे हस्तिनापुर से चल दिये थे।

पुण्य-लाभ करने की इच्छा से अनेक तीर्थस्थानों में वे अकेले विचरते रहे। प्रभासक्षेत्र में पहुँचने पर उन्होंने अपने कौरव-बन्धुओं के विनाश का समाचार सुना। यमुना के तट पर पहुँचने के बाद उन्होंने परम भागवत् उद्धव का दर्शन किया। उद्धव श्रीकृष्ण के प्रख्यात सेवक तथा अत्यन्त शान्तस्वभाव के सत्पुरुष थे। विदुर ने उनसे पूछा—"उद्धव ! पुराणपुरुष बलराम और श्रीकृष्ण अपने घर कुशल से रह रहे हैं न ? प्रद्युम्न, रुक्मिणी, सात्यकि और अक्रूर सकुशल तो हैं ? महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, गाण्डीवधारी अर्जुन, माद्री के पुत्र नकुल और सहदेव कुशलपूर्वक तो हैं ? अच्छा, अब यदुकुल में जन्म लेनेवाले उन पवित्रकीर्ति

श्रीहरि की बातें सुनाइये। मुझे तो अधःपतन की ओर जानेवाले धृतराष्ट्र के लिए बारम्बार शोक होता है, जिन्होंने पाण्डवों से अकारण द्रोह किया। कौरवों ने पाण्डु के अनाथ बालकों को लाक्षागृह में भेजकर उसमें आग लगवा दी, पुत्रवधू द्रौपदी के केश दुःशासन ने भरी सभा में खींचे, उन्होंने जुए में भोले-भाले युधिष्ठिर को जीतकर उन्हें वन में भिजवा दिया और वनवास से लौटने पर भी प्रतिज्ञानुसार उन्हें उनका राज्य वापस नहीं किया। भगवान श्रीकृष्ण के हितभरे मधुर वचनों का भी कुरुराज ने आदर नहीं किया। धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों को इन कुकर्मों से नहीं रोका। मुझे भी उन्होंने नगर से बाहर निकलवा दिया।"

जब विदुर ने परमभक्त उद्धव से इस प्रकार की बातें पूछीं, तब वे हृदय भर आने के कारण तुरन्त उत्तर नहीं दे सके। स्वामी के विरह से उनका चित्त व्याकुल हो गया और आँसुओं की धारा बहने लगी। कुछ देर बाद वे बोले—'विदुरजी ! श्रीकृष्ण-रूप सूर्य के छिप जाते ही हमारे घरों को कालरूप अजगर ने ग्रस लिया है। वे श्रीहीन हो गये हैं। जिन्होंने कभी तप नहीं किया, उन्हें भी इतने दिनों तक दर्शन देकर, अब भगवान अन्तर्धान हो गये हैं। भगवान ने, जब महात्माओं को असुरों से सताये जाते देखा, तब बलराम के साथ धराधाम पर अवतार ग्रहण किया। वसुदेवजी के यहाँ जन्म लेना, कंस के भय से ब्रज में छिपना, कालयवन के सामने मथुरापुरी छोड़ भागना आदि भगवान की लीलाएं स्मरण आते ही हृदय को व्याकुल कर डालती हैं। पृथ्वी के सारे भार को उतार देनेवाले श्रीकृष्ण को कौन भूल सकेगा? उनसे द्वेष करनेवाले शिशुपाल को भी वह परमगति मिली, जिसकी बड़े-बड़े योगी भी स्पृहा करते हैं। महाभारत के युद्ध में भगवान श्रीकृष्ण के मुखकमल का मकरन्द-पान करते हुए, अर्जुन के बाणों से, जिन योद्धाओं ने प्राण-विसर्जन किया था, वे सभी परमधाम को चले

गये। पापिनी पूतना ने श्रीकृष्ण को मार डालने की नीयत से उन्हें दूध पिलाया था; किन्तु भगवान ने उसे भी परमगति दी।

कंस के कारागार में वसुदेव-देवकी के यहां भगवान ने अवतार लिया। वसुदेव ने उन्हें नन्दबाबा के घर आधी रात को चुपके से पहुँचा दिया। वहां ग्यारह वर्ष तक वे बलराम के साथ रहे। यमुना के उपवनों में बछड़ों को चराते हुए ग्वाल-बालों की मंडली के साथ श्रीकृष्ण ने विहार किया। बड़ा होने पर गौओं को चराते हुए बांसुरी बजा-बजाकर उन्होंने अपने सखाओं को रिझाया। कंस ने उन्हें मार डालने के लिए अनेक मायावी राक्षस भेजे। भगवान ने खेल-ही-खेल में उन्हें सुरधाम भेज दिया। उन्होंने कालियनाग का दमन कर, यमुना के निर्दोष जल के पीने की सुविधा कर दी। उन्होंने गोवर्धन-पूजा के रूप में गोयज्ञ करवाया। मान-भंग होने के कारण इन्द्र ने जब मूसलाधार पानी बरसाना शुरू किया, तब सहज ही उन्होंने गोवर्धन-पर्बत को उठाकर ब्रजवासियों की रक्षा की। अपने माता-पिता, देवकी-वसुदेव, को सुख देने के लिए बलराम के साथ वे मथुरा पधारे। कंस को सिंहासन से नीचे गिराकर उसे मार डाला। सन्दीपनि मुनि को, वेदाध्ययन की दक्षिणा में, उन्होंने उनके पुत्र को जीवन-दान दिया। शिशुपाल और उसके सहायकों का मान-मर्दन कर, उन्होंने रुक्मिणी से विवाह किया। स्वयम्वर में सात उद्दंड बैलों को नाथकर उन्होंने नाग्नजिती से विवाह किया। सत्यभामा की प्रसन्नता के लिए वे स्वर्ग से कल्पवृक्ष ले आये। जब कालयवन, शल्य और जरासन्ध आदि ने मथुरा और द्वारकापुरी पर चढ़ाई की, तब भगवान ने स्वजनों को अपनी शक्ति दे, उन्हें उनसे मरवाया। उन्होंने पाण्डवों के द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध में एकत्रित कौरवों और अन्य उद्धत राजाओं का भी संहार कराया। भगवान ने युधिष्ठिर को उनकी पैतृक राजगद्दी पर बैठाया और उनसे तीन

अश्वमेध-यज्ञ भी कराये। कर्ण, दुःशासन, शकुनि तथा दुर्योधन को धराशायी देखकर भी उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई और उन्होंने सोचा—'द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीमसेन के द्वारा पृथिवी का भार हल्का तो हुआ, पर दुःसह यादवों का दल तो अभी भूभार बना ही है! जब वे मद्यपान से प्रमत्त हो आपस में लड़ने लगें, तभी इनका नाश होगा।'

एक बार द्वारकापुरी में खेलते हुए यदुवंशी और भोजवंशी बालकों ने कुछ ऋषियों को चिढ़ा दिया और उन्होंने बालकों को शाप दे दिया। इसके कुछ ही महीने बाद यादव बड़े हर्ष से प्रभासक्षेत्र गये। वहां उन्होंने भोजन किया और मदिरा पी ली। इससे उनका ज्ञान नष्ट हो गया और दुर्वाक्यों के फलस्वरूप उनकी आपस में ही मारकाट होने लगी। यह देख, भगवान सरस्वती के तट पर एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। अपने कुल का संहार करने की इच्छा होने पर उन्होंने मुझसे बद्रिकाश्रम चले जाने को कहा। यद्यपि मैं उनका आशय समझ गया था, फिर भी स्वामी के चरणों का वियोग न सह सकने के कारण मैं उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्र गया। वहां मैंने उन्हें अकेले बैठे देखा। भोजनपान का त्याग कर देने पर भी वे आनन्द से प्रफुल्लित हो रहे थे।

मुझे देख भगवान कहने लगे—"मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा जानता हूँ। इसलिए मैं तुम्हें वह साधन देता हूं, जो दूसरों के लिए दुर्लभ है। तुम पूर्व जन्म में वसु थे। मुझे पाने की इच्छा से तुमने मेरी आराधना की थी। उद्धव, संसार में यह तुम्हारा अन्तिम जन्म है, क्योंकि तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। उस साधन को विवेकी लोग भागवत कहते हैं।' मैंने हाथ जोड़कर उनसे कहा—'स्वामिन! इस संसार में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—कोई भी दुर्लभ नहीं है। पर मुझे इनमें से किसी की भी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल आपके चरण-कमलों की सेवा के

लिए ही लालायित रहता हूं। प्रभो! आप निस्पृह होकर भी कर्म करते हैं, अजन्मा होने पर भी जन्म लेते हैं और कालरूप होकर भी शत्रु के डर से भागते हैं, इन विचित्र चरित्रों को देखकर विद्वानों की बुद्धि भी चक्कर में पड़ जाती है। अपने स्वरूप का गूढ़ रहस्य यदि मेरे समझने योग्य हो तो मुझे समझाइये, जिससे मैं संसार-सागर को सुगमता से पार कर सकूँ।'

जब मैंने इस प्रकार अपने मन का भाव उनसे निवेदित किया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने मुझे अपने स्वरूप की परम स्थिति का उपदेश दिया। अब मैं उनके प्रिय क्षेत्र बद्रिकाश्रम को जा रहा हूँ, जहाँ भगवान श्री नर और नारायण कठिन तपस्या कर रहे हैं।

शुकदेवजी कहते हैं—'इस प्रकार उद्धव के मुख से अपने प्रिय बन्धुओं के विनाश का असह्य समाचार सुनकर विदुर को जो शोक हुआ, उसे उन्होंने अपने ज्ञान का आश्रय लेकर शान्त कर दिया। विदुर ने कहा—'उद्धव! भगवान श्रीकृष्ण ने जो परमज्ञान का उपदेश आपको किया था, वह आप हमें भी सुनाइये।'

उद्धव ने कहा—'उस तत्वज्ञान के लिए आपको मुनिवर मैत्रेय की सेवा करनी चाहिए। जिस समय मैं भगवान का दर्शन करने प्रभासक्षेत्र गया था, संयोगवश उसी समय व्यासजी के प्रिय-मित्र मैत्रेय मुनि वहाँ आ गये थे और भगवान ने आपको उपदेश देने के लिये उन्हें आज्ञा दी थी।'

राजा परीक्षित ने प्रश्न किया—'भगवन्! यदुवंशी और भोज-वंशी सभी तो नष्ट हो गये थे, फिर उनके मुखिया उद्धवजी कैसे बचे रहे?' शुकदेवजी ने कहा—'श्रीहरि ने ब्रह्मशाप के बहाने अपने कुल का संहार कर श्रीविग्रह को त्यागते समय विचार किया—'अब इस लोक से मेरे चले जाने के बाद उद्धव ही मेरा ज्ञान ग्रहण करने के सच्चे अधिकारी हैं। अतः लोगों को मेरे ज्ञान की शिक्षा देने के लिए वे यहीं रहें।' भगवान श्रीकृष्ण के

इस प्रकार आज्ञा देने पर उद्धव बद्रिकाश्रम जाकर ऋषियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते हुए समाधियोग द्वारा श्रीहरि-आराधना में तल्लीन हो गये। उनके कहने के अनुसार महात्मा विदुर भी यमुनातट से चलकर कुछ दिनों में गंगातट पर मैत्रेयमुनि के आश्रम में जा पहुँचे।

मैत्रेय मुनि का विदुर को उपदेश

परमज्ञानी मैत्रेय मुनि हरिद्वार-क्षेत्र में निवास करते थे। वहाँ पहुँचकर विदुरजी ने उन्हें प्रणाम करके कहा—'भगवन्! संसार में सभी लोग सुख-प्राप्ति के लिए अनेकविध कर्म करते हैं; पर इससे न तो उनका दुःख ही दूर होता है, न सुख ही मिलता है, वरन् दुःख की ही मात्रा अधिक हो जाती है। अतः इस विषय में क्या करना उचित है, कृपा कर मुझे बताइए। मुझे आप उस शान्तिप्रद साधन का उपदेश दीजिए, जिससे भक्तों के हृदय में आकर भगवान विराजमान हो जाते हैं। त्रिलोक के नियंता, नाना अवतार ग्रहण कर, जो-जो लीलाएं करते हैं, उसका सब रहस्य आप हमें समझाइये। श्रीकृष्ण-संबंधी कथामृत के प्रवाह को छोड़, स्वल्पसुखकारी अन्यान्य धर्मों से मेरा मन ऊब-सा गया है। भगवत-कथा की रुचि जब श्रद्धालु पुरुषों के हृदय में बढ़ने लगती है, तब स्वभावतः अन्य विषयों से वह उन्हें विरक्त कर देती है। मुझे तो अज्ञानियों के लिए खेद है, जो संस्कारहीनता के कारण श्रीहरि की आनन्ददायिनी कथा से विमुख रहते हैं। सर्वेश्वर भगवान ने राम-कृष्णादि अवतार लेकर जो अलौकिक लीलाएं की हैं, वे सब आप सुनाइये।' मैत्रेयमुनि ने उत्तर देते हुए कहा—'विदुर! भगवान परमधाम को सिधारते समय मुझे आपको ज्ञानोपदेश करने की आज्ञा दे गये हैं। इसलिए मैं भगवन की विविध लीलाओं का क्रम से वर्णन करता हूँ। सृष्टि-रचना के पूर्व समस्त आत्माओं के

आत्मा पूर्ण परमात्मा ही थे। उस समय न द्रष्टा था, न दृश्य। माया के द्वारा भगवान ने इस विश्व की रचना की और महत् आदि तत्व तथा उनके विकारों को भी रचा। फिर भी जब भगवान ने देखा कि महत्तत्व आदि शक्तियां आपस में संगठित होने पर भी विश्व की रचना करने में असमर्थ हैं, तो वे महत्तत्व, अहंकार, पंचभूत पंचतन्मात्रा और मन-सहित ग्यारह इन्द्रियाँ—इन तेईस तत्वों के समुदाय में स्वतः प्रविष्ट हुए और अपनी प्रेरणा से 'विराट्' को उन्होंने जन्म दिया। तत्वों का परिणाम ही 'विराट् पुरुष' है, जिसमें चराचर जगत् विद्यमान है। भगवान ने अपने चेतनरूप तेज से 'विराट् पुरुष' को प्रकाशित किया।

विदुर ने पूछा—'भगवान तो शुद्ध बोधस्वरूप, निर्विकार और निर्गुण हैं, उनके साथ लीला से भी गुण और क्रिया का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? वे तो पूर्णकाम और सर्वदा असंग हैं, फिर वे क्रिया के लिए भी क्यों संकल्प करेंगे? जिनके ज्ञान का कभी लोप नहीं होता, उन्हें फिर क्लेश कैसे प्राप्त हो सकता है?'

मैत्रेयमुनि ने कहा—'जो आत्मा सबका स्वामी और सर्वथा मुक्त-स्वरूप हैं, वही दैन्य और बन्धन को प्राप्त हो—यह बात युक्ति-विरुद्ध अवश्य है, किंतु वस्तुतः यही भगवान की माया है। जिस प्रकार जल में होनेवाली कम्पन आदि क्रिया जल में दीखनेवाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में, न होने पर भी, भासती है, उसी प्रकार देहाभिमानी जीव में ही देह के मिथ्या धर्मों की प्रतीति होती है, परमात्मा में नहीं। भक्तियोग से यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे लोप हो जाती है। श्रीहरि-पद में निश्चल भाव के होने पर राग-द्वेषादि सारे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।'

तब विदुर ने कहा—"भगवन्! मेरे संशयादि निवारण हो गये हैं। जीव को जो क्लेशादि की प्रतीति हो रही है, उसका आधार केवल भगवान की माया है। इस संसार में या तो मूढ़ या भगवान

को प्राप्त कर लेनेवाले—ये दो ही सुखी हैं। संशयापन्न लोग तो दुःख ही भोगते रहते हैं। मुझे यह निश्चय हो गया कि वे अनात्म पदार्थ वस्तुतः कुछ हैं नहीं, केवल प्रतीत ही होते हैं। आपने कहा कि सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान ने क्रमशः महदादि तत्व और उनके विकारों को रचकर फिर उनके अंशों से विराट् को उत्पन्न किया और इसके पश्चात् स्वयं उसमें प्रविष्ट हुए। उन विराट् भगवान को वेद आदिपुरुष कहते हैं, उन्हींमें ये सब लोक विस्तृत रूप से स्थित हैं। अब आप उनकी ब्रह्मादि विभूतियों का वर्णन सुनाइये, जिसमें यह सारा ब्रह्मांड भरा-पूरा है। भगवत्-तत्व के उपदेश द्वारा जीव को जन्म-मृत्यु से छुड़ाकर उसे अभय कर देने में जो पुण्य होता है, समस्त वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तपस्या, दानादि से होनेवाला पुण्य उसकी बराबरी कभी नहीं कर सकता। अतः श्रीहरि की लीला का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से मैंने जो प्रश्न किये हैं, उनका उत्तर कृपाकर आप मुझे दीजिये।'

मैत्रेय मुनि ने कहा—'सृष्टि के पूर्व यह विश्व जल में डूबा हुआ था। उस समय एकमात्र नारायणदेव शेषशय्या पर योगनिद्रा में पौढ़े हुए थे। वहीं उनकी नाभि से सूक्ष्मतत्व, कमलकोश के रूप में, सहसा ऊपर उठ आया। उस कमल से ब्रह्मा प्रकट हुए; उन्हें स्वयम्भू भी कहते हैं। ब्रह्मा को जब कोई लोक दिखाई नहीं दिया, तब वे आकाश में चारों ओर देखने लगे। इससे उनके चारों दिशाओं में चार मुख हो गये। पुनः वे सोचने लगे कि मैं कौन हूँ? यह कमल भी, बिना किसी आधार के, जल में कहां से उत्पन्न हो गया? इसका आधार अवश्य कोई नीचे की वस्तु होनी चाहिए। ऐसा सोचकर वे कमल की नाल के छिद्रों से होकर जल में घुसे। आधार तक पहुँचने की इच्छा से अपने उत्पत्ति-स्थान की खोज करते-करते ब्रह्मा को बहुत दिन बीत गये। अन्त में वे विफलमनोरथ होकर लौट आये और फिर समाधि में स्थित हो गए। अच्छी

तरह योगाभ्यास करने पर ब्रह्मा को ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने उस अधिष्ठान को हृदय में ही प्रकाशित देखा। उन्होंने देखा कि शेषशैया पर पुरुषोत्तम भगवान अकेले ही लेटे हैं और शेष के दस सहस्र फण ऊपर छत्र-से शोभायमान हो रहे हैं और वे नागराज अनन्त नारायण-जैसे ही जान पड़ते हैं। तब ब्रह्मा ने कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर—केवल ये पांच पदार्थ ही देखे। अतः वे लोक-रचना की उत्सुकता से अचिन्त्यगति श्रीहरि की वन्दना करने लगे—

'प्रभो! बहुत समय के अनन्तर आज मैं आपको जान सका हूँ। भगवन्! आपके सिवा और कोई वस्तु सत्य नहीं है। परमात्मन्! आपका आनन्द मात्र अभेदात्मक अखण्ड तेजोमय स्वरूप है। इसलिए मैंने आपके इस अद्वितीय रूप की शरण ली है। यही समस्त भूतों और इन्द्रियों का अधिष्ठान है। हे विश्व-कल्याणमय! मैं आपका उपासक हूँ। जो पापात्मा विषयासक्त जीव हैं, उन्हें यह रूप अप्राप्य है। जबतक जीव आपके चरणार-विन्दों का आश्रय नहीं ले लेता, तबतक उसे धन, गृह, भय, शोक, लालसा, दैन्य और लोभ आदि सताते हैं और तभीतक 'मैं' और 'मेरे' पन का दुराग्रह उसे रहता है। जबतक मनुष्य, इन्द्रिय और विषय-रूपी माया के प्रभाव से, अपने आपको भिन्न देखता है, तबतक इस संसार-चक्र से वह छूटता नहीं है। आपका मार्ग केवल आपके गुण-श्रवण से ही जाना जा सकता है। पुण्य-श्लोक! भक्तजन आपका चिन्तन करते है, और उन साधु पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए आप उनकी मनोकामनाएँ पूरी करते हैं। भगवन्! आप एक हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरणों में स्थित अन्तरात्मा हैं। आपकी प्रसन्नता और प्रीति प्राप्त करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्मफल है। संसार की उत्पत्ति और संहार के निमित्त जो माया की लीला होती है, वह आपका खेल है। जो

लोग प्राणत्याग करते समय आपके नामों का स्मरण और उच्चारण करते हैं, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं और वे ब्रह्मपद प्राप्त कर लेते हैं। हे अनन्त, मैं आपको नमस्कार करता हूं। आप नित्य हैं, अजन्मा हैं। प्रमाद-अवस्था में पड़े जीवों को सावधान करनेवाला बलवान काल भी आपका ही एक रूप है। यह समस्त विश्व आपके उदर में स्थित है। आप सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र सुहृद और आत्मा हैं, तथा भक्तवांछा-कल्पतरू हैं। आप अपार करुणा-मय पुराणपुरुष हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।'

मैत्रेयमुनि कहते हैं—'विदुर! इस प्रकार भगवान को देख तथा स्तुति कर ब्रह्माजी मौन हो गये। तब उन्हें खिन्न देखकर और उनका अभिप्राय जान कर भगवान ने उनसे कहा—'वेदगर्भ! तुम विषाद के वश होकर प्रमाद न करो, वरन् सृष्टि की रचना में तत्पर हो जाओ। तुम एक बार फिर तप करो और भगवत-ज्ञान का अनुष्ठान करो। फिर तुम सम्पूर्ण लोक और अपने में भी मुझको व्याप्त देखोगे तथा मुझमें सम्पूर्ण लोक एवं अपने आपको भी देखोगे। जिस समय जीव, काष्ठ में व्याप्त अग्नि के समान समस्त भूतों में मुझे ही स्थित देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञान रूप से मुक्त हो जाता है। सगुण प्रतीत होने पर भी जो मेरा निर्गुणरूप वर्णन करते हुए तुमने मेरी स्तुति की है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। तत्ववेत्ताओं का मत है कि पूर्त, यज्ञ, दान, योग और समाधि आदि साधनों से प्राप्त होनेवाला जो परम कल्याणरूप फल है, वह मेरी प्रसन्नता है। मैं आत्माओं और प्रियों का भी प्रिय हूँ। अतः मुझसे ही अनन्य-भाव से प्रेम करना श्रेयस्कर है।'

कमलनाभ भगवान सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को इस प्रकार जगत् की अभिव्यक्ति कराकर अपने उस नारायण-रूप से अन्तर्धान हो गए।

ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की रचना

तब भगवान के कहने के अनुसार ब्रह्मा ने अपने चित्त को आत्मस्वरूप नारायण में स्थित कर कठिन तप किया। इसके बाद उन्होंने उस कमलकोश में प्रवेश किया और उसके भूः, भुवः और स्वः ये तीन भाग किये। जीवों के भोगस्थान के रूप में इन्हीं तीन लोकों का शास्त्रों में वर्णन हुआ है। पहले यह सारा विश्व भगवान की माया से लीन होकर ब्रह्मरूप में स्थित था। उसी को अव्यक्त मूर्ति काल के द्वारा भगवान ने पुनः पृथक्‌रूप से प्रकट किया है। इसकी सृष्टि नौ प्रकार की होती है और प्राकृत-वैकृत भेद से एक दसवीं सृष्टि और भी है। पहली सृष्टि महत्-तत्व की है। भगवान की प्रेरणा से सत्वादि गुणों में विषमता होना ही उसका स्वरुप है। दूसरी सृष्टि अहंकार की है। इससे पृथिवी आदि पंचभूत तथा ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तीसरी सृष्टि भूतसर्ग है। इसमें पंचमहाभूतों को उत्पन्न करनेवाला तन्मात्रवर्ग रहता है। चौथी सृष्टि इन्द्रियों की है। यह ज्ञान और क्रियाशक्ति से सम्पन्न होती है। पांचवीं सृष्टि सात्विक अहंकार से उत्पन्न इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं की है। मन भी इसी सृष्टि के अन्तर्गत है। छठी सृष्टि अविद्या की है। इसमें तामिस्र, अंधतामिस्र तम, मोह और महामोह ये पाँच ग्रन्थियाँ है। यह जीवों की बुद्धि पर आवरण डालनेवाली और विक्षेप करनेवाली है। सातवीं प्रधान वैकृत सृष्टि छः प्रकार के स्थावर वृक्षों की होती है। इनका संचार जड़ से ऊपर की ओर होता है। इनमें प्रायः ज्ञान शक्ति प्रकट नहीं रहती। प्रत्येक में कोई विशेष गुण रहता है। आठवीं सृष्टि पशु-पक्षियों (तिर्यग्-योनियों) की है। इन्हें सूँघने मात्र से वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इनके हृदय में विवेक शक्ति या दूरदर्शिता नहीं होती। नवीं सृष्टि मनुष्यों की है। ये रजोगुणप्रधान, कर्मपरायण और दुःख-रूप विषयों में

ही सुख माननेवाले होत हैं। दसवीं में देवता, प्रेत, पितर और असुरादि हैं।

सृष्टि के निर्माण में सबसे पहले उन्होंने अज्ञान की पाँच वृत्तियां—तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) रचीं। जब इनसे उनकी प्रसन्नता नहीं हुई तब उन्होंने मन को पवित्र कर दूसरी सृष्टि रची। इस बार उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक चार मुनियों को उत्पन्न किया। वे जन्म से ही मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाले तथा भगवद्-ध्यान-परायण थे। उन्हें सृष्टि उत्पन्न करने को अनिच्छुक देख ब्रह्मा को असह्य क्रोध हुआ। वह क्रोध तत्काल एक बालक के रूप में प्रकट हो गया। वे भगवान 'भव' के नाम से प्रसिद्ध हुए। जन्मोपरान्त उन्होंने विधाता से रो-रोकर अपने रहने का स्थान माँगा।

तब भगवान ब्रह्मा ने मधुरवाणी में उनसे कहा—"रोओ मत! जन्म लेते ही तुम फूट-फूटकर रोने लगे, इसलिए प्रजा तुम्हें 'रुद्र' नाम से पुकारेगी। तुम्हारे रहने के लिए मैंने पहले से ही हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, तप आदि स्थान रच दिये हैं। तुम्हारे नाम मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत होंगे। धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा—ये ग्यारह रुद्राणियाँ तुम्हारी पत्नियाँ होंगी। तुम बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करो।"

ब्रह्मा से ऐसी आज्ञा पाकर रुद्र भयंकर आकार और स्वभाववाली भूत-पिशाच जैसी अनेक प्रजा उत्पन्न करने लगे। उनके वे पुत्र सारे संसार का नाश करने लगे। इससे ब्रह्मा को बड़ी चिंता हुई। उन्होंने रुद्र से कहा—"तुम्हारी प्रजा तो अपनी भयंकर दृष्टि से मुझे और सारी दिशाओं को भी भस्म करना चाहती है। अतः

ऐसी सृष्टि मत रचो। अब तुम तप करो, जिससे पूर्ववत् सृष्टि की रचना सम्भव हो सके।"

रुद्र 'बहुत अच्छा' कहकर घोर तपस्या करने लगे। इसके बाद भगवान की शक्ति से सम्पन्न ब्रह्मा ने पुनः सृष्टि-रचना के लिए संकल्प किया। तब उनके दस पुत्र और उत्पन्न हुए। उनके नाम हैं-मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद।

ब्रह्मा के मुखों से वेद, उपवेद, न्यायशास्त्र आदि, तथा धर्म के चार चरण—विद्या, दान, तप और सत्य, और चारों आश्रम तथा उनकी वृत्तियाँ और 'ॐकार' प्रकट हुए। फिर भी सृष्टि का अधिक विस्तार न होते देख, उन्होंने स्वायम्भुव मनु और शतरूपा के रूप में पुरुष और स्त्री की एक जोड़ी उत्पन्न की।

जन्म के बाद मनु ने बड़ी नम्रता से ब्रह्मा से पूछा—"भगवन्! हम ऐसा कौनसा कर्म करें, जिससे आपकी सेवा बन सके? हमें ऐसे कार्य की आज्ञा दीजिये, जिससे हमें परलोक में सद्गति प्राप्त हो।" ब्रह्मा ने कहा—"तुम प्रजा उत्पन्न कर पृथ्वी का पालन और यज्ञों द्वारा श्रीहरि की आराधना करो।" तब मनु ने उनसे प्रार्थना की—"इस जगत् में मेरे और मेरे भावी प्रजाजनों के रहने के लिए स्थान बतलाइये। पृथ्वी तो इस समय जल में डूबी है।"

ब्रह्मा देर तक सोचते रहे कि 'इस डूबी हुई पृथ्वी का किस प्रकार उद्धार करूँ; श्रीहरि ही मेरा यह काम पूरा करें।' उसी समय एक वाराह-शिशु प्रकट हुआ। वह क्षणभर में ही विशाल आकार का हो गया। गरज कर, पहले वे, शूकररूप भगवान बड़े वेग से आकाश में उछले और फिर जल में घुस गए। रसातल में पृथ्वी उन्हें मिली, और उसे अपनी दाढ़ों पर उठाकर वे ऊपर लाये। जल से बाहर आते समय हिरण्याक्ष ने जल के भीतर ही उनपर गदा से आक्रमण किया। भगवान ने क्षण मात्र में उसे

मार डाला। जैसे गजराज अपने दाँतों पर कमलपुष्प धारण कर ले, इसी प्रकार अपने सफेद दाँतों की नोक पर पृथ्वी को धारण कर जल से बाहर निकलते हुए भगवान वाराह की ब्रह्मा और मरीचि आदि ऋषियों ने स्तुति की--

"भगवन अजित्! आपको हमारा नमस्कार है। पृथ्वी का उद्धार करने के लिए ही आपने यह शूकररूप धारण किया है। यह आपका शरीर यज्ञरूप है। समस्त मन्त्र, देवता, द्रव्य, यज्ञ और कर्म आपके स्वरूप हैं। वैराग्य, भक्ति और मन की एकाग्रता से जिस ज्ञान का अनुभव होता है, वह आप ही हैं। नाथ! चराचर जीवों के सुखपूर्वक रहने के लिए आप अपनी पत्नी, इन जगन्माता पृथ्वी, को जल पर स्थापित कीजिये। आपको और माता पृथ्वी को हमारा प्रणाम है।"

सनकादि द्वारा भगवान के पार्षदों को शाप

वाराह भगवान की कथा को मैत्रेयमुनि के मुख से सुनने पर भी विदुर को सन्तोष नहीं हुआ। अतः शंका-निवारण के लिए उन्होंने उनसे पूछा—"मुनिश्रेष्ठ! यह हिरण्याक्ष कौन था और किस कारण भगवान से उसकी मुठभेड़ हुई?"

मैत्रेय ने कहा—"विदुर! सनकादि ऋषि लोकों की आसक्ति त्यागकर समस्त लोकों में विचरण करते थे। पूर्ण तत्वज्ञ होने पर भी वे चारों पाँच वर्ष के बालकों-जैसे लगते थे। एक बार वे भगवान विष्णु के शुद्ध सत्वमय वैकुण्ठधाम में जा पहुँचे। वहाँ सभी विष्णुरूप होकर रहते हैं और वह रूप प्राप्त भी उन्हीं को होता है, जो उनकी आराधना करते हैं। जब सनकादि मुनीश्वर श्रीहरि के निवासस्थान पर पहुँचे तो उन्हें बड़ा ही आनन्द हुआ। भगवद्दर्शन की लालसा से जब वे वैकुण्ठधाम के छः द्वारों को पार कर सातवें पर पहुँचे तो उन्हें हाथ में गदा लिये दो समान आयुवाले देवश्रेष्ठ दिखलाई दिये। यद्यपि वे आभूषणों से सुसज्जित थे, पर

उनके चेहरों पर कुछ क्षोभ के चिह्न दिखाई दे रहे थे। उनसे बिना पूछे मुनियों ने सातवें द्वार में प्रवेश करना चाहा। उन्हें इस प्रकार निस्संकोच भाव से भीतर जाते देखकर उन द्वारपालों ने उनकी उपेक्षा की और उन्हें रोक दिया। इससे मुनीश्वरों के नेत्र सहसा क्रोध से लाल हो उठे और उन्होंने कहा—

'अरे द्वारपालो ! जो लोग भगवान की महती सेवा के प्रभाव से इस लोक को प्राप्त होकर यहाँ निवास करते हैं, वे तो भगवान के समान ही समदर्शी होते हैं। तुम दोनों भी उन्हींमें से हो। फिर तुम्हारे स्वभाव में ऐसी विषमता क्यों ? भगवान तो परम-शान्तस्वभाव हैं, उनका किसी से विरोध नहीं, फिर यहाँ ऐसा कौन है, जिसपर शंका की जा सके ? तुम स्वयं कपटी हो, इसी से औरों पर भी शंका करते हो। भगवान में ही यह सारा ब्रह्मांड स्थित है। इसलिए यहाँ रहनेवाले ज्ञानीजन सर्वात्मा श्रीहरि से अपना कोई भेद नहीं देखते। महाकाश में घटाकाश की भाँति उनमें से अपना अन्तर्भाव देखते हैं। तुम तो देव-रूप-धारी हो, फिर भी तुम्हें ऐसा क्या दिखाई देता है, जिससे तुमने होनेवाले भय की कल्पना की ? भगवान के पार्षद होने पर भी तुम्हारी बुद्धि मन्द ही रही। अतः तुम वैकुण्ठलोक से च्युत होकर उन पापमय योनियों में जाओ, जहाँ प्राणियों के तीन परम शत्रु—काम, क्रोध और लोभ निवास करते हैं। तुम्हारे अपराध के योग्य यही दण्ड है।' सनकादि के ये कठोर वचन सुनकर वे दोनों पार्षद अत्यन्त दीन हो, उनके चरणों पर गिर पड़े और विकल होकर कहने लगे—

'हम अवश्य अपराधी हैं। हमने भगवान का अभिप्राय न समझकर उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया है। किन्तु हमारी दुर्दशा का विचार कर ऐसी कृपा कीजिये, जिससे उन अधमाधम योनियों में जाने पर भी हमें भगवत्स्मृति को नष्ट करनेवाला 'मोह' प्राप्त

न हो।' इधर जब भगवान कमलनाभ को मालूम हुआ कि मेरे द्वारपालों ने सनकादि ऋषियों का अनादर किया है, तब वे लक्ष्मी के सहित शीघ्र स्वतः वहाँ उपस्थित हो गये। सनकादि ने उन समस्त सद्‌गुणों के आश्रय लक्ष्मी के साथ वैकुण्ठनाथ को जब स्वयं वहाँ देखा तो वे कृतकृत्य हो गये। उन्होंने उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार स्तुति की—'हे अनन्त! आज हमारे नेत्रों के सामने आप साक्षात खड़े हैं। हम धन्य हैं। हम आपको साक्षात परमात्मतत्व ही जानते हैं।' आपका सुयश अत्यन्त कीर्तनीय और सांसारिक क्लेशों का निवारण करनेवाला है। आपकी कथा मोक्षपद देनेवाली है। विपुलकीर्ति प्रभो! हमारे सामने जो यह आपका मनोहर रूप प्रकट हुआ है, वह जन मुग्धकारी अति ललाम है। हम आपको बारबार प्रणाम करते हैं।'

तब भगवान ने उनसे कहा—'मुनिगण! ये जय-विजय मेरे दोनों पार्षद हैं। इन्होंने आपका बहुत बड़ा अपराध किया है। आप मेरे अनुगत भक्त हैं। अतः आपने इन्हें जो दण्ड दिया, वह मुझे भी अभिमत है। मेरे अनुचरों के द्वारा जो आप लोगों का यह तिरस्कार हुआ है, उसे मैं अपना ही किया हुआ मानता हूँ। इसलिए मैं आप लोगों से प्रसन्नता की भिक्षा मांगता हूं। जो कोई आपके विरुद्ध आचरण करेगा, वह मेरा अपना ही क्यों न हो, अवश्य दण्ड का भागी होगा। आप लोगों की सेवा करने से मैं पवित्र होता हूँ। मेरे अनुरोध से इन दोनों पर अब इतनी कृपा कीजिये कि इनका यह निर्वासन-काल जल्दी ही समाप्त हो जाय और अपने अपराध के अनुरूप अधमगति को भोगकर ये शीघ्र मेरे पास लौट आयँ।'

भगवान की इस अद्‌भुत विनम्रता को देखकर सनकादि मुनि बहुत आनन्दित हुए और कहने लगे—'भगवन! आप सर्वेश्वर होकर भी जो यह कह रहे हैं कि 'यह आपने मुझपर

बड़ा अनुग्रह किया' इसका अभिप्राय हम नहीं जान सके हैं। देवताओं के देवता ब्रह्मा के भी आप ही आत्मा और आराध्यदेव हैं। सनातन धर्म आपसे ही कहा गया है और समय-समय पर आपके अवतारों द्वारा ही इसकी रक्षा होती है। निर्विकार-रूप आप ही धर्म के परमगूढ़ रहस्य हैं, ऐसा शास्त्रों का मत है। आपकी कृपा से निवृत्ति-परायण योगीजन सहज ही संसार-सागर को पार कर जाते हैं। फिर कोई दूसरा आपपर क्या कृपा कर सकता है? आप अपने भक्तों पर विशेष प्रेम रखते हैं। आप स्वयं ही सम्पूर्ण भजनीय गुणों के आश्रय हैं और साक्षात धर्मस्वरूप हैं। आप हमारे रजस् और तमोगुणों को दूर कर दीजिए। आप सत्वगुण की खान हैं और सभी जीवों का कल्याण करते हैं। सर्वेश्वर! इन द्वारपालों जैसा उचित समझें दण्ड दें वा पुरस्कृत करें, हम निष्कपट भाव से आपसे सहमत हैं। हमने आपके इन निरपराध अनुचरों को शाप दिया है; इससे उचित है कि आप हमें ही दण्ड दें।'

तब भगवान ने कहा—"मुनीश्वरो! अपने मेरी ही प्रेरणा से इन्हें शाप दिया है। अब ये शीघ्र ही दैत्य-योनि पायँगे और वहां क्रोधावेश से बढ़ी हुई एकाग्रता के कारण सुदृढ योगसम्पन्न होकर जल्द ही मेरे पास लौट आयँगे।"

मुनियों ने भगवान जनार्दन की प्रदक्षिणा की और प्रणाम कर, उनका गुणगान करते हुए, वे वहां से चले गये। तब भगवान ने अपने अनुचरों से कहा—"जाओ, किसी प्रकार का खेद न करो। तुम्हारा कल्याण ही होगा। मैं समर्थ होकर भी ब्रह्मतेज की उपेक्षा करना नहीं चाहता। एक बार जब योगनिद्रा में मैं स्थित था, तब तुमने द्वार में प्रवेश करती हुई लक्ष्मी को भी रोका था। उस समय क्रुद्ध होकर यह शाप पहले ही उन्होंने तुम्हें दे दिया था। अब मेरे प्रति एकाग्रचित्त-क्रोधाकार-वृत्ति रहने पर तुम दोनों, दैत्य-

योनियों से पापमुक्त हो शीघ्र ही मेरे पास लौट आओगे।" द्वारपालों को इस प्रकार सान्त्वना देकर भगवान निज धाम को चले गये। वे देवश्रेष्ठ जय-विजय ब्रह्मशाप से श्रीहीन हो गये, और उनका सारा तेज नष्ट हो गया। बैकुंठलोक से च्युत होकर उन्होंने ही दिति के गर्भ में प्रवेश किया।

दिति महर्षि कश्यप की पत्नी थीं। उन्हें ज्ञात था कि उनके भावी पुत्र देवताओं को कष्ट देनेवाले होंगे और साक्षात् हरि के हाथों मारे जायंगे। कुछ समय बीतने पर उनके दो यम पुत्र हुए। उनके जन्म लेते ही स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष में अनेक उत्पात होने लगे। बार-बार भूकंप और ग्रहण होने लगे, सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर अमंगलसूचक मंडल बैठने लगे, दिशाओं में अन्धकार छा गया, आकाश से तारे टूटने लगे, जगह-जगह उल्कापात होने लगा। आकाश में अनिष्टसूचक पुच्छल तारे दिखाई देने लगे। समुद्र दुखी मनुष्य की भाँति कोलाहल करने लगा, उसमें ऊँची-ऊँची तरंगें उठने से भीतर रहनेवाले जीवों में बड़ी हलचल मच गई। गौओं के थनों से दूध के बदले रक्त चूने लगा, बादल पीब की वर्षा करने लगे, देवमूर्तियों की आँखों से आँसू बहने लगे और बिना ही हवा के वृक्ष धराशायी होने लगे। वे दोनों दैत्य शीघ्र ही विशालकाय और अद्भुत पराक्रमशील हो गये। महर्षि कश्यप ने बड़े पुत्र का नाम हिरण्यकशिपु और छोटे का हिरण्याक्ष रक्खा।

हिरण्याक्ष-वध

वे दोनों दैत्य ब्रह्माजी के वर से, मृत्युभय से मुक्त हो जाने के कारण, बड़े उद्धत हो गये। अपनी भुजाओं के बल से त्रिलोक को उन्होंने अपने वश में कर लिया। एक दिन हिरण्याक्ष युद्ध का अवसर ढूँढ़ता हुआ हाथ में गदा लिये स्वर्गलोक में जा पहुँचा। उसका वेग प्रचण्ड था। ब्रह्मा के वर ने और उसके शारीरिक तथा

मनोबल ने उसे मतवाला कर रखा था। उसे देखकर देवता डर से छिप गये। हिरण्याक्ष ने जब देखा कि स्वर्ग में उसका मुकाबला करनेवाला कोई भी नहीं है, तब वह वरुण की राजधानी विभावरीपुरी में जा पहुँचा। वहाँ पाताललोक के स्वामी वरुण की उसने उपेक्षा की और व्यंग्यभाव से कहा--"महाराज! मुझे युद्ध की भिक्षा दीजिए। पहले एक बार आपने संसार के दैत्य-दानवों को जीतकर राजसूय-यज्ञ भी किया था।"

वरुणदेव को क्रोध तो हुआ; किन्तु उसका शमन कर उन्होंने उससे कहा--"भाई, अब हमें तो युद्धादि की इच्छा नहीं रह गई है। भगवान पुराणपुरुष के सिवा हमें और कोई ऐसा दीखता भी नहीं, जो तुम-जैसे रणकुशल वीर को युद्ध में सन्तुष्ट कर सके। तुम उन्हींके पास जाओ, वे ही तुम्हारी युद्धकामना पूरी करेंगे, जिससे तुम्हारा नाम वीरों में अमर हो जायगा।"

यह सुनकर वह मदोन्मत्त दैत्य बडा प्रसन्न हुआ और श्रीहरि का पता लगाकर रसातल में जा पहुँचा। वहां उसने वाराह भगवान को पृथ्वी को ऊपर की ओर ले आते हुए देखा। वह विचार करने लगा–अरे! यह जंगली पशु यहां जल में कहां से आया! फिर उसने वाराह को सम्बोधित कर कहा–'अरे नासमझ! इस पृथ्वीको छोड़ दे। विश्वविधाता ने हम रसातल-वासियों के लिये ही इसका सृजन किया है। मेरे देखते तू इसे लेकर कुशलतापूर्वक नहीं जा सकता, तू माया से ही दैत्यों को जीत लेता है। क्या इसीलिए देवताओं ने हमारा नाश करने के लिए, तुझे पाल रखा है? तेरा बल तो योगमाया ही है। और कोई पुरुषार्थ तुझमें थोड़े ही है? आज तेरा अंत कर मैं अपने बन्धुओं का शोक दूर करूंगा। जब मेरी गदा के प्रहार से तू मर जायगा, तब तेरी आराधना करने वाले देवता और मुनि जड़-कटे वृक्ष की भांति स्वयं गिर पडेंगे।'

हिरण्याक्ष ऐसे-ऐसे दुर्वचनों से भगवान को बेध रहा था,

फिर भी उन्होंने दांत की नोक पर स्थित पृथ्वी को भयभीत देख, उसे सहन किया और जल से बाहर निकल आये। वह दैत्य उनका पीछा करता हुआ फिर कहने लगा—'तुझे इस तरह भागने में शर्म नहीं आती ? सच है, असत् पुरुष क्या नहीं कर सकते ?'

तब भगवान ने पृथिवी को जल के ऊपर रख, उसमें अपनी आधारशक्ति की सृष्टि कर दी। इसके बाद श्रीहरि ने गदाधारी हिरण्याक्ष से क्रोधपूर्वक, पर हंसते हुए, कहा—अरे दुष्ट ! सचमुच ही हम जंगली जीव हैं और हममें सामर्थ्य कहां, जो तुझ-जैसे वीर का सामना कर सकें ? फिर तुझ जैसे बलवान से बैर बिसाह कर हम भाग भी कहां सकते हैं ? तू वीरों का सरदार है, अतः निश्शंक होकर हमारे अनिष्ट करने का प्रयत्न कर और हमें मार-कर तू अपने भाई-बन्धुओं को श्रद्धाजलि दे। जो अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता, वह असभ्य गिना जाता है। अब तू देर न कर।'

जब भगवान ने रोष से उस दैत्य का इस प्रकार तिरस्कार किया, तब वह क्रोध से तिलमिला उठा और उसने बड़े वेग से भगवान पर अपनी गदा का प्रहार किया। भगवान शत्रु की गदा का वार बचाकर उसकी ओर झपटे। श्रीहरि और हिरण्याक्ष अब एक-दूसरे पर भारी गदाओं से प्रहार करने लगे। इस प्रकार हिरण्याक्ष और भगवान यज्ञमूर्ति पृथिवी की रक्षार्थ युद्ध करने लगे।

भगवान ने जब झपट कर शत्रु पर गदा का प्रहार किया, तब हिरण्याक्ष की गदा से टकराकर वह गदा भगवान के हाथ से छूट गई। हिरण्याक्ष ने उस समय उन्हें निःशस्त्र देखकर युद्धधर्म का पालन करते हुए उनपर आक्रमण नहीं किया। प्रभु ने उसकी इस धर्मबुद्धि की प्रशंसा की और फिर अपने सुदर्शन चक्र का स्मरण किया। चक्र तुरन्त ही उपस्थित होकर भगवान के हाथ में घूमने लगा। भगवान के हाथ में सुर्शन चक्र देख, उसने 'ले, अब तू न

बचेगा, यह कह गदा का विकट प्रहार किया। वाराह भगवान ने उसकी वह गदा पृथ्वी पर गिरादी। तब उसने प्रज्वलित अग्नि के समान एक त्रिशूल लिया, जिसे भगवान ने चक्र से काट डाला। अब क्रुद्ध होकर वह महामायावी दैत्य श्रीहरि पर अनेक प्रकार की मायाओं का प्रयोग करने लगा; किन्तु उस आसुरी मायाजाल को वाराह भगवान ने अपने सुदर्शन से नष्ट कर दिया। अपनी माया विफल हुई जानकर उसने भगवान के हृदय स्थल पर मुष्टिका का प्रहार किया। भगवान ने उस वज्ररूपी प्रहार को इस प्रकार सहन किया जैसे दुर्जनों के दुर्वाक्य संत सहते हैं। तत्पश्चात् भगवान ने उसकी कनपटी पर एक ऐसा तमाचा मारा कि उसकी चोट से उसके नेत्र बाहर निकल आये। वह निष्प्राण होकर पृथिवी पर गिर पड़ा और वीरगति को प्राप्त हो गया।

इस प्रकार महापराक्रमी हिरण्याक्ष का वध करके भगवान आदिदेव अपने अखण्ड आनन्दमय धाम को पधार गये।

भगवान कपिल का माता देवहूति को उपदेश

विदुरजी ने मैत्रेयमुनि से पूछा—"भगवन! स्वायम्भुव मनु की पुत्री, जो देवहूति नाम से विख्यात थीं और कर्दम मुनि को ब्याही गई थीं, उस देवी की कथा मुझे सुनाइये।"

मैत्रेय ने कहा—"कर्दममुनि ने अनेक वर्षों तक सरस्वती नदी पर एकाग्र चित्त से श्रीहरि की आराधना की थी। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर कमलनयन भगवान ने उनको दर्शन दिये। कर्दमजी ने उन्हें सम्बोधित कर कहा—'परमेश्वर! आप सम्पूर्ण सत्त्वगुण के आधार हैं। आज आपका दर्शन पाकर हमें नेत्रों का फल मिल गया। आपके चरणकमल भवसागर पार करने की सुदृढ़ नौका हैं। जिसकी बुद्धि आपकी माया से भ्रमित हो गई है, वे ही क्षणिक विषय-सुखों का आश्रय लेते हैं। प्रभो! आप कल्प-वृक्ष के समान सभी मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं। नाथ! आप

स्वरूपों से निष्क्रिय होने पर भी उपासना करनेवालों पर अभिलषित वस्तुओं की वर्षा कर देते हैं। आपको मेरा नमस्कार है।'

भगवान ने कहा—"महामुने ! तुमने आत्मसंयमादि द्वारा मेरी आराधना की है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। सम्राट् स्वायम्भुव मनु महारानी शतरूपा के साथ तुमसे मिलने के लिए यहाँ आयंगे। उनकी अनेक गुणों से सम्पन्न कन्या देवहूति सर्वविधि तुम्हारे योग्य है। वे तुम्हींको उसे अर्पण करेंगे ! मैं उसके गर्भ से तुम्हारे यहाँ अवतीर्ण होकर सांख्यशास्त्र की रचना करूँगा। जीवों पर दया करते हुए तुम आत्मज्ञान प्राप्त करोगे और सबको अभयदान देकर सम्पूर्ण जगत को मुझमें और मुझको अपने में स्थित देखोगे।'

मैत्रेयमुनिजी कहते हैं—'भगवान के कथनानुसार कुछ समय बाद महाराज, महारानी शतरूपा और कन्या देवहूति के साथ महर्षि कर्दम के आश्रम पर पहुँचे। महाराज स्वायम्भुवमनु को अपनी कुटी में आकर प्रणाम करते देख, उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दे, उनका यथोचित सत्कार किया और उनसे पूछा—'इस समय यहाँ आपका आगमन किस प्रयोजन से हुआ है ? मेरे लिए जो आज्ञा होगी, उसे मैं सहर्ष स्वीकार करूंगा।"

मनुजी ने कहा—"मुने ! वेदमूर्ति भगवान ब्रह्मा ने अपने वेदमय विग्रह की रक्षा के लिए तप, विद्या और योग से सम्पन्न तथा विषयों में अनासक्त आप-जैसे को प्रकट किया है। आपके दर्शनमात्र से मेरे सन्देह दूर हो गये। आपने धर्मों का बड़ा सूक्ष्म निरूपण किया है। यह मेरी कन्या प्रियव्रत और उत्तानपाद की बहन है। जबसे इसने आपके गुणों का वर्णन सुना है, तभी से यह आपको अपना पति बनाने का निश्चय कर चुकी है। मैं बड़ी श्रद्धा से यह कन्या आपको समर्पित करता हूँ; आप इसे ग्रहण कीजिए।'

कर्दम मुनि ने कहा—"अपनी प्रसन्नता के लिए मैं इस साध्वी कन्या को ग्रहण करता हूँ; किन्तु जबतक इसके सन्तान न हो जायगी तभी तक इसके साथ गृहस्थ-धर्म का पालन करूंगा। इसके बाद भगवान के बतलाये हुए संन्यास-प्रधान धर्मों को ही मैं अधिक महत्व दूँगा। जिनसे इस जगत की उत्पत्ति हुई है, जिनमें यह लीन हो जाता है और जिनके आश्रय से यह स्थित है, मुझे तो वे प्रजापतियों के भी पति भगवान अनन्त ही सबसे अधिक मान्य हैं।"

मनुजी ने महर्षि कर्दम की शर्त स्वीकार कर, अपनी गुणवती कन्या प्रसन्नतापूर्वक उन्हें प्रदान कर दी। महाराजा मनु अनासक्त पुरुष थे। वे निरन्तर श्रीहरि की कथाएं ही सुना करते थे। भगवान विष्णु की कथाओं का श्रवण, ध्यान, और निरूपण करते रहने के कारण उनका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता था। विदुरजी! जो पुरुष श्रीहरि के आश्रित रहता है, उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक अथवा भौतिक कष्ट कैसे दुखी कर सकते हैं? मनुजी निरन्तर समस्त प्राणियों के हित में लगे रहते थे। उन्होंने मनुष्यों, वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों का भी वर्णन किया है, यह अब भी उपलब्ध है।'

'विदुरजी! इधर देवहूति प्रतिदिन कर्दमजी की प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी। एक बार कठिन व्रतादि पालन करने के कारण उसे कृश देखकर कर्दमजी ने उससे कहा—'मनुनंदिनी! तुमने मेरी बड़ी सेवा की है। मैं तुम्हारी उत्तम सेवा और परमभक्ति से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। अपने धर्म का पालन करते रहने से मुझे तप, समाधि, उपासना और योग के द्वारा भगवत-प्रसाद-स्वरूप विभूतियां प्राप्त हुई हैं, उनपर अब तुम्हारा भी अधिकार हो गया है।'

देवहूति ने प्रेम-गद्गद् वाणी से कहा—'स्वामिन्! मैं यह जानती हूं कि कभी निष्फल न होने वाली योगशक्ति और त्रिगुण-

त्रिगुणात्मक माया पर अधिकार रखने वाले आपको ये सब ऐश्वर्य प्राप्त हैं। मुझे भूमंडल देखने की इच्छा है, इसलिए उसके देखने की व्यवस्था कृपया कर दीजिये। कर्दमजी ने कहा—'मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान करता हूँ। उसके द्वारा तुम उसे देखो।'

देवहूति को जब दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई तब उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि कर्दम मुनि ने एक सुन्दर विमान रचा है, जो सर्वत्र सुविधा से जा सकता है। यह विमान सभी मनचाहे भोग-सुखों के साधनों से युक्त है। उन्होंने देवहूति को उसपर चढ़ने की आज्ञा देते हुए कहा तुम इस बिन्दु-सरोवर में स्नान कर, विमान पर चढ़ जाओ। यह विष्णु भगवान का रचा हुआ तीर्थ मनुष्यों की सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। देवहूति ने अपने पतिदेव की आज्ञा मानकर सरस्वती के पवित्र जल से भरे उस सरोवर में प्रवेश किया। सरोवर में गोता लगाने पर उसने उसके भीतर एक महल में अनेक कन्याएं देखीं। उसे देखते ही वे सभी खड़ी हो गईं और कहने लगीं कि हम आपकी दासियां हैं। हम आपकी क्या सेवा करें ? आप हमें आज्ञा दीजिए। उन रमणियों ने देवहूति को स्नान कराया और नाना प्रकार के अंगरागादि और आभूषणों से और अलंकृत कर दिया। फिर कर्दमजी के साथ उसने विमान पर चढ़कर अनेक सुन्दर स्थानों का निरीक्षण किया। इस प्रकार महायोगी कर्दमजी यह सारा भूमंडल, जो विचित्र रचना के कारण बड़ा आश्चर्यमय प्रतीत होता है, अपनी प्रिया को दिखाकर लौट आये।

इसके बाद कर्दमजी ने देवहूति से कहा–'तुमने जो कुछ देखा या अनुभव किया, वह मेरी दिव्य दृष्टि के प्रभाव से ही तुम्हें प्रतीत होता था। यह संसार मिथ्या है, इसलिए सांसारिक भोगों से अपने मन को हटाकर श्रीहरि के चरणों में चित्त लगाने से ही मनुष्य इस संसार-सागर को सरलता से पार कर सकता है।

देवहूति के नौ कन्याएं पैदा हुईं। जब उसने देखा कि उसके पतिदेव, संन्यासाश्रम ग्रहण कर, वन को जाना चाहते हैं, तब उसने अति मधुरवाणी में कहा 'भगवन्! इन कन्याओं के लिए वर खोजना पड़ेंगे। आपके वन चले जाने के बाद मेरे शोक को दूर करने वाला भी कोई होना चाहिए। अज्ञानवश असत् पुरुषों के साथ किया हुआ जो संग संसार-बन्धन का कारण होता है, वही सत्पुरुषों के साथ होने पर असंगता अर्थात् अनासक्ति प्रदान करता है, संसार में जिस पुरुष के कर्मों से न तो धर्म का सम्प्रदान न वैराग्य-उत्पत्ति और न भगवान की सेवा ही सम्पन्न होती हैं, वह पुरुष जीते ही मुर्दे के समान हैं। आप जैसे भक्तिदाता पति को पाकर भी मैंने संसार-बन्धन से छूटने की इच्छा नहीं की।

देवहूति ने जब ऐसी वैराग्ययुक्त बातें कहीं तो कर्दम मुनि को भगवान विष्णु के कथन का स्मरण हो आया। उन्होंने कहा--"राजकुमारी! तुम इस प्रकार खेद न करो। तुमने अनेक प्रकार के व्रतों का पालन किया है। अतः तुम्हारा कल्याण होगा। तुम संयम, नियम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान का भजन करो। इस प्रकार आराधना करने पर श्रीहरि स्वयं हमारे यहाँ अवतार लेकर हमारा यश बढ़ायेंगे और ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके तुम्हारी अहंकार-ग्रन्थि को खोल देंगे।'

देवहूति अब निर्विकार जगद्गुरु पुरुषोत्तम की आराधना करने लगी। बहुत समय बीत जाने पर भगवान मधुसूदन प्रकट हुए। कर्दमजी जानते थे कि साक्षात् परब्रह्म सांख्यशास्त्र का उपदेश करने के लिए अपने विशुद्ध सत्वमय अंश से वहाँ अवतीर्ण हुए हैं। अतः महर्षिने देवहूति से कहा--'प्रिये आदिपुरुष नारायण ही अपनी योगमाया से हमारे यहाँ अवतीर्ण हुए हैं। ये सिद्धगणों के स्वामी और सांख्याचार्यों के भी माननीय होंगे। ये लोक में तेरी कीर्ति का विस्तार करेंगे और कपिल नाम से विख्यात होंगे।' इसके

पश्चात् एकान्त में कर्दमजी भगवान के पास गये और उन्हें प्रणाम कर बोले—'अहो ! जिनके स्वरूप को य गी-जन अनेक जन्मों की साधना से सिद्ध हुई समाधि द्वारा एकान्त में देखने का प्रयत्न करते हैं, अपने भक्तों की रक्षा करनेवाले वे ही श्रीहरि आज हमारे घर में अवतीर्ण हुए हैं। वास्तव में, आप अपने भक्तों का मान बढ़ानेवाले हैं। आपने अपने वचनों को सत्य करने और सांख्ययोग का उपदेश करने के लिए ही मेरे यहाँ अवतार लिया है। भगवन् ! आप प्राकृत-रूप से रहित हैं। मैं आपकी शरण में हूँ। सारी शक्तियां आपके अधीन हैं। आप परब्रह्म हैं। आपकी कृपा से मैं तीनों ऋणों से मुक्त हो गया हूँ और मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं। अब मैं संन्यासमार्ग को ग्रहण कर आपका चिन्तन करते हुए शोक रहित हो विचरण करूँगा। इसके लिए मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ।'

भगवान ने कहा—'मुने ! मैंने जो तुमसे कहा था कि मैं तुम्हारे यहाँ जन्म लूंगा, उसे सत्य करने के लिए ही मैंने यह अवतार लिया है। इस लोक में मेरा यह जन्म मुनियों के लिए आत्मदर्शन में उपयोगी और प्रकृति आदि तत्त्वों का विवेचन करने के लिए ही हुआ है। तुम मोक्षपद प्राप्त करने के लिए मेरा भजन करो। जब तुम विशुद्ध बुद्धि से अपने अन्तःकरण में मेरा साक्षात्कारकर लोगे, तब तुम्हें निर्भय मोक्षपद प्राप्त होगा। माता देवहूति को भी मैं सम्पूर्ण कर्मों से छुड़ानेवाला आत्मज्ञान दूँगा, जिससे वह संसाररूपी भय से मुक्त हो जायगी।' भगवान कपिल के ऐसा कहने पर कर्दमजी प्रसन्नता पूर्वक वन को चले गये। जो सत्त्वादि गुणों का प्रकाशक एवं निर्गुण है, उस परब्रह्म में चित्त स्थिर हो जाने पर वे सारे बन्धनों से छूट गये।

पिता के वन चले जाने पर भगवान कपिल माता को प्रसन्न रखने के लिए वहीं 'विंदुसर' में रहने लगे। एक दिन जब वे आसन पर बैठे थे, माता देवहूति ने उनके समीप जाकर कहा-

"मैं इन दुष्ट इन्द्रियों की विषय-लालसा से ऊब गई हूँ और इनकी इच्छा पूरी करते रहने में घोर अज्ञानान्धकार में पड़ी हूँ। इस मोहासक्ति से छुड़ाने के लिए आप हमारे यहाँ पधारे हैं। आप मेरे 'मैं और मेरेपन' के दुराग्रहरूपी महामोह को दूर कर दीजिए। आप भागवतधर्म जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं प्रकृति और पुरुष का भेद-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आपकी शरण लेती हूँ।"

माता देवहूति के मर्मभरे वचन सुनकर महान आत्मज्ञ कपिल ने कहा—"माता! यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्मयोग ही मनुष्यों के कल्याण का मुख्य साधन है। इससे दुःख और सुख की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही माना गया है। विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का कारण होता है; परंतु परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मन मोक्ष का कारण बन जाता है। जिस समय यह मन 'मैं और मेरेपन' से उत्पन्न काम-लोभादि विकारों से मुक्त एवं परिशुद्ध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःख से छूटकर साम्यावस्था में आ जाता है। तब जीव अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्तियुक्त हृदय से आत्मा को, प्रकृति से परे, एकमात्र अद्वितीय, भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और तटस्थ देखता है तथा प्रकृति को शक्तिहीन अनुभव करता है। योगियों के लिए भगवत्प्राप्ति के निमित्त सर्वात्मा श्रीहरि के प्रति की हुई भक्ति के समान और कोई मंगलमय मार्ग नहीं है। विवेकीजन विषयों के संग या आसक्ति को ही आत्मा का बन्धन मानते हैं; किन्तु वही संग या आसक्ति जब संतों-महापुरुषों के प्रति हो जाती है तो वह मोक्ष का द्वार खोल देती है।

'जो लोग सहनशील, दयालु, समस्त देहधारियों के अकारण हितू, किसी के भी प्रति शत्रुभाव न रखनेवाले होते हैं, जो मुझमें अनन्यभाव से शुद्ध प्रेम करते हैं, जो मेरे लिए सम्पूर्ण कर्मों तथा अपनी प्रिय वस्तुओं को भी त्याग देते हैं, जो मत्परायण रहकर

मेरी पवित्र कथाओं का श्रवण-कीर्तन करते हैं और मुझमें ही अपना चित्त लगाये रहते हैं—उन भक्तों को संसार के विविध ताप कष्ट नहीं पहुँचाते। ऐसे सर्व-संग-परित्यागी पुरुष ही साधु हैं। उन्हींके संग की इच्छा तुम्हें करनी चाहिये। वे आसक्ति-जन्य समस्त दोषों के हरनेवाले हैं। सत्पुरुषों के सत्संग में ज्ञान करानेवाली कथाएं होती रहती हैं। उनकी सेवा करने से मोक्षमार्ग में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास होता है। भक्ति के द्वारा लौकिक और पारलौकिक सुखों से वैराग्य हो जाने पर मनुष्य सावधानतापूर्वक योग के भक्तिप्रधान सरल उपायों से समाहित होकर मनोनिग्रह के लिए यत्न करता है। इस प्रकार विषयों का त्याग करने से, वैराग्ययुक्त ज्ञान से, योग से और मेरी सुदृढ़ भक्ति से मनुष्य मुझे–अपने अन्तरात्मा को–इस देह में ही प्राप्त कर लेता है।"

देवहूति ने पूछा—"भगवन्! आपकी समुचित भक्ति का स्वरूप क्या है? और मुझ-सरीखी अबलाओं के लिए कैसी भक्ति ठीक है? योग, जिसके द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त होता है और जो भगवान को प्राप्त करानेवाला है, कैसा होता है? कृपाकर मेरी शंका दूर कीजिये।"

अपनी माता का अभिप्राय जानकर कपिलजी के हृदय में स्नेह उमड़ आया और उन्होंने प्रकृति आदि तत्वों का निरूपण करनेवाले शास्त्र का, जिसे सांख्य कहते हैं, उपदेश किया। कपिल भगवान ने कहा—"माता! जिसका चित्त एकमात्र भगवान में लग गया है, ऐसे मनुष्य में वेद-विहित कर्मों में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान करानेवाली इन्द्रियों की जो सत्वमूर्ति श्रीहरि के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति है—उसीको 'अहैतुकी' भक्ति कहते हैं। यह मुक्ति से भी बढ़कर है, क्योंकि यह कर्म-संस्कारों का नाश कर देती है। मेरी चरण-सेवा में प्रीति करनेवाले और मेरी ही प्रसन्नता के लिए समस्त कार्य करनेवाले बड़भागी भक्त प्रेमपूर्वक मेरे ही

पराक्रमों की चर्चा किया करते हैं। वे साधुजन मेरे दिव्यरूपों की झाँकी लेते हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े तपस्वी भी लालायित रहते हैं। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर सत्यादि लोकों की भोग-सम्पत्ति और वैकुण्ठलोक के भगवदीय ऐश्वर्य की भी भक्तजन इच्छा नहीं करते, तो भी मेरे धाम में पहुँचने पर ये सब विभूतियाँ स्वयं ही उन्हें प्राप्त हो जाती हैं।

'माता! जो लोग शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले धन, पशु, गृह और अन्यान्य संग्रहों को छोड़कर अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं मृत्युरूप संसार-सागर से पार कर देता हूँ। मैं साक्षात् भगवान, प्रकृति और पुरुष का भी प्रभु तथा समस्त प्राणियों का आत्मा हूँ। मेरे सिवा और किसी का आश्रय लेने से मृत्युरूप महाभय से छुटकारा नहीं मिल सकता। मेरे भय से ही वायु, सूर्य, इन्द्र, अग्नि और मृत्यु, आदि सभी अपने-अपने काम में प्रवृत्त रहते हैं। योगीजन ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तियोग के द्वारा परम शांति पाने के लिए मेरे निर्भय चरणकमलों का आश्रय लेते हैं। संसार में मनुष्य के लिए सबसे बड़ी कल्याण-प्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोग द्वारा मुझमें लगकर स्थिर हो जाय।

'माता! अब मैं प्रकृति आदि सभी तत्वों के लक्षण अलग-अलग बतलाता हूँ। आत्मदर्शनात्मक ज्ञान ही मनुष्य के मोक्ष-पद का कारण है; यही पण्डितों का मत है। यह सारा जगत्, जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही 'पुरुष' है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृति से परे, अन्तःकरण में स्फुरित होने-वाला और स्वयंप्रकाश-रूप है। उस सर्वव्यापक पुरुष ने त्रिगुणा-त्मक माया को स्वेच्छा से स्वीकार किया। लीलापरायण प्रकृति अपने सत्यवादी गुणों द्वारा उन्हींके अनुरूप प्रजा की सृष्टि करने लगी। यह देखकर मनुष्य ज्ञान को आच्छादित करनेवाली उसकी आवरणशक्ति से मोहित हो गया और अपने स्वरूप को भूल गया।

इस प्रकार अपने से भिन्न प्रकृति को ही अपना स्वरूप समझ लेने से मनुष्य, प्रकृति के गुणों द्वारा किये जानेवाले कर्मों में अपने आपको ही कर्त्ता मानने लगता है। इस कर्तृत्वाभिमान से ही मनुष्य को जन्म-मृत्युरूप बन्धन तथा परतन्त्रता प्राप्त होती है। कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रियाँ, कर्त्तारूप इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओं में मनुष्य जो अपनेपन का आरोप कर लेता है, उसमें पंडितजन प्रकृति का ही कारण मानते है, तथा वास्तव में प्रकृति से परे होकर भी जो प्रकृतिस्थ हो रहा है, उस पुरुष को सुख-दुःखों के भोगने में कारण मानते हैं।

"जो त्रिगुणात्मक अव्यक्त, नित्य और कार्य-कारण रूप है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी समस्त विशेष धर्मों का आश्रय है, इस 'प्रधान' नामक तत्व को ही 'प्रकृति' कहते हैं। पांच महाभूत, पांच तंन्मात्राएं, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रियां—इन चौबीस तत्वों के समूह को विद्वान लोग प्रकृति का कार्य मानते है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पांच महाभूत हैं, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्रा मानी गई हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु ये दस इन्द्रियां हैं। मन बुद्धि, चित्त, और अहंकार इन चार के रूप में एक ही अन्तःकरण अपनी संकल्प, निश्चय, चिन्ता और अभिमान रूपी चार प्रकार की वृत्तियों से लक्षित होता है। इस प्रकार तत्वज्ञ पुरुषों ने सगुण ब्रह्म के सन्निवेश-स्थान, इन चौबीस तत्वों की संख्या बतलाई है। इसके सिवा, काल, यह पच्चीसवां तत्व है। कुछ लोग काल को ईश्वर की संहारकारिणी शक्ति मानते हैं। इस प्रकार जो अपनी माया के द्वारा सब प्राणियों के भीतर जीवरूप से और बाहर कालरूप से व्याप्त है वह ईश्वर ही पच्चीसवां तत्व है। जब परमपुरुष परमात्मा ने अपनी शक्ति को अभी से स्थापित किया तो उससे तेजोमय

महत्तत्व उत्पन्न हुआ। जो सत्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान की उपलब्धि का स्थानरूप चित्त है—वही महत्तत्व है और उसको 'वासुदेव' कहते हैं। स्वाभाविक अवस्था में स्वच्छत्व, अविकारित्व और शान्तत्व ही चित्त के लक्षण हैं। भगवान की चित्तमय शक्ति से अहंकार उत्पन्न हुआ। वैकारिक, तैजस और तामस भेद से मन, इन्द्रियों और पंच महाभूतों की उत्पत्ति हुई। इस भूत, इन्द्रिय और मनरूप अहंकार को ही पंडितजन साक्षात संकर्षण नामक सहस्र सिरोंवाले अनन्तदेव कहते हैं!

'माता! जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के साथ, जल की शीतलता, चंचलता आदि गुणों का सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति के कार्य-शरीर में स्थित रहने पर भी आत्मा वास्तव में उसके सुख-दुःखादि धर्मों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह निर्विकार, अकर्त्ता और निर्गुण है। किन्तु जब वही प्राकृत गुणों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब वह देह के संसर्ग से किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मों के दोष से उत्तम, मध्य और नीच योनियों में उत्पन्न होकर संसार-चक्र में घूमता रहता है। अविद्यावश जीव का संसार-चक्र कभी रुकता नहीं। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि वह विषय-चिन्तन में फँसे हुए चित्त को तीव्र भक्तियोग और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे अपने वश में कर ले। श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने, चित्त को एकाग्र कर मुझमें सच्चा भाव रखने से, मेरी कथा सुनने से, समस्त प्राणियों में समभाव रखने से, किसी से बैर न करने से, आसक्ति, त्याग, ब्रह्मचर्य, मौनव्रत और स्वधर्म पालन से जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गई है, जो शान्त स्वभाववाला सबका मित्र, दयालु और धैर्यवान है तथा परमात्मा के सिवा और कोई वस्तु जो नहीं देखता, वह आत्मदर्शी मुनि अपने शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमात्मा

का साक्षात्कार कर, उस अद्वितीय ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है। विवेकी पुरुष इन बातों के मनन द्वारा अपने आत्म-स्वरूप का अनुभव करता है। जैसे सोये हुए पुरुष को स्वप्न में कितने ही अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है; किन्तु जाग जाने पर उसे उस स्वप्नानुभव से किसी प्रकार का मोह नहीं होता, उसी प्रकार जिसे निष्कामभाव, भगवत्कथा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, व्रत, नियम आदि से किये हुए ध्यानाभ्यास से, तत्वज्ञान प्राप्त हो गया है और जो निरन्तर मुझमें ही मन लगाये रहता है, प्रकृति उस आत्माराम मुनि का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

'अब मैं तुम्हें सबीज योग का लक्षण बताता हूं। इसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर परमात्मा के मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है! स्वधर्म का पालन, शास्त्र-विरुद्ध आचरण का परित्याग, जो-कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना, आत्मज्ञानियों के चरणों की पूजा, विषयवासनाओं को बढ़ानेवाले कर्मों से दूर रहना, संसार-बन्धन से छुड़ानेवाले धर्मों में प्रेम, पवित्र और परिमित भोजन, निरन्तर एकान्त और निर्भय स्थान में रहना, मन-वाणी और कर्म से किसी जीव को न सताना, सत्य बोलना, चोरी न करना, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना, ब्रह्मचर्य का परिपालन, तपस्या, बाहर-भीतर से पवित्र रहना, शास्त्रों का अध्ययन, भगवान की पूजा, धीरे-धीरे प्राणायाम के द्वारा श्वास को जीतना और इन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटाकर अपने हृदय में ले जाना आदि साधन इसके शुभ कर्म हैं।

'योगाभ्यास करने के लिए पहले आसन को जीते। फिर आसन लगाकर प्रारम्भ में कुंभक, पूरक और रेचक की विधि से प्राण के मार्ग का शोधन करे—जिससे चित्त स्थिर और निश्चल हो जाय। जो योगी प्राणवायु को जीत लेता है, उसका मन बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है। अतः योगी को उचित है कि प्राणायाम

से वात-पित्तादि दोषों को, धारणा से पापों को, प्रत्याहार से विषयों के सम्बन्ध को और ध्यान से भगवद्विमुख करानेवाले राग-द्वेषादि दुर्गुणों को दूर करे। जब योग करते-करते चित्त निर्मल और एकाग्र हो जाय, तब नासिका के अग्रभाग में दृष्टि जमाकर भगवान का ध्यान करे। ध्यान में तन्मय होकर वह उनके सिवा किसी अन्य पदार्थ को देखने की इच्छा न करे। इस प्रकार के ध्यान के अभ्यास से साधक का श्रीहरि में प्रेम हो जाता है और उसका हृदय भक्ति से द्रवित हो जाता है। आश्रय, विषय और राग से हटकर उसका मन शान्त-ब्रह्माकार हो जाता है। वह अखण्ड परमात्मा को ही सर्वत्र देखता है। उसे अपने शरीर की अनुभूति नहीं के बराबर ही रहती है।'

देवहूति ने फिर भक्तियोग का मार्ग और काल का स्वरूप जानने की इच्छा प्रकट की। इन विषयों के प्रति भगवान कपिल ने यों कहना शुरू किया—"माता! साधकों के भाव के अनुसार भक्तियोग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है। जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य का भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है—वह मेरा तामस भक्त है। जो पुरुष विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमादि में मेरा भेदभाव से पूजन करता है, वह राजस भक्त है और जो व्यक्ति पापों का क्षय करने के लिए भेदभाव रहित बुद्धि से मेरा पूजन करता है, वह मेरा सात्विक भक्त है। नित्यप्रति हिंसा-रहित उत्तम क्रियायोग का अनुष्ठान; मेरी प्रतिमा का दर्शन, पूजा, स्पर्श, स्तुति और वन्दना; प्राणियों में मेरी भावना, धैर्य और वैराग्य में अवलम्बन; महापुरुषों का मान; दीन-दुर्बलों पर दया-भाव और समान स्थितिवालों के प्रति मित्रता का व्यवहार; यम-नियमों का पालन; अध्यात्म-शास्त्रों का श्रवण और मेरे नामों का कीर्तन करने से तथा मन की सरलता, सत्पुरुषों के संग और अहंकार के त्याग से मेरे धर्मों का

अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुष का चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मुझमें लग जाता है।

'भक्तियोग में तत्पर और रागद्वेषादि विकारों से शून्य चित्त परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। मैं सबका परमेश्वर और आत्मा हूँ तथा आत्मारूप से सदा सभी जीवों में स्थित हूँ। इसलिए जो लोग मुझ सर्वभूत-स्थित परमात्मा का अनादर कर, केवल प्रतिमा में ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा स्वाँगमात्र है। जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवों के साथ बैर करता है, वह उनके शरीर में विद्यमान मुझ आत्मा से ही द्वेष करता है, उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जो दूसरे जीवों का अपमान करता है, वह बहुत-सी सामग्रियों से अनेक प्रकार के विधि-विधान के साथ मेरा पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता। मनुष्य अपने धर्म का अनुष्ठान करता हुआ तब तक मुझ ईश्वर की प्रतिमा आदि में पूजन करता रहे, जबतक उसे अपने हृदय में एवं सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित परमात्मा का अनुभव न हो जाय। जो व्यक्ति परमात्मा और आत्मा के बीच में थोड़ा-सा भी अन्तर करता है, उस भेददर्शी को मैं मृत्युरूप से महान भय देता हूँ। अतः सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित मुझ परमात्मा का यथायोग्य दान, मान, मैत्री-व्यवहार तथा समदृष्टि द्वारा पूजन करना चाहिए। मनुष्यों में स्वधर्म का पालन करनेवाले तथा आसक्ति-त्याग कर निष्कामभाव से धर्म का आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं। सम्पूर्ण काम, उनके फल तथा अपने शरीर को मुझमें अर्पण कर भेदभावरहित जो मेरी उपासना करते हैं, वे सबमें श्रेष्ठ हैं। चित्त और कर्म समर्पण करनेवाले अकर्त्ता और समदर्शी से बढ़कर मुझे कोई अन्य प्राणी प्रिय नहीं है। भक्तियोग और अष्टांग-योग में किसी एक का भी साधन करने से जीव परमात्मा को निस्सन्देह प्राप्त करता है।"

कपिल भगवान कहते हैं—"माता ! जीव काल के प्रबल पराक्रम को नहीं जानता है। सुख की अभिलाषा से वह जिस-जिस वस्तु को बड़े कष्ट से प्राप्त करता है उस सबको काल नष्ट कर देता है, जिसके लिए उसे बड़ा शोक होता है। जीव अपने इस नाशवान शरीर, सगे-सम्बन्धी, धन आदि को मोहवश नित्य मान लेता है। यह जिस-जिस योनि में जन्म लेता है, उसी-उसी में आनंद मानने लगता है और माया के अधीन होकर उससे विरक्त नहीं हो पाता। अपने आश्रितों के पालन-पोषण के पीछे वह अपना इहलोक और परलोक भी नष्ट कर बैठता है। उसे अपने पालन-पोषण में असमर्थ देखकर स्त्री-पुत्रादि भी उसका अनादर करने लगते हैं, फिर भी उसे वैराग्य नहीं होता ! वृद्धावस्था से शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, भोजन और पुरुषार्थ दोनों ही कम हो जाते हैं, घर में अपमान-पूर्वक टुकड़े पाकर वह अपना जीवन-निर्वाह करता है; वह फिर भी संन्यास की शरण नहीं लेता। वह कष्ट का जीवन भोगता है और अत्यन्त कष्टकर मृत्यु का शिकार होता है। कुछ लोगों का मत है कि स्वर्ग और नरक तो इसी लोक में है, क्योंकि नारकीय यातनाएं यहाँ ही देखी जाती हैं। केवल अपने कुटुम्ब का पालन करनेवाला पुरुष मरने के बाद अपने पापों का फल भोगता है और जो मनुष्य पाप की ही कमाई में लगा रहता है, वह नरकगामी होता है। जब जीव को मनुष्य-योनि में जन्म लेना होता है, तब वह भगवान की स्तुति करता है। मा की जठराग्नि में दस मास तक नारकीय यातनाओं को भुगतने के बाद वह पृथ्वी पर जन्म लेता है। अतः जिनकी संगति से सत्य, शौच, दया, वाणी का संयम, बुद्धि, धन, सम्पत्ति, लज्जा, यज्ञ, क्षमा, मन तथा इन्द्रियों का संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। उन असत्पुरुषों का कुसंग कभी नहीं करना चाहिए।

जो पुरुष घर में रहकर सकाम भाव से गृहस्थ-धर्मों का पालन करता है, वह भगवद्-धर्मों से विमुख हो जाता है। जो विवेकी पुरुष भगवान की प्रसन्नता के लिए अनासक्त, प्रशांत, शुद्धचित्त, निवृत्तिधर्मपरायण, ममतारहित और अहंकारशून्य होकर स्वधर्म का पालन करते हैं, वे सत्वगुणों द्वारा सर्वथा शुद्धचित्त हो जाते हैं। वे अन्त में सर्वव्यापी श्रीहरि को ही प्राप्त होते हैं। इसलिए अब तुम भी भक्तिभाव से उन श्रीहरि के ही चरणों की शरण में जाओ। जिनका चित्त इस लोक में आसक्त है, उनकी बुद्धि संकुचित हो जाती है। वे लोग अर्थ, धर्म और काम के ही पीछे पड़े रहते हैं। पितृलोक के भोग भोग लेने पर पुनः ऐसे लोगों को इस लोक में ही आना पड़ता है। इसलिए भगवान का तुम सब प्रकार से भक्तियुक्त होकर भजन करो। भगवान वासुदेव के प्रति किये हुए भक्तियोग से ज्ञान और वैराग्य प्राप्त हो जाता है। वही ज्ञानस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही आदिपुरुष है, वही एक स्वयं जीव, शरीर इन्द्रियों आदि अनेक रूपों में भासित होता है। संपूर्ण संसार में आसक्ति का अभाव हो जाना ही, सब प्रकार के योगसाधन का एकमात्र अभीष्ट फल है। ब्रह्म एक—ज्ञानस्वरूप और निर्गुण है। शास्त्र के विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही भगवान की अनेक प्रकार से अनुभूति होती है। अनेक प्रकार के कर्मकलाप, यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, वेदविचार, मन और इंद्रियों के संयम, कर्मों के त्याग, विविध अंगोंवाले योग्य, भक्तियोग, निवृत्ति और प्रवृत्ति रूप सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के धर्म, आत्मतत्व का ज्ञान और दृढ़ वैराग्य—इन सभी साधनों से सगुण-निर्गुण-रूप स्वयंप्रकाश भगवान को ही प्राप्त किया जाता है। माँ ! जो पुरुष मुझमें चित्त पिरो कर इसे श्रद्धापूर्वक एक बार भी सुनेगा या कहेगा, वह मेरे परमपद को प्राप्त कर लेगा।"

मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुर ! इस ज्ञानोपदेश से माता

देवहूति का मोह दूर हो गया। माता को इस प्रकार उपदेश देकर भगवान कपिल उनसे आज्ञा ले, वहाँ से चले गये। माता देवहूति भी अपने पुत्र के दिये योगसाधन द्वारा समाधिस्थ हो गईं। वैराग्य और ज्ञान से चित्त विशुद्ध हो जाने पर वे सर्वव्यापक आत्मा के ध्यान में लीन हो गईं और थोड़े ही समय में उन्होंने नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप भगवान को प्राप्त कर लिया।

चतुर्थ स्कन्ध

सती का शरीर-त्याग और दक्ष-यज्ञ-विध्वंस

मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुर ! स्वायंभुव मनु के महारानी शतरूपा से प्रियव्रत और उत्तानपाद—इन दो पुत्रों के अलावा तीन कन्याएं भी हुईं। वे आकूति, देवहूति और प्रसूति नाम से विख्यात थीं। आकूति का विवाह रुचि प्रजापति से हुआ तथा देवहूति कर्दम मुनि को और प्रसूति दक्षप्रजापति को ब्याही गई। रुचि प्रजापति से आकूति के एक पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्र साक्षात् यज्ञस्वरूप-धारी विष्णु थे और कन्या भगवान से कभी अलग न रहनेवाली लक्ष्मी की अंशस्वरूपा 'दक्षिणा' थी।

देवहूति के नौ कन्याएं हुईं, जो नौ महर्षियों को ब्याही गईं और पुत्र स्वयं भगवान कपिल थे, जिनके विषय में पहले कहा जा चुका है। कन्याओं में 'कला' के पति मरीचि ऋषि थे, जिनके 'कश्यप' तथा 'पूर्णिमा' पुत्र हुए, जिनके वंशजों से सारा भूमंडल भरा पड़ा है। दूसरी पुत्री अनसूया महर्षि अत्रि को ब्याही गई। सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से पत्नीसहित ऋक्ष नामक पर्वत पर तपस्या करने के लिए चले गये। वहां जब कठिन तपस्या से उन्होंने भगवान को प्रसन्न कर लिया तब ब्रह्मा, विष्णु और महादेव-तीनों जगत्पति उनके आश्रम पर आये और बोले "ब्रह्मन्! तुम जिस जगदीश्वर का ध्यान करते हो, वह हम तीनों ही हैं। हमारे ही अंशस्वरुप, तुम्हारे तीन जगत्विख्यात पुत्र होंगे। तदनुसार ब्रह्मा के अंश से चन्द्रमा, विष्णु के अंश से योगवेत्ता दत्तात्रेय

और शिव के अंश से ऋषि दुर्वासा, महर्षि अत्रि के पुत्ररूप में प्रकट हुए।

विदुर ने पूछा—"भगवन्! प्रजापति दक्ष ने अपनी कन्या सती का अनादर कर शीलवानों में श्रेष्ठ शंकरजी से द्वेष क्यों किया? मैत्रेय ने कहा—"विदुर! एक बार प्रजापतियों के यज्ञ में दक्षप्रजापति को आते हुए देख कर सारे देवता गण अपने आसन छोड़-छोड़ कर खड़े हो गये, केवल ब्रह्मा और शिव बैठे ही रहे। इस प्रकार सम्मान पाने के पश्चात् वे ब्रह्माजी को प्रणाम कर अपने आसन पर बैठे। शिव को पहले से ही बैठा देख कर और उनसे कुछ भी आदर न पाने के कारण दक्ष अपना क्रोध सँभाल नहीं सके। उन्होंने सभासदों को सम्बोधित कर कहा—'देवगण! यह शिव मेरी कन्या का पाणिग्रहण करने के कारण मेरे पुत्र के समान है, पर यह शिष्टाचारादि की मर्यादा तनिक भी नहीं जानता। प्रणाम आदि की तो बात ही क्या, इसने तो वाणी से भी मेरा सत्कार नहीं किया। ब्रह्माजी के बहकावे में आकर मैंने अपनी भोली-भाली कन्या इसे ब्याह दी, इसका मुझे अत्यन्त खेद है।'

दक्ष ने इस प्रकार महादेवजी को बहुत बुरा-भला कहा; पर उन्होंने इसका तनिक भी प्रतिकार नहीं किया। अन्त में दक्ष ने कहा—'अबसे इसे देवताओं के साथ यज्ञ का भाग न मिले।' सब की अनसुनी करके भी शिवजी को उन्होंने यह शाप दे ही दिया। जब नन्दीश्वर को यह बात मालूम हुई, तो क्रोध से वे तमतमा उठे और उन्होंने दक्ष तथा उसके दुर्वचनों का अनुमोदन करने वाले ब्राह्मणों को शाप दिया कि 'भेदबुद्धिवाला दक्ष तत्वज्ञान से विमुख ही रहे, इसका मुख बकरे-जैसा हो जाय तथा ब्राह्मण दुनिया में भीख मांगते भटका करें।' नन्दीश्वर के मुख से ब्राह्मण-कुल के लिए इस प्रकार का शाप सुनकर महर्षि भृगुजी ने यह दुस्तर

शापरूप ब्रह्मदण्ड दिया—'जो लोग शिवभक्त हैं, वे उन्हींमें लीन रहें।'

"विदुरजी! भृगु के शाप देने पर भगवान शंकर खिन्न-चित्त अपने अनुचरों-सहित वहां से चल दिये। यज्ञ की समाप्ति होने पर प्रजापति भी अपने-अपने स्थान को चले गये। दक्ष और शिवजी के बीच इस प्रकार का द्वेष अभी शान्त ही नहीं हुआ था कि इसी बीच ब्रह्माजी ने दक्षप्रजापति को समस्त प्रजापतियों का अधिपति बना दिया। इससे उनका गर्व और भी बढ़ गया। इन्होंने पहले तो 'वाजपेय-यज्ञ' किया और फिर 'बृहस्पतिसव' नामक महायज्ञ आरम्भ किया। इस यज्ञ में जितने भी आमंत्रित महर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि आये, उन सबका उन्होंने यथोचित सत्कार किया।

देवताओं के मुख से दक्षकुमारी सती ने भी अपने पिता के यहाँ होनेवाले यज्ञ की बात सुनी। उन्होंने देखा कि यक्ष, गन्धर्व आदि स्त्रियाँ सजधजकर विमानों पर बैठीं, उस यज्ञोत्सव में जा रही हैं। इससे उन्हें भी पिता के घर जाने की उत्सुकता हुई। भगवान भूतनाथ से उन्होंने कहा—"वामदेव! सुनती हूं कि मेरे पिता के यहाँ एक बहुत बड़ा यज्ञोत्सव हो रहा है। ये सब देवता वहीं जा रहे हैं। यदि आपकी अनुमति हो तो हम लोग भी चलें। वहां स्वजनों से मिलने का सुअवसर भी मिलेगा। सुरश्रेष्ठ! पति, गुरु, माता-पिता अदि सुहृदों के यहां तो बिना बुलाये भी जा सकते हैं।"

सती की बातों से भगवान शंकर को दक्ष के वाग्बाणों का स्मरण हो आया। हँसकर वे बोले—"सती! तुमने जो कहा सो तो ठीक ही है; किन्तु ऐसा तभी करना चाहिये जब उनकी दृष्टि स्नेहयुक्त हो। विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्चकुल—ये छहः सत्पुरुषों के गुण हैं; पर नीचों में आकर ये ही अवगुण बन

जाते हैं। इनसे उनका अभिमान बढ़कर विवेक नष्ट हो जाता है और दृष्टि दोषयुक्त। जो अपने यहां आये हुओं के प्रति द्वेष या कुटिलभाव रखते हों या उनका आदर नहीं करते, उनके यहाँ नहीं जाना चाहिए। (शत्रुओं के बाणों में उतनी पीड़ा नहीं है जितनी कि स्वजनों के कुटिल मर्मभेदी वाक्यों में।) दक्ष मुझसे ईष्या करते हैं, अतः मेरे कारण पिता के यहां तुम्हारा मान नहीं होगा। तुम कह सकती हो कि प्रजापतियों की सभा में मैंने उनका आदर क्यों नहीं किया? लोकाचार आदि की क्रियाएं तत्वज्ञानियों द्वारा बड़े उत्तम ढंग से की जाती हैं। वे अन्तर्यामी, सबके अन्तः-करण, परमपुरुष वासुदेव को ही प्रणाम करते हैं। (विशुद्ध अन्तः-करण का नाम ही 'वासुदेव' है। भगवान वासुदेव को ही मैं नमस्कार किया करता हूं।) जिन्होंने अकारण मेरा तिरस्कार किया था, यद्यपि वह तुम्हारे पिता ही हैं, उनके घर जाने का तुम्हें विचार नहीं करना चाहिए। यदि तुम वहाँ जाओगी तो तुम्हारे लिए अच्छा न होगा। प्रतिष्ठित व्यक्ति का जब अपने आत्मीय जनों द्वारा अपमान होता है तो वह तत्काल उनकी मृत्यु का कारण बन जाता है।' इतना कहकर शंकरजी मौन हो गये। उन्होंने देखा कि जाने देने अथवा रोकने दोनों ही अवस्थाओं में सती के प्राणत्याग की सम्भावना है। विदुर! सती बन्धुजनों को देखने जाने की इच्छा से कभी तो बाहर आतीं और फिर शंकरजी रुष्ट हो जायंगे, इस शंका से लौट जातीं। कोई बात निश्चित न कर सकने के कारण वे दुविधा में पड़ गईं। अन्त में बन्धुजनों से मिलने की इच्छा प्रबल हो जाने से वे क्रोध में शंकरजी को छोड़कर अपने माता-पिता के घर अकेले ही चल दीं। सती को अकेली जाते देख, शिवजी के हजारों गण उनके पीछे हो लिये। सती दक्ष की यज्ञ-शाला में पहुँची। वहां शंकरजी के कहने के अनुसार ही पिता के द्वारा उनकी अवहेलना हुई। दक्ष के भय से, माता और बहनों

के सिवा, किसी ने भी उनका सत्कार नहीं किया। पिता से अपमानित होने के कारण सती ने बहनों के द्वारा सम्मानपूर्वक दिये गये आसनादि को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने यह भी देखा कि उस यज्ञ में भगवान शंकर के लिए कोई भाग नहीं रखा गया है और पिताजी उनका बड़ा अपमान कर रहे हैं। इससे सती के क्रोध की सीमा नहीं रही। पिता को सम्बोधित करते हुए वे बोलीं—

"पिताजी ! भगवान शंकर से बढ़कर कोई भी संसार में नहीं है। वे सभी शरीरधारियों के प्रिय आत्मा हैं। उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय। उनका किसी से वैर नहीं। फिर ऐसा कौन है, जो उनका विरोध करे ? महापुरुषों की निन्दा-जैसा कार्य दुष्ट पुरुषों को ही शोभा देता है। जिनका नाम एक बार भी मुख से निकल जाने पर मनुष्य के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, उन्हीं पवित्रकीर्ति मंगलमय भगवान शंकर से आप द्वेष रखते हैं ! इस पाप को रोकने में यदि कोई समर्थ हो तो उसके लिए अपना प्राण-विसर्जन करना ही धर्म है। आप भगवान नीलकण्ठ की निंदा करते हैं। यह शरीर आपसे उत्पन्न है, अतः इसे अब मैं नहीं रखती। जिस प्रकार देवता और मनुष्य में भेद है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की स्थिति भी एक-जैसी नहीं होती। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने धर्ममार्ग में स्थित रहते हुए भी दूसरों के मार्ग की निन्दा न करे। भगवान शंकर तो परब्रह्म हैं, उन्हें किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। पिताजी ! हमारा ऐश्वर्य अव्यक्त है। आत्मज्ञानी महापुरुष ही उसका सेवन कर सकते हैं।" दक्ष से ऐसा कह सती आँखें बंद कर शरीर छोड़ने के लिए समाधिस्थ हो गईं। कुछ क्षण बाद उनकी देह योगाग्नि से जल उठी। देवताओं आदि ने सती का जब यह महान् विसर्जन देखा तो सभी हाहाकार करने लगे। 'दक्ष के दुर्व्यवहार से सती ने प्राण त्याग दिये' की

आवाज चारों ओर गूंज उठी। सती का प्राणत्याग देखकर शिवजी के पार्षद-गण दक्ष को मारने के लिए उद्यत हो गये।

शिव ने जब सुना कि सती ने प्राण त्याग दिये हैं तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। देखते-देखते एक विशालकाय पुरुष उनके सामने आ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर भगवान शंकर से उसने पूछा—"भगवन्! क्या आज्ञा है?" शंकर ने कहा—"वीरभद्र! तू मेरा अंश है, इसलिए मेरे पार्षदों का अधिनायक बनकर तुम दक्ष और उसके यज्ञ को जाकर नष्ट करो।" आज्ञा पाकर वीरभद्र रुद्रगणों के साथ सिंहनाद करता हुआ यज्ञशाला की ओर द्रुतगति से चल दिया।

यज्ञ में बैठे लोगों ने जब उत्तर दिशा में धूल उड़ती देखी तो वे सोचने लगे कि इस समय कहीं प्रलय तो नहीं होने वाला है? वे भय के मारे एक-दूसरे की ओर देख ही रहे थे कि इतने में भंयकर उत्पात होने लगे। रुद्रसेवकों ने यज्ञमंडप को चारों ओर से घेर लिया और उसे तहस-नहस कर डाला। मणिमान ने भृगुऋषि को, वीरभद्र ने प्रजापति दक्ष को, चंडीश ने पूषा को और नन्दीश्वर ने भग देवता को बन्दी बना लिया। भगवान शंकर के पार्षदों की यह भयंकर लीला देख उपस्थित देवता जहां-तहां भाग गये। वीरभद्र ने भृगु की दाढ़ी-मूंछ नोंच डाली; क्योंकि इन्होंने सभा में मूंछ ऐंठते हुए महादेवजी का उपहास किया था। दक्ष की छाती पर बैठकर वीरभद्र ने उनका सिर धड़ से अलग कर दिया और कटे सिर को यज्ञ की दक्षिणाग्नि में डाल दिया और उस यज्ञशाला में भी आग लगा दी। इस प्रकार यज्ञ का विध्वंस कर वे रुद्रगण कैलाश पर्वत को लौट गये।

जब रुद्र के सेवकों ने देवताओं को परास्त कर दिया तब वे, ऋत्विज और सदस्यों के सहित, ब्रह्माजी के पास पहुँचे और प्रणाम कर उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया। ब्रह्मा और सर्वान्तर्यामी नारायण इस भावी उत्पात को पहले से ही जानते थे और इससे

दक्ष के यज्ञ में गये भी नहीं थे। उन्होंने कहा—"देवताओ! तुम लोगों ने यज्ञ में भगवान शंकर को भाग न दे कर उनका भारी अपराध किया है। परन्तु शंकरजी आशुतोष हैं, बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। तुम लोग उनसे क्षमा माँगो, उन्हें प्रसन्न करो। उनके कुपित होने पर समस्त लोकों और लोकपालों का भी बचना असम्भव हो जायगा।"

ब्रह्माजी उन्हें साथ लेकर स्वयं ही कैलाश पर्वत पर गये। वहां वटवृक्ष के नीचे देवताओं ने शंकरजी को बड़े शान्त भाव से विराजमान देखा। सिद्धगण और यक्षों के स्वामी कुबेर उनकी सेवा कर रहे थे। उस समय वे साधु श्रोताओं को सनातन ब्रह्म का उपदेश कर रहे थे। ब्रह्माजी को देखकर शंकरजी ने उठकर उन्हें प्रणाम किया। ब्रह्माजी ने कहा—'देवाधि देव! इस दक्षयज्ञ के बुद्धिहीन याजकों ने आपको यज्ञभाग नहीं दिया और इसी से यह यज्ञ विध्वस्त भी हुआ। आप इस अपूर्ण यज्ञ का पुनरुद्धार करने की कृपा करें। प्रभो! ऐसा करें, जिससे यजमान दक्ष फिर जीवित हो जाय। यज्ञ सम्पूर्ण होने पर जो कुछ शेष रहे, सब आपका ही भाग होगा। यज्ञविध्वंसक! आज यह यज्ञ आपके ही भाग से पूर्ण हो।' शंकर ने कहा—'प्रजापते! भगवान की माया से मोहित दक्ष-जैसे नासमझों के अपराध की न तो मैं चर्चा ही करता हूँ, न याद ही। मैंने तो केवल सावधान करने के लिए ही उसे थोड़ा-सा दण्ड दे दिया था। दक्ष प्रजापति का अपना सिर जल कर भस्म हो गया है, इसलिए उसको अब 'यज्ञपशु' का सिर लगा दिया जाय।'

भगवान शंकर के वचन सुनकर सभी प्रसन्नता से धन्य-धन्य कहने लगे। तब देवताओं और ऋषियों ने शंकर से दक्ष की यज्ञशाला में पधारने की प्रार्थना की। उन्हें और ब्रह्माजी को साथ ले, वे वहां पहुँचे। वहां जैसे-जैसे भगवान शंकर ने कहा था, उसी

प्रकार सब कार्य कर, उन्होंने दक्ष के धड़ से 'यज्ञपशु' का सिर जोड़ दिया। सिर जुड़ जाने पर, रुद्रदेव की दृष्टि पड़ते ही दक्ष तत्काल सोकर जागने के समान उठ बैठे और अपने सामने ही भगवान शंकर को देख विशुद्ध भक्ति-भाव से हाथ जोड़कर बोले—"भगवन्, मैंने आपका गुरुतर अपराध किया; किन्तु आपने उसके बदले मुझे दण्ड द्वारा शिक्षा देकर बड़ा ही अनुग्रह किया है। मैं आपके गुणों को नहीं जानता था, अतः भरी सभा में मैंने आपका अपमान किया। प्रभो, आप मुझपर प्रसन्न हों।"

इस प्रकार अपना अपराध क्षमा कराकर दक्ष ने, ब्रह्माजी के कहने से, यज्ञ पुनः आरम्भ किया। दक्ष ने ज्योंही विशुद्धचित्त से श्रीहरि का ध्यान किया, सहसा भगवान वहाँ प्रकट हो गये। दक्ष ने उनके सन्निकट जाकर कहा—"भगवन! अपने स्वरूप में आप बुद्धि की जाग्रत आदि सम्पूर्ण अवस्थाओं से रहित, शुद्ध, चिन्मय, भेदातीन अतः अभय देनेवाले हैं। आप माया का तिरस्कार कर स्वतंत्र रूप से विराजमान हैं।"

ऋत्विजों ने भगवान को सम्बोधित कर कहा—"निरुपाधि प्रभो! भगवान रुद्र के प्रधान अनुचर नन्दीश्वर के शाप के कारण हमारी बुद्धि केवल कर्मकाण्ड में ही फँसी हुई है, अतः यज्ञ को ही हम आपका स्वरूप समझते हैं।"

सदस्यों ने कहा—"जीवों को आश्रय देनेवाले नाथ! इस अत्यन्त दुर्गम संसार के विषय-मोहादि में फँसे, अनेक प्रकार के क्लेशों को भोगते हुए भी, भला हम आपके चरणकमलों की शरण में कब आने लगे?"

रुद्र—"वरदायक! आपके उत्तम चरणारविन्द इस संसार में सकाम जीवों के संपूर्ण पुरुषार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं और निष्काम मुनिजन भी उनका आदरपूर्वक पूजन करते हैं।"

भृगु—"आपकी गहन माया से, आत्मज्ञान लुप्त हो जाने के

कारण, जो अज्ञाननिद्रा में सोये हुए हैं, वे देहधारी आपके तत्व को अभीतक नहीं जान सके। ऐसे होने पर भी आप अपने शरणागत भक्तों के तो आत्मा और सुहृद हैं, अतः मुझपर प्रसन्न हों।"

ब्रह्मा—"प्रभो! पुरुष जो भी देखता है, वह आपका स्वरूप नहीं है, क्योंकि आप अधिष्ठान हैं और ये अध्यस्त। आप इस मायामय प्रपंच से सर्वथा अलग हैं।"

इन्द्र—"अच्युत आपका जगत् को प्रकाशित करनेवाला रूप हमारे मन और नेत्रों को परम आनन्द-दायक है।"

ऋषिगण—"भगवन्! आपकी लीला बड़ी ही अनोखी है। आप कर्म करते हुए भी उनसे निर्लेप रहते हैं।"

यजमान-पत्नी—"सर्वसमर्थ परमेश्वर! आपका स्वागत है। मैं आपको नमस्कार करती हूँ। आप मुझपर प्रसन्न हों।"

योगेश्वर—"प्रभो! जो पुरुष सम्पूर्ण विश्व के आत्मा आपमें और अपने में कोई भेद नहीं देखता, उससे अधिक प्यारा आपको कोई नहीं है।"

अग्निदेव—"भगवन्! आप साक्षात् यज्ञपुरुष और यज्ञ की रक्षा करनेवाले हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।"

देवगण—"देव! आप आदिपुरुष हैं।"

अन्त में ब्राह्मणों ने कहा—"भगवन्! जब लोग आपके नाम का कीर्तन करते हैं, तब यज्ञ के सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं। हमारा आपको नमस्कार है।"

जब सब उपस्थित लोगों ने इस प्रकार भगवान की स्तुति की तो उन्होंने कहा—"मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ तथा स्वयंप्रकाश और उपाधिशून्य हूँ। मैंने ही ब्रह्मा, विष्णु और शंकर ये तीन नाम धारण किये हैं। भेदरहित विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ। जो हम तीनों में कुछ भी भेद नहीं देखता, वही परम शान्ति पाता है।"

भगवान के इस प्रकार आज्ञा देने पर प्रजापतियों के नायक दक्ष ने भगवान शंकर का यज्ञ के शेषभाग से यजन कर, यज्ञ का उपसंहार किया। तत्पश्चात् दक्ष प्रजापति को—'तुम्हारी सदा धर्म में बुद्धि रहे'—यह आशीर्वाद देकर सभी देवता स्वर्ग चले गये।

ध्रुव की कथा

शुकदेवजी कहते हैं—"स्वायम्भुव मनु के पुत्र उत्तानपाद के सुनीति और सुरुचि नाम की दो पत्नियाँ थीं। उनमें सुरुचि राजा को अधिक प्रिय थी। एक दिन राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में बिठाकर प्यार कर रहे थे। उसी समय सुनीति के पुत्र ध्रुव ने भी गोद में बैठना चाहा, परन्तु राजा ने उसका सत्कार नहीं किया। सुरुचि ने ध्रुव को महाराज की गोद में आने का यत्न करते हुए देखकर कहा-'बच्चे! तू राजसिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं है। तू भी राजा का ही बेटा है, इससे क्या हुआ? तुझे तो मैंने अपनी कोख में धारण नहीं किया। यदि तुझे राजसिंहासन पर बैठने की इच्छा है तो तपस्या द्वारा परमपुरुष नारायण की आराधना कर और मेरे गर्भ में आकर जन्म ले।'

सौतेली माता के कठोर वचनों से मर्माहत ध्रुव रोने लगा। उसके पिता चुपचाप यह सब देखते रहे; किन्तु उनके मुँह से सांत्वना का एक शब्द भी न निकला। ध्रुव रोता हुआ अपनी माता के पास चला गया। माता सुनीति ने प्यार से उसे गोद में उठा लिया। रोने का कारण जान लेने पर, उसे भी बड़ा दुःख हुआ और वह विलाप करने लगी। फिर उसने ध्रुव से कहा—"बेटा! तू दूसरों के लिए किसी प्रकार के अमंगल की कामना मत करना। जो मनुष्य दूसरों को दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है। तेरी सौतेली माँ होने पर भी सुरुचि ने बात बिल्कुल ठीक कही है। तू उसीकी बात का पालन कर और भगवान की आराधना में लग जा। श्रीहरि की आराधना करने से ही तेरे पर-

दादा (ब्रह्मा) को वह सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है, जो मन और प्राणों को जीतनेवाले मुनियों के लिए भी वन्दनीय है। बेटा! तू भी भक्तवत्सल भगवान का ही आश्रय ले। जन्ममृत्यु के चक्र से छूटने की इच्छा करनेवाले मुमुक्षु जन निरन्तर उन्हींके चरणकमलों की आराधना किया करते हैं। तू अपते पवित्र चित्त में पुरुषोत्तम भगवान को धारण कर और अन्य सब वस्तुओं का चिन्तन छोड़, केवल उन्हींका भजन कर। श्रीहरि के सिवाय मुझे तेरा दुःख दूर करनेवाला और कोई दिखाई नहीं देता।"

माता सुनीति के वचन अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का मार्ग दिखलाने वाले थे। बालक ध्रुव ने बुद्धि द्वारा अपने मन को सांत्वना दी और वे वन को चल दिये। रास्ते में उनकी देवर्षि नारद से भेंट हुई। उन्होंने सारा वृत्तान्त सुनकर ध्रुव से कहा—'बेटा! अभी तो तू बच्चा ही है। यदि तुझे मानापमान का विचार ही है तो यह मनुष्य के असन्तोष का कारण मोह के सिवा और कुछ नहीं है। संसार में मनुष्य अपने कर्मानुसार ही मानापमान या सुख-दुःख आदि पाता है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि जैसी भी परिस्थिति का उसे सामना करना पड़े, वह उसीमें संतुष्ट रहे। तू योगसाधन द्वारा भगवान की कृपा प्राप्त करने चला है; पर उन्हें प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन है। योगीजन अनेक जन्मों तक अनासक्त रहकर कठिन-से-कठिन साधनाएं करते रहते हैं, फिर भी भगवान की माया का पार नहीं पाते। इसलिए तू यह व्यर्थ का हठ छोड़ दे और घर लौट जा। मनुष्य को चाहिए कि अपने से अधिक गुणवान को देखकर वह प्रसन्न हो, जो कम गुणवाला हो, उसपर दया करे और जो समगुणवाले हों, उनसे मित्रता का भाव रखे।'

ध्रुव ने उत्तर दिया—'ब्रह्मन्! मैं तो उस पद को प्राप्त करना चाहता हूँ, जो त्रिलोक में सर्वश्रेष्ठ है। कृपाकर मुझे आप उसी पद को पाने का कोई अच्छा-सा मार्ग बतलायें।'

नारदजी ने प्रेमपूर्वक ध्रुव से कहा—"बेटा! तेरी माता सुनीति ने तुझे जो कुछ बताया है, वही तेरे लिए परम कल्याण का मार्ग है। इसलिए तू चित्त लगाकर भगवान का ही भजन कर। जिस पुरुष को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अभिलाषा हो, उसके लिए उनकी प्राप्ति का उपाय एकमात्र श्रीहरि-चरणों का सेवन ही है। तू यमुना के तट पर परम पवित्र मधुवन को जा। वहां श्रीहरि का नित्य-निवास है। वहां कालिन्दी के जल में स्नान कर और भगवान का ध्यान कर। जो लोग भगवान का मानसपूजन करते हैं, उनके अन्तःकरण में वे आ विराजते हैं। तुम 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षरी मंत्र का जप करना। जब मन, वाणी और शरीर से भक्तिपूर्वक श्रीहरि को पूजन किया जाता है तब वे अपने भक्त को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप कल्याण अवश्य देते हैं।"

नारदजी से इस प्रकार उपदेश पाकर राजकुमार ध्रुव ने उन्हें प्रणाम किया और परम पवित्र मधुवन की राह ली। नारदजी ने महाराज उत्तानपाद के पास जाकर उनसे पूछा—"राजन्! तुम्हारा मुख सूखा हुआ है, तुम्हें कौनसी ऐसी चिन्ता सता रही है?" राजा ने कहा—"मुनिश्रेष्ठ! मैं बड़ा ही निर्दय हूँ। मैंने अपने पांच वर्ष के बालक को घर से निकाल दिया। वह असहाय बच्चा न जाने कहाँ किस दशा में होगा।" नारदजी ने कहा—"राजन्! तुम अपने बालक की चिन्ता मत करो, उसके रक्षक भनवान हैं। तुम्हें उसके प्रभाव का पता नहीं है, उसका यश एक दिन सारे जगत में फैलेगा। वह शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आयेगा और उसके कारण तुम्हारा भी यश बढ़ेगा।" देवर्षि नारद की बात सुनकर महाराज उत्तानपाद राज्य के काम-काज से उदासीन रहने लगे।

इधर ध्रुव ने मधुवन में पहुँचकर नारायण की कठिन उपासना

आरम्भ कर दी। उनकी उग्रतर तपस्या से तीनों लोक कांप उठे, समस्त जीवों का श्वास-प्रश्वास रुक गया। सब लोकपाल घबड़ा कर श्रीहरि की शरण में गये। उन्होंने भगवान से कहा—'प्रभो! समस्त स्थावर-जंगम जीवों के शरीरों का प्राण एकसाथ रुक गया है। आप इस दुःख से हम लोगों की रक्षा कीजिए।' भगवान कहा—'देवगण! डरो मत! उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने अपने चित्त को मुझमें लगा दिया है। उसके प्राण-निरोध से, तुम सबका प्राण भी रुक गया है। मैं उस बालक को इस दुस्तर तप से शीघ्र ह निवृत्त करूँगा।'

भगवान गरुड़ पर सवार होकर बाल-भक्त को दर्शन देने के लिए मधुवन पहुँचे। उस समय ध्रुव भगवान की मनोहर मूर्ति का ध्यान कर रहे थे। उन्होंने ज्योंही नेत्र खोले कि भगवान के उसी रूप को अपने सामने खड़ा देखा। प्रभु-दर्शन पाकर वे प्रेम में अधीर हो उठे। भगवान को प्रणाम कर हाथ जोड़ कर खड़े रहे। उनकी स्तुति करना चाहते थे; पर स्तुति किस प्रकार करें, यह नहीं जानते थे। सर्वान्तर्यामी श्रीहरि बालक मन की बात जान गये और अपने वेदमय शंख को उन्होंने उनके गले से छुआ दिया। शंख का स्पर्श होते ही ध्रुव को दिव्यवाणी प्राप्त हो गई और जीव और ब्रह्म के स्वरूप का भी निश्चय हो गया। अब वे अत्यन्त विनीतभाव से श्रीहरि की स्तुति करने लगे—

'प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न और अन्तर्यामी हैं। मैं प्रणाम करता हूँ। नाथ! ब्रह्माजी ने भी आपकी शरण लेकर, आपके दिये हुए ज्ञान के प्रभाव से ही इस जगत् को देखा था। मुक्त पुरुष भी आपके चरणकमलों का ही आश्रय लेते हैं। प्रभो! शरीर के द्वारा भोगा जानेवाला सुख तो नरक में भी मिल सकता है। जो लोग आपकी उपासना, आपकी प्राप्ति के सिवा, किसी और उद्देश्य से करते हैं, अवश्य ही उनकी बुद्धि आपकी माया से भ्रांत हो गई

है। नाथ! आपके चरणकमलों का ध्यान करने और भक्तों के पवित्र चरित्र सुनने से प्राणियों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्म में भी नहीं मिल सकता। अनन्त परमात्मन्! मुझे तो आप उन विशुद्ध हृदय भक्तों का ही सत्संग दीजिए, जिनका आपमें अविच्छिन्न भक्तिभाव है। उनके सत्संग से मैं आपकी लीलाओं की कथासुधा पीकर संसार-सागर को पार कर जाऊँगा। प्रभो! आप नित्यमुक्त, सर्वज्ञ, आदिपुरुष, षडैश्वर्यसम्पन्न, जगत् के कारण, अखण्ड, अनादि, अनन्त आनन्दमय निर्विकार ब्रह्मस्वरूप हैं। आपको मेरा प्रणाम है। जो लोग निरंतर आपका भजन करते हैं, उनके लिए राज्यादि भोगों की अपेक्षा आपके चरणकमलों की प्राप्ति ही उस भजन का सच्चा फल है। मैं आपका शरणागत हूँ, आपको मेरा बार-बार प्रणाम है।'

भक्तवत्सल भगवान ने बालक ध्रुव से कहा—'उत्तम व्रत का पालन करनेवाले राजकुमार! मैं तेरे हृदय का संकल्प जानता हूँ। यद्यपि उस पद का प्राप्त होना बहुत कठिन है, तो भी मैं तुझे वह देता हूँ। तेरा कल्याण हो। भद्र! जिस अविनाशी लोक को आज तक किसी ने प्राप्त नहीं किया, समस्त लोकों के नष्ट हो जाने पर भी जो स्थिर रहता है और सप्तर्षिगण जिसकी परिक्रमा किया करते हैं, वह ध्रुवलोक मैं तुझे देता हूँ। जब तेरे पिता तुझे राजसिंहासन पर बिठाकर वन को चले जायँ, तब तू धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन करना। तेरी इन्द्रियों की शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। तू मेरा भजन करना। मेरा निरन्तर ही स्मरण करने से तुझे परमधाम की प्राप्ति होगी।' बालक ध्रुव को इस प्रकार आशीर्वाद दे भगवान अन्तर्धान हो गए।

ध्रुव का संकल्प तो पूरा हो गया; पर उनको विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। वे सोचने लगे—'चित्त में वासना रहने के कारण भगवान को पाकर भी मैं उनसे दूर ही रहा। मैंने संसारपाश का

उच्छेद करनेवाले प्रभु के पादपद्मों में पहुँचकर भी उनसे नाशवान वस्तु की ही याचना की। जिन्हें प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन है, उन्हीं विश्वात्मा श्रीहरि को तपस्या द्वारा प्रसन्न करके भी मैंने जो कुछ माँगा, वह सब व्यर्थ है। मैं भाग्यहीन हूँ, क्योंकि बन्धन का नाश करनेवाले प्रभु से भी मैंने सांसारिक भोग ही माँगा।'

मैत्रेय कहते हैं—'विदुर! जब राजा उत्तानपाद ने सुना कि उनका पुत्र ध्रुव घर लौट रहा है, तो पहले तो उन्हें इस बात पर विश्वास ही नहीं हुआ। परन्तु शीघ्र ही उन्हें देवर्षि नारद की बात का स्मरण हो आया और वे पुत्र का मुख देखने को अधीर हो उठे। बन्धुजनों को साथ लेकर वे नगर के बाहर आये। सुनीति और सुरुचि दोनों रानियाँ तथा उत्तम भी उनके साथ थे। उस समय ध्रुवजी उपवन के पास आ चुके थे। देखते ही महाराज रथ से उतर पड़े और प्रेमातुर हो, उन्होंने ध्रुव को गले से लगा लिया। उन्होंने बार-बार पुत्र को सूँघा और स्नेह के आँसुओं से नहला दिया। ध्रुव ने पिता के चरणों में प्रणाम किया और उनसे आशीर्वाद पाकर उन्होंने माताओं के चरणों की वन्दना की। छोटी माता सुरुचि ने भी उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया, और 'चिरंजीवी रहो' ऐसा आशीर्वाद दिया। फिर ध्रुव और उत्तम प्रेम विह्वल हो, एक दूसरे से लिपट गये। माता सुनीति पुत्र को गले से लगाकर पिछला सारा संताप भूल गई। पुरवासी लोगों ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—'महारानी! आपने अवश्य शरणागत-वत्सल भगवान की उपासना की है। उनका निरन्तर ध्यान करनेवाले मृत्यु को भी जीत लेते हैं। यह आपका खोया हुआ पुत्र सौभाग्यवश लौट आया है और चिरकाल तक यह हम लोगों की रक्षा करेगा।'

राजर्षि उत्तानपाद ने अपने पुत्र के अति अद्भुत प्रभाव की बात देवर्षि नारद से पहले ही सुन रखी थी। अब उसे प्रत्यक्ष वैसा ही देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। यह जानकर कि प्रजा का भी

ध्रुव पर अनुराग है, उन्होंने उसका राज्याभिषेक कर दिया और आप संसार से विरक्त हो, वन को चल दिये।

ध्रुव ने भ्रमि के साथ विवाह किया। उससे उनके कल्प और वत्सर नाम के दो पुत्र हुए। उत्तम को शिकार खेलते समय एक दिन, हिमालय पर्वत पर, एक बलवान यक्ष ने मार डाला। उसके साथ उसकी माता भी परलोक सिधार गई। भाई के मारे जाने की खबर सुनकर ध्रुव यक्षों के देश में जा पहुँचे। महाबलवान यक्ष वीरों को उनका वहाँ आना सहन नहीं हुआ, और वे अस्त्रों से सुसज्जित होकर ध्रुव पर टूट पड़े। महारथी ध्रुव प्रचंड धनुर्धर थे। जब यक्षों ने उनके प्रबल पराक्रम को देखा तो उन्हें अपनी हार पर विश्वास हो गया। उन्होंने ध्रुव के रण-कौशल की प्रशंसा की और एकसाथ ही अनेक बाण चलाये। यक्षों की सेना ने अद्भुत रणकौशल दिखलाया। फिर भी ध्रुव ने दिव्यबाणों की वर्षा कर, उन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया। बहुतेरे यक्ष खेत रहे। जो किसी प्रकार जीवित बचे, वे रणक्षेत्र छोड़ कर भाग गये। इसके क्षणभर बाद ही ध्रुव ने देखा कि सारा आकाश मेघमाला से घिर गया है और सब ओर भंयकर गड़गड़ाहट के साथ बिजली चमकने लगी है। फिर उन्होंने देखा कि बहुतेरे सर्प फुफकार मारते और चिनगारियाँ उगलते आ रहे हैं और झुण्ड-के-झुण्ड मतवाले हाथी, सिंह और बाघ भी उन्हींकी ओर दौड़े आ रहे हैं। उन क्रूरस्वभाव यक्षों ने अपनी आसुरी माया से ऐसे ही बहुत-से कौतुक दिखलाये। ध्रुव पर उनकी दुस्तर माया फैली देख कर मुनियों ने उनके लिए मंगल कामना की, और कहा—'उत्तानपादनन्दन ध्रुव! शार्ङ्गपाणि भगवान नारायण तुम्हारे शत्रुओं का संहार करें।'

ऋषियों का आशीर्वाद पाकर महाराज ध्रुव ने नारायणास्त्र को धनुष पर चढ़ाया। उस बाण के चढ़ाते ही यक्षों की माया वैसे

ही विनष्ट हो गई, जैसे ज्ञान का उदय होने पर अविद्याजनित क्लेश नष्ट हो जाते हैं। जब उनके पितामह मनु ने सुना कि ध्रुव निरपराध यक्षों का हनन कर रहे हैं, तब उनपर उन्हें बड़ी दया आई। वे ऋषियों को साथ लेकर वहाँ पहुँचे और ध्रुव को इस प्रकार समझाने लगे—'बेटा! क्रोध करना ठीक नहीं, क्रोध नरक का द्वार है। इसीके वश हो, तुमने इन निरपराध यक्षों का वध किया है; यह तुम्हारे कुल के योग्य कर्म नहीं है। साधु पुरुष इसकी बड़ी निन्दा करते हैं। बेटा! तुम्हारा अपने भाई पर बड़ा अनुराग था; परन्तु देखा, तुमने एक यक्ष के अपराध करने पर, कितनों की हत्या की है! प्राणियों की हिंसा करना भगवत्सेवी साधुजनों का मार्ग नहीं है। तुम साधुजनों के पथप्रदर्शक हो, फिर भी तुमने ऐसा निन्दनीय कर्म कैसे किया? सर्वात्मा श्रीहरि तो अपने से बड़े पुरुषों के प्रति सहनशीलता, छोटों के प्रति दया और समस्त जीवों के साथ समता का बर्ताव करने से ही प्रसन्न होते हैं और प्रभु के प्रसन्न हो जाने पर परमपुरुष ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है। ध्रुव! कालस्वरूप अव्यक्त भगवान स्वयं अन्तरहित होकर भी जगत का अन्त करनेवाले हैं तथा अनादि होकर भी सबके आदि कर्त्ता हैं। वे ही संसार की सृष्टि करते हैं तथा मृत्यु द्वारा मारनेवालों को भी मरवा कर उसका संहार करते हैं। वे काल भगवान सम्पूर्ण सृष्टि में समानरूप से प्रविष्ट हैं। उनका न तो कोई मित्रपक्ष है, न शत्रुपक्ष। जैसे वायु के चलने पर धूल उसके साथ-साथ उड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीव अपने-अपने कर्मों के अधीन काल की गति का अनुसरण करते हैं; अपने-अपने कर्मानुसार वे सुख-दुःखादि फल भोगते हैं। सर्व समर्थ श्रीहरि कर्म-बन्धन में बँधे हुए जीव की आयु को बढ़ाते नष्ट करते हैं। वे क्या करना चाहते हैं, इसको संसार में कोई नहीं जानता; फिर अपने मूलकारण उस प्रभु को तो जान ही कौन सकता है?

'बेटा ! इन कुबेर के अनुचरों ने तुम्हारे भाई का वध नहीं किया, मनुष्य के जन्म-मरण का वास्तविक कारण तो एक परमेश्वर ही है। एकमात्र वही संसार को रचता है, पालता है, और नष्ट करता है। वह अभक्तों के लिए मृत्युरूप और भक्तों के लिए अमृतमय है। तात ! तुम सब प्रकार उसी परमात्मा की शरण लो। जो तुम्हारे वैरभावहीन सरल हृदय में वात्सल्यवश विशेषरूप से विराजमान हुआ था; उस निर्गुण, अद्वितीय अविनाशी और नित्यमुक्त परमात्मा को अध्यात्म-दृष्टि से अपने अतःकरण में ढूँढ़ो। मैंने जो कुछ उपदेश दिया है, उसपर विचार कर, अपने क्रोध को शान्त करो। क्रोध कल्याणमार्ग का परम विरोधी है, भगवान तुम्हारा मंगल करें। जो बुद्धिमान पुरुष चाहता है कि मुझसे किसी भी प्राणी को भय न हो और मुझे भी किसी से भय न हो, उसे क्रोध के वश कभी नहीं होना चाहिए।' इस प्रकार स्वायम्भुव मनु ने अपने पौत्र को उपदेश दिया। ध्रुव ने उन्हें प्रणाम किया और वे महर्षियों के साथ अपने स्थान को चले गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं 'विदुरजी ! ध्रुव के क्रोध को शान्त हुआ जान भगवान कुबेर वहां आये। उन्हें देखते ही ध्रुव हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। कुबेर ने ध्रुव से कहा— 'क्षत्रियकुमार। अपने दादा के उपदेश से तुमने वैरभाव का परित्याग किया है, इससे मैं तुमपर प्रसन्न हूं। वास्तव में न तुमने यक्षों का मारा है, न यक्षों ने तुम्हारे भाई को। समस्त जीवों की उत्पत्ति और विनाश का कारण तो एकमात्र काल ही है। यह 'मैं' 'तू' आदि मिथ्याबुद्धि तो जीव को अज्ञानवश, स्वप्न के समान शरीर को ही आत्मा मानने से, उत्पन्न होती है। ध्रुव ! तुम संसार-पाश से मुक्त होने के लिए सब जीवों में समदृष्टि रखकर सर्वभूतात्मा श्रीहरि का भजन करो। प्रियवर ! हमने सुना है, तुम सर्वदा भगवान कमलनाभ के चरण कमलों के समीप रहनेवाले हो, इसलिए तुम्हें जिस वर की इच्छा

हो, मुझसे मांग लो।

यक्षराज कुबेर ने जब इस प्रकार वर मांगने के लिए आग्रह किया तो ध्रुव ने उनसे यह मांगा कि मुझे श्रीहरि की अखंड स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य सहज ही दुस्तर संसार-सागर को पार कर जाता है। कुबेर ने बड़े प्रसन्न मन से उन्हें भगवत्स्मृति प्रदान की। उनके अन्तर्धान हो जाने पर ध्रुव अपनी राजधानी को लौट आये। उन्होंने अनेक यज्ञों से भगवान यज्ञपुरुष की आराधना की।

ध्रुव बड़े दीनवत्सल, शीलसंपन्न और धर्ममर्यादा के रक्षक थे। प्रजा उन्हें साक्षात् पिता के समान मानती थी। तरह-तरह के याज्ञादि पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से पाप का क्षय करते हुए, उन्होंने बहुत काल तक पृथ्वी पर शासन किया। तत्पश्चात इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को स्वप्न जैसा समझ और यह जानकर कि शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेना, घर और खजाना सभी नाशवान हैं, वे अपने पुत्र उत्कल को राजसिंहासन सौंप, स्वयं बद्रिकाश्रम चले गये। वहां उन्होंने प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों और मन को वश में कर अपने चित्त को स्थूल विराट स्वरूप में स्थिर कर दिया। विराट स्वरूप का चिन्तन करते-करते वे अनन्त समाधि में लीन हो गये। श्रीहरि के प्रति निरन्तर भक्तिभाव का प्रवाह चलते रहने से उन्हें अन्त में मैं ध्रुव हूँ यह स्मृति भी नहीं रही।

ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर एक दिन उन्होंने अपने लिए पार्षदों सहित एक दिव्य विमान उतरते देखा। ध्रुव ने भगवान मधुसूदन के नामों का कीर्तन करते हुए जब उन्हें प्रणाम किया तब उन पार्षदों ने उनसे कहा–'राजन्! आपका कल्याण हो। आपने पांच वर्ष की अवस्था में ही तपस्या द्वारा सर्वेश्वर को प्रसन्न कर लिया था। हम उन्हीं भगवान विष्णु के सेवक हैं, और आपको भगवान के धाम में ले जाने के लिए यहां आये हैं।

आपने अपनी भक्ति के प्रभाव से उस विष्णुलोक का अधिकार प्राप्त किया है जो बड़ा दुर्लभ है। परमज्ञानी सप्तर्षि भी वहां तक नहीं पहुँच सके। सूर्य-चन्द्रमादि ग्रह उसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। भगवान विष्णु का वह परमधाम सारे संसार का वन्दनीय है। यह उत्तम विमान श्रीहरि ने आपके लिए ही भेजा है।'

भगवान के प्रमुख पार्षदों के ये अमृतमय वचन सुन, परम भागवन ध्रुव ने बद्रिकाश्रम में रहनेवाले मुनियों को प्रणाम कर, तथा उनसे आशीर्वाद ले, विमान पर चढ़ने की तैयारी की। इसी बीच उन्होंने देखा कि काल मूर्तिमान हो, उनके समक्ष खड़ा है। उसकी उपेक्षा कर वे उस विमान पर चढ़ गये। पर ज्योंही ध्रुव भगवान के धाम को जाने लगे कि उन्हें अपनी माता सुनीति का ध्यान हो आया। तब नन्द और सुनन्द ने उनके मन की बात जानकर उन्हें बतलाया कि देवी सुनीति आगे-आगे दूसरे विमान से जा रही हैं। इस प्रकार ध्रुवजी ने अचलपद को प्राप्त किया।

महाराजा अंग और वेन की कथा

महाराजा ध्रुव के वन चले जाने पर उनके पुत्र उत्कल ने सार्वभौम वैभव और राजसिंहासन को अस्वीकार कर दिया। वे जन्म से ही शांतचित्त, आसक्तिशून्य तथा समदर्शी थे। वे अपनी आत्मा को संपूर्ण लोकों में स्थित देखते थे। भेदातीत प्रशांत ब्रह्म को ही वे अपना स्वरूप समझते। अपनी आत्मा से भिन्न वे कुछ भी नहीं देखते थे। इसलिए मंत्रियों ने उनके छोटे भाई 'वत्सर' को राजा बनाया। इन्हीं के वंश में 'अंग' नाम के एक राजा हुए। 'वेन' नाम का उनका एक महाक्रूरकर्मा पुत्र हुआ, जिसके उपद्रवों से तंग आकर वे वन को चले गये।

विदुर ने पूछा—'मैत्रेय मुनि! महाराज अंग तो बड़े साधुस्वभाव के पुरुष थे। उनके वेन-जैसा कुकर्मी पुत्र कैसे हुआ, जिसके कारण दुःखी होकर उन्हें राज्य का परित्याग करना पड़ा?'

मैत्रेयमुनि ने उत्तर देते हुए कहा—"विदुर ! एक बार राजर्षि अंग ने अश्वमेध महायज्ञ का अनुष्ठान किया। उसमें वेद-वादी ब्राह्मणों के आवाहन करने पर भी देवगण अपना भाग लेने नहीं आये। तब ऋषियों ने विस्मित होकर यजमान् अङ्ग से कहा—'राजन् ! आहुतियों आदि के रूप में जो हवन हम कर रहे हैं, उसे देवगण स्वीकार नहीं करते। न तो हमारी सामग्री दूषित है, न ऋत्विज ही अयोग्य हैं। और हमें ऐसी कोई बात भी नहीं दीखती, जिससे कि इस यज्ञ में देवताओं का कुछ भी तिरस्कार हुआ हो। फिर भी वे अपना भाग क्यों नहीं ले रहे हैं ?'

ऋत्विजों की बात सुनकर यजमान अंग बड़े खिन्न हुए। उन्होंने तब सदस्यों से पूछा—'सदस्यो ! मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हुआ, जो देवता यज्ञ में अपना भाग लेने नहीं आ रहे ?' सदस्यों ने कहा—'राजन् ! इस जन्म में तो आपसे तनिक भी अपराध नहीं हुआ। हाँ, पूर्वजन्म का कोई अपराध अवश्य हो सकता है, जिसके कारण आप पुत्रहीन हैं। आप पहले पुत्र की कामना से यज्ञ करें। भगवान यज्ञेश्वर की कृपा से आपको अवश्य पुत्र प्राप्त होगा। जब संतान के लिए साक्षात् श्रीहरि का आवाहन किया जायगा, तब देवता स्वतः अपना भाग ग्रहण करेंगे।'

तब राजा अंग को पुत्र-प्राप्ति कराने का निश्चय कर ज्योंही ऋत्विजों ने यज्ञ में आहुति डाली, क स्वर्णपात्र में सिद्ध खीर लिये एक दिव्य पुरुष अग्निकुण्ड से निकले। राजा अंग ने उस खीर को स्वीकार कर, अपनी पत्नी को दे दिया। उस खीर के खाने से रानी के यथासमय एक पुत्र हुआ। वह बाल्यावस्था से ही अधार्मिक, क्रूर और निर्दय निकला। उसे लोग इसीसे 'वेन' कहा करते थे। महाराज अंग ने उसे अनेक प्रकार से सुधारने की चेष्टा की, पर वे उसे सुमार्ग पर नहीं ला सके। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ।

जिसकी करनी से माता-पिता का सारा सुयश मिट्टी में मिल जाय, कभी न छूटनेवाली चिंता गले पड़ जाय और घर भी दुःख का आगार बन जाय, ऐसी संतान के लिए कौन समझदार पुरुष सचेष्ट होगा ? महाराजा अंग को इन कारणों से गृहस्थी से विराग हो गया और वे सबकी मोह-ममता छोड़कर वन को चल दिये।

"विदुरजी ! जब मुनियों ने देखा कि अब प्रजा की रक्षा करनेवाला कोई नहीं रहा तब उन्होंने, मंत्रियों की इच्छा के विरुद्ध भी, वेन को राज्यपद पर अभिषिक्त कर दिया। पर वेन बड़ा निर्दय शासक निकला। राज्यासन पाने पर ऐश्वर्यमद से उन्मत्त हो, वह महापुरुषों का अपमान तथा स्वेच्छाचारिता करने लगा। उसने अपने राज्य में सारे धर्म-कर्म बन्द करा दिये और ढिंढोरा पिटवा दिया कि कोई भी मनुष्य यज्ञ, दान, हवनादि न करे। उसका ऐसा अत्याचार देख, सारे ऋषि-मुनि कहने लगे कि हम लोगों ने अराजकता के भय से, अयोग्य होने पर भी, वेन को ही राजा बनाया ; पर इससे तो प्रजा का भय और भी अधिक बढ़ गया है। अतः वे सब मिलकर उसके पास गये और प्रिय वचनों से उसे इस प्रकार समझाने लगे—'राजन् ! हम आपसे जो-कुछ कहते हैं, उसपर ध्यान दीजिये ; इससे आपकी आयु, श्री, कीर्ति और बल बढ़ेगा। यदि मनुष्य मन, वाणी, बुद्धि और शरीर से धर्म का आचरण करे तो उसे स्वर्गादि शोकरहित लोक प्राप्त होते हैं। यदि उसका निष्काम भाव हो, तो वही धर्म उसे अनन्त मोक्षपद पर पहुँचा देता है। इसलिए वीरवर ! प्रजा का कल्याणरूप वह धर्म आपके कारण नष्ट नहीं होना चाहिए। जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा करता है, वह इहलोक और परलोक—दोनों में ही सुख पाता है। जिस राज्य अथवा नगर के मनुष्य भगवान यज्ञपुरुष की आराधना करते हैं, उस राज्य के राजा से भगवान प्रसन्न रहते हैं। यदि आप देवताओं के अनुकूल रहेंगे तो वे

आपको मन-चाहा फल देंगे। अतः आपको यज्ञादि धर्मानुष्ठान बन्द नहीं कराने चाहिए।'

वेन ने इस ऋषि-मंडल को तिरस्कार-पूर्वक यह उत्तर दिया—'तुम लोग भारी मूर्ख हो। तुमने अधर्म में ही धर्मबुद्धि कर रखी है। तुम जीविका देनेवाले मुझ साक्षात् स्वामी को छोड़कर किसी दूसरे देवता की उपासना करते हो। जिसमें तुम लोगों की इतनी भक्ति है, वह 'यज्ञपुरुष' है कौन? (विष्णु, ब्रह्मा, महादेव आदि सभी देवता राजा के शरीर में विद्यमान रहते हैं। अतः राजा ही सर्वदेवमय है। इसलिए ब्राह्मणो! तुम सब लोग एक मेरा ही अर्चन-पूजन करो। भला, मेरे सिवा और कौन अग्रपूजा का अधिकारी हो सकता है?')

अत्यन्त विपरीत-बुद्धि का होने के कारण उस पापी ने ऋषि मुनियों के प्रार्थना करने पर भी, उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। इस अपमान से उनको अत्यन्त क्षोभ हुआ और उन्होंने अपने ब्राह्मतेज से उसका अंत कर दिया।

महाराजा पृथु की कथा

"विदुरजी! एक दिन वे ऋषिगण सरस्वती के पवित्र जल में स्नान कर, अग्निहोत्र से निवृत्त हो, नदी-तीर पर बैठे हरि-चर्चा कर रहे थे। उन दिनों लोकों में आतंक फैलानेवाले बहुत-से उपद्रव देखकर, वे आपस में विचारने लगे कि 'आजकल पृथिवी की रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। राजर्षि अंग का वंश भी नष्ट नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसमें अनेक भगवत्परायण राजा हो चुके हैं। ऐसा विचार कर उन्होंने योगबल से वेन के वंश में एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा उत्पन्न किया। उन्हें देख, ऋषिगण बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—'यह परमयशस्वी पुरुष 'पृथु' के नाम से प्रख्यात होगा।'

"विदुरजी! उन्होंने पृथु के दाहिने हाथ में भगवान विष्णु की हस्त-रेखाएं और चरणों में कमल का चिन्ह देखकर उन्हें श्रीहरि का ही अंश समझा। कुछ समय पश्चात् वेदवादी ब्राह्मणों ने महाराज पृथु के अभिषेक का आयोजन किया। बड़ी धूमधाम के साथ महाराजा पृथु, महारानी अर्चि के साथ राजसिंहासन पर बैठे। उन्हें कुबेर ने एक सुन्दर सोने का सिंहासन दिया और वरुण ने एक प्रकाशमय छत्र। वायु, धर्म, इन्द्र, यम, ब्रह्मा, सरस्वती, विष्णु और रुद्रादि देवों ने भी उन्हें अनेक उपहार दिये। इसके पश्चात् सूत, मागध और वन्दीजनों ने मुनियों की प्रेरणा से उनकी इस प्रकार स्तुति की—

'आप साक्षात् नारायण ही हैं, इसलिए हम आपकी महिमा का वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ हैं, आपकी कीर्ति अपार है। लोक को धर्म-मार्ग में प्रवृत्त कर, आप धर्म-मर्यादा की रक्षा करेंगे तथा उसके विरोधियों को दण्ड देंगे। आप सूर्य के समान प्रतापी और समदर्शी तथा पृथ्वी के समान सहिष्णु और दयालु हैं। आप बड़े दृढ़संकल्प, सत्यप्रतिज्ञ, ब्रह्मण-भक्त, वृद्धजनों के सेवक, शरणागतवत्सल, सब प्राणियों को मान देनेवाले तथा दीन-दुर्बलों पर दया करनेवाले हैं। आपकी भगवान सनत्कुमार से भेंट होगी और उनकी भक्तिपूर्वक सेवा करने से परब्रह्म को प्राप्त कराने-वाला निर्मल ज्ञान आप प्राप्त करेंगे।'

महाराजा पृथु के शासनकाल में पृथिवी अन्नहीन हो गई थी। प्रजाजनों के शरीर सूखकर काँटे हो गये थे। इसलिए उन्होंने अपने स्वामी 'पृथु' से निवेदन किया—'महारज! हम पेट की भीषण ज्वाला से जले जा रहे हैं। आप हम क्षुधापीड़ितों को शीघ्र ही अन्न देने का प्रबन्ध कीजिए।'

प्रजा का यह करुण-क्रन्दन सुनकर महाराज पृथु बड़ी देर तक सोचते रहे। उन्हें निश्चय हो गया कि पृथिवी ने स्वयं अन्न एवं

औषधादि को अपने भीतर छिपा रखा है। अत: उन्होंने पृथ्वी को लक्ष्य कर अपने धनुष और बाण का संधान किया। यह देख पृथ्वी भय से काँप उठी और गौ का रूप धारण कर भागने को तैयार हो गई। जहाँ-जहाँ वह गई, वहाँ पृथु ने उसका पीछा किया। जब तीनों लोकों में उसे पृथु से बचानेवाला कोई नहीं मिला, तब अत्यन्त भयभीत होकर उसने महाराजा पृथु से पूछा—'धर्म के तत्व को जाननेवाले हे शरणागतवत्सल राजन्! मैं दीन निरपराध हूँ। आप मुझे क्यों मारना चाहते हो?' महाराजा पृथु ने उत्तर दिया—'तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वाली है और हमें अन्न नहीं देती। ऐसी दुष्टता करने पर तुझे दंड देना अनुचित नहीं कहा जा सकता। जो दुष्ट अपना ही पालन-पोषण करनेवाला तथा अन्य प्राणियों के प्रति निर्दय हो,वह पुरुष या स्त्री कोई भी हो,उसका मारना राजाओं के लिए न मारने के समान ही है। तुझे दण्ड देकर मैं प्रजा की रक्षा करूंगा।'

पृथिवी ने कहा—'मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ। आप सम्पूर्ण जगत् के विधाता हैं। आपने ही मुझे समस्त जीवों का आश्रय-स्थान बनाया है। आप धर्मपरायण हैं। आप मेरी रक्षा कीजिए। प्रभो! अब आप अपना क्रोध शान्त कीजिए और मैं जो कुछ निवेदन करती हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिए। तत्वदर्शी मुनियों ने जनकल्याण के लिए कृषि, अग्निहोत्र आदि बहुत से उपाय बतलाये। उन प्राचीन ऋषियों के बताये हुए उपायों का इस समय जो भी पुरुष श्रद्धापूर्वक आचरण करता है, वह सुगमता से अभीष्ट फल पा जाता है। परन्तु तर्कशील पुरुष जो उनका अनादर करते हैं, निष्फल रहते हैं। जब मैंने देखा कि मेरे उत्पन्न किये धान्यादि को दुराचारी लोग ही खाये जा रहे हैं, तब उनको मैंने अपने में ही छिपा लिया है। यदि आपको अन्न की आवश्यकता है तो आप मेरे योग्य बछड़ा, दोहनपात्र और दुहनेवाले की व्यवस्था

कीजिये। मैं दूध के रूप में सभी अभीष्ट वस्तुएं आपको दूंगी। राजन्! आपको मुझे समतल करना होगा, जिससे वर्षा का जल मुझपर सर्वत्र बना रहे। यह आपके लिए मंगलकारक होगा।'

तब महाराज पृथु ने स्वायम्भुव मनु को बछड़ा बनाकर अपने हाथ में ही समस्त धान्यों को दुह लिया। पूर्वकाल में पृथु के समान अन्य विज्ञजनों ने भी पृथिवी से सार ग्रहण कर लिये थे। उन्होंने भी वसुन्धरा से अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुएं दुह ली थीं। ऋषियों ने बृहस्पति को बछड़ा बनाकर इन्द्रियरूप पात्र में पृथिवी देवी से वेदरूप पवित्र दूध दुहा था। दैत्यों और दानवों ने असुर-श्रेष्ठ प्रह्लादजी को वत्स बनाकर लोहे के पात्र में मदिरा और आसवस्वरूप दूध प्राप्त किया था। कपिलदेव को बछड़ा बनाकर आकाशरूप पात्र में सिद्धों ने अणिमादि अष्टसिद्धि तथा विद्याधरों ने आकाशगमन आदि विद्याओं को दुहा। कुरुश्रेष्ठ विदुर! इस प्रकार पृथु आदि सभी महापुरुषों ने भिन्न-भिन्न दोहनपात्रों और वत्सों के द्वारा पृथिवी से अपने-अपने अभीष्ट साधन प्राप्त किये हैं।

तत्पश्चात् राजा पृथु ने सौ अश्वमेध-यज्ञ किये। महाराजा पृथु के यज्ञ में भगवान ने योगेश्वर-रूप से साक्षात् दर्शन दिया था। उनके साथ ब्रह्मा, रुद्र तथा अपने-अपने अनुचरों के साथ लोकपाल भी आये थे। यह देखकर इन्द्र ने सोचा कि पृथु के कर्म उसके कर्मों से भी बढ़ जायेंगे। यह इन्द्र को सहन नहीं हुआ और उसने उस यज्ञ में विघ्न डालने की चेष्टा की। जिस समय महा-राज पृथु अन्तिम यज्ञ द्वारा, भगवान की अराधना कर रहे थे, इन्द्र ने उनके यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया। अपनी रक्षा के लिए इन्द्र ने पाखंड-वेश धारण कर लिया था, जिसका आश्रय लेकर पापी पुरुष भी धर्मात्मा-सा जान पड़ता है। इस वेश में घोड़े को लिये वे शीघ्रता से जा रहे थे कि उसपर महर्षि अत्रि की दृष्टि

पड़ गई। उनके कहने से महाराज पृथु का महारथी पुत्र इन्द्र को मारने के लिए उनके पीछे चला। इन्द्र सिर पर जटा-जूट और शरीर पर भस्म रमाये हुए थे। उसका ऐसा वेश देख कर पृथुकुमार ने उसे मूर्तिमान धर्म समझा और वह लौट आया। इन्द्र पर वार किये बिना ही उसे लौट आया देख, महर्षि अत्रि ने पुनः इन्द्र को मारने की आज्ञा उसे दी। इन्द्र उसे फिर आते हुए देख कर घोड़े को वहीं छोड़ अन्तर्धान हो गया और वही वीर अपना यज्ञपशु लेकर पिता की यज्ञशाला में लौट आया। तब इन्द्र ने घोर अन्धकार फैलाया और छिपकर घोड़े को फिर हरण कर ले गया। अत्रि मुनि ने पुनः पृथुकुमार को उन्हें जाते हुए दिखा दिया; किन्तु ज्योंही उसने इन्द्र पर अपने धनुषबाण का सन्धान किया, वह पुनः घोड़े को वहीं छोड़ कर अन्तर्धान हो गये।

इन्द्र की इस कुचाल का पता लगने पर महाराज पृथु को बड़ा क्रोध आया। वे उसे मारने की तैयारी करने लगे। जब ऋत्विजों ने देखा कि महाराज पृथु इन्द्र का वध कर डालने को तत्पर हैं तब उन्हें रोकते हुए उन्होंने कहा— 'राजन! आप तो बुद्धिमान हैं। यज्ञदीक्षा ले लेने पर किसी का भी वध करना उचित नहीं है। हम मन्त्रों द्वारा ही इन्द्र को यहीं बुला लेते है और अग्नि में हवन कर देते हैं। वे आहुति डालना ही चाहते थे कि ब्रह्माजी ने वहां आकर उन्हें रोक दिया और कहा—'याजको! इन्द्र का वध करना अनुचित है। इन्द्र तो भगवान की ही मूर्ति हैं। तुम यज्ञ द्वारा जिन देवताओं की आराधना कर रहे हो, वे इन्द्र के ही तो अंग हैं और उन्हें ही तुम यज्ञ द्वारा मारना चाहते हो। महाराज पृथु के निन्यानवे ही यज्ञ रहने दो। फिर उन्होंने राजर्षि पृथु से कहा—

'राजन्! आप तो मोक्ष-धर्म के ज्ञाता हैं। अतः अब आपको इन यज्ञानुष्ठानों की आवश्यकता नहीं है। आप और इन्द्र दोनों ही पवित्रकीर्ति भगवान श्रीहरि के अंश हैं, इसलिए इन्द्र के

प्रति आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। आपका यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुआ। इसके लिए आप चिन्ता न करें। जो मनुष्य विधाता के बिगाड़े हुए काम को बनाने का विचार करता है, उसका मन महामोह में फँस जाता है। आपने धर्म की रक्षा के लिए ही अवतार लिया है, अतः अपने इस अवतार का उद्देश्य विचार कर आप ऋषि-मुनियों का संकल्प पूरा कीजिए।'

प्रबल पराक्रमी महाराज पृथु ने यज्ञ पूर्ण करने का आग्रह छोड़ दिया। महाराज पृथु के इस निश्चय से योगेश्वर भगवान विष्णु को बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने इन्द्र सहित वहाँ उपस्थित होकर कहा—'राजन्! तुम्हारे सौ अश्वमेध-यज्ञ पूरा करने के संकल्प में इन्द्र ने विघ्न डाला है, अब यह तुमसे क्षमा चाहते हैं। तुम इन्हें क्षमा कर दो। जो श्रेष्ठ मानव सद्बुद्धिसम्पन्न होते हैं, वे दूसरे जीवों से द्रोष नहीं करते। ज्ञानवान पुरुष इस शरीर को अविद्या, वासना और कर्मों का ही पुतला समझकर इसमें आसक्त नहीं होते। यह आत्मा एक, शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्गुण, गुणों का आश्रय-स्थान, सर्वव्यापक, आवरणशून्य एवं सबका साक्षी है; अतएव शरीर से भिन्न है। जो पुरुष इस देहस्थित आत्मा को इस प्रकार देह से भिन्न समझता है, वह प्रकृति से संबंध रखते हुए भी उसके गुणों से लिप्त न[illegible]ता उसकी स्थिति मुझ परमात्मा में ही रहती है। राजन्! जो पुरुष किसी भी प्रकार की कामना न रखकर नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक मेरी आराधना करता है, उसका चित्त धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर विषयों से सम्बन्ध नहीं रहता और तत्वज्ञान प्राप्त हो जाता है। यही परम शान्त ब्रह्म अथवा कैवल्य है। जो पुरुष यह जानता है कि शरीर, ज्ञान, क्रिया और मन का साक्षी होने पर भी कूटस्थ आत्मा उनसे निर्लिप्त रहता है, वह कल्याणमय मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। मुझमें दृढ़ अनुराग रखनेवाले पुरुष संपत्ति या विपत्ति आने पर कभी हर्ष-शोकादि

विकारों के वश में नहीं होते। तुम उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषों में समभाव रखकर सुख-दुःख को एक-सा समझो। राजन्! तुम्हारे गुणों ने और स्वभाव ने मुझे वश में कर लिया है। अतः जो तुम्हारी इच्छा हो, मुझसे वह वर माँग लो। क्षमा आदि गुणों से रहित यज्ञ, तप अथवा योग के द्वारा मुझे पाना सरल नहीं है। मैं तो उन्हीं के हृदय में बसता हूँ, जिनके चित्त में समता रहती है।'

सर्वलोकगुरु श्रीहरि के इस प्रकार उपदेश करने पर जगद्-विजयी महाराज पृथु ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। उन्होंने विश्वात्मा भक्तवत्सल भगवान का पूजन किया, और उनके चरण-कमल पकड़ लिये। प्रेमयुक्त गद्गद्वाणी से वे कहने लगे—'मोक्ष-पते! आप मुझे बहुतेरे श्रवणेन्द्रिय दे दीजिये, जिनसे मैं सदा आपके लीलागुणों को सुनता रहूं। उत्तमकीर्ति! सत्संग में आपके मंगलमय सुयश को एक बार भी सुन लेने पर कोई गुणग्राही उसे कैसे छोड़ सकता है? मैं आपकी सेवा ही किया चाहता हूँ। निष्काम महात्मा, ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी, आपका ही भजन करते हैं। मुझे तो निरन्तर आपके चरणकमलों के चिन्तन के सिवा और कोई प्रयोजन ही नहीं जान पड़ता। जिस तरह पिता, पुत्र की प्रार्थना की अपेक्षा न रखकर, अपने-आप ही पुत्र का कल्याण करता है, उसी प्रकार आप भी हमारी इच्छा की अपेक्षा न कर, हमारे हित के लिए स्वयं ही प्रयत्न करें।

पृथु के इस प्रकार निवेदन करने पर सर्वसाक्षी श्रीहरि ने उनसे कहा—'राजन्! तुम्हारी मुझमें भक्ति हो। अब तुम सावधानी से मेरे आज्ञापालन में तत्पर रहो। जो कोई मेरी आज्ञा का पालन करता है, सर्वत्र उसका मंगल ही होता है। ऐसा कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये।

विदुरजी! महाराज पृथु का नगर यज्ञ के समय सुगंधित धूपों,

पुष्पों और मालाओं से अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। उसमें नाना प्रकार के पत्रों और पुष्पों से सजे बन्दनवार शोभा दे रहे थे। देशवासियों ने भी उनका हार्दिक अभिनन्दन किया। उन्होंने अनेक वर्षों तक पृथिवी का सुन्दर ढंग से शासन किया और अंत में उदार कर्मों द्वारा अपने विपुल यश का विस्तार कर, भगवान का परमपद प्राप्त किया।

महाराज पृथु, गङ्गा और यमुना के मध्यवर्ती देश में रहते हुए अपने पुण्यभोगों को ही भोगते थे। एक बार उन्होंने एक महासत्र की दीक्षा ली, जिसके नियमानुसार सब आभूषण उतार, शरीर पर कृष्णमृग का चर्म और हाथों में कुशासन धारण कर सारी सभा को अपने स्नेहपूर्ण नेत्रों से सराबोर करते हुए कहा—'कर्मों का फल देनेवाले स्वयं भगवान यज्ञपति ही हैं। जिनके चरणकमलों की सेवा की अभिलाषा, गंगा के समान, जीवों के जन्म-जन्मान्तरों के संचित मनोमल को धो देनेवाली है, जिनके चरणों का आश्रय लेनेवाला पुरुष सब प्रकार के दोषों से छुटकारा पा जाता है तथा वैराग्य और तत्व के साक्षात्कार द्वारा फिर इस दुःखमय संसारचक्र में नहीं पड़ता, और जिनके चरणकमल सब प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं, उन प्रभु को आप लोग ध्यान, स्तुति, आदि साधनों के द्वारा भजें। हृदय में किसी प्रकार का कपट न रखें तथा यह निश्चय जानें कि हमें अपने-अपने कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। इस पृथिवी पर जो लोग सर्वगुरु श्रीहरि का निष्ठापूर्वक निरन्तर पूजन करते हैं, वे मुझपर बड़ी कृपा करते हैं। भगवान की नित्य सेवा करने से चित्त विशुद्ध हो जाता है, मोक्ष-पद शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

महाराज पृथु का यह उपदेश सुनकर सब सभासद बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'राजन्! पुत्र के द्वारा पिता पुण्यलोकों को प्राप्त कर लेता है, यह श्रुति यथार्थ है। पापी वेन और हिरण्यकशिपु

नरक में गिरनेवाले ही थे; किन्तु अपने पुत्रों के प्रभाव से ही वे इससे बच सके। आपकी श्रीहरि में अविचल भक्ति है, आप दीर्घायु हों। प्रजाजन जिस समय इस प्रकार महाराज पृथु का अर्चन कर रहे थे, उसी समय सनकादि चारों मुनीश्वर वहाँ पहुँचे। उन्हें देखते ही महाराज पृथु सब सदस्यों के साथ खड़े हो गये, उन्होंने उनकी विधिवत् पूजा कर बड़ी श्रद्धा के साथ उनसे कहा–'मंगलमूर्ति मुनीश्वरो! आपके दर्शन तो योगियों को भी दुर्लभ हैं, आपका स्वागत है। हम लोग इस संसार में पड़े हुए केवल इन्द्रिय-भोगों को ही पुरुषार्थ मान रहे हैं। हम जैसे मनुष्यों का किस प्रकार सुगमता से कल्याण हो सकता है?'

सनकादि मुनीश्वरों ने कहा—'महाराज! सत्पुरुषों का सत्संग, भगवान के चरणकमलों के गुणानुवाद, आत्मा से भिन्न देहादि के प्रति वैराग्य तथा आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्म में सुदृढ़ अनुराग—शास्त्रों ने कल्याण के ये ही साधन निश्चित किये हैं। शास्त्र के वचनों में विश्वास, भागवत-धर्मों का आचरण, परमतत्व की जिज्ञासा, ज्ञानयोग में निष्ठा, योगेश्वर श्रीहरि की उपासना, पावन कथाओं का श्रवण, किसी भी जीव को कष्ट न देना, निष्काम भाव से यम-नियमों का पालन करना, कभी किसी की निन्दा न करना और उत्कट वैराग्य—इन सब साधनों के अभ्यास से आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्म में प्रीति पैदा हो जाती है। परब्रह्म में सुदृढ़ प्रीति हो जाने पर मनुष्य सद्गुरु की शरण लेता है। जो लोग विषय-चिन्तन में ही लगे रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं और मन को भी उन्हीं की ओर खींच ले जाती हैं। इन्द्रियासक्त मन बुद्धि की विचारशक्ति को क्रमशः हर लेता है। विचारशक्ति के नष्ट हो जाने पर स्मृति जाती रहती है और स्मृति का नाश हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता। इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन मनुष्य के समस्त पुरुषार्थों का नाश कर देता है। जिसे अज्ञानान्धकार से

पार होने की इच्छा हो, उसे विषयों में कभी आसक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति में भारी बाधक है। अतः तुम सबके आश्रय-रूप भगवान वासुदेव का का भजन करो।'

आत्मज्ञानी सनकादि मुनीश्वरों से इस प्रकार अमरतत्व पाकर महाराज पृथु ने कहा—'महात्माओं! आप लोग बड़े ही कृपालु हैं। आपकी कृपा के बदले मैं आपको क्या अर्पण करूँ? मेरे पास तो केवल शरीर ही है और यह आपके चरणों में समर्पित है। आप वेदों के पारगामी हैं। आपने अध्यात्मतत्व का विचार कर हमें निश्चित रूप से समझा दिया है कि इस प्रकार की प्रेम-परा-भक्ति ही परमेश्वर की प्राप्ति का प्रधान साधन है। आपने जो हमें अत्यंत हितकर उपदेश दिया है, उसके लिए हम आपके परम अनुगृहीत हैं।' महाराज पृथु से इस प्रकार सम्मान पाकर सनकादि अपने आश्रम को चले गये।

महाराज पृथु ने धर्मपूर्वक अनेक वर्षों तक शासन करने के पश्चात् देखा कि अब बुढ़ापा आ गया है उन्होंने अपने मन में विचार किया—'मेरी अवस्था ढल गई है। और अब ईश्वर की आज्ञा का पालन भी हो चुका है, इसलिए मुझे अन्तिम पुरुषार्थ, मोक्ष, के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।' अतः राज्य का भार अपने पुत्रों को सौंपकर वे तपोवन चले गये और वहां भगवान की उत्तम आराधना करने लगे। तप के प्रभाव से उनका चित्त सर्वथा शुद्ध हो गया। निरन्तर साधना करते रहने से परब्रह्म में उनकी अनन्य भक्ति हो गई। जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तो वीर व्रतधारी पृथु ने अपने चित्त को परमात्मा में स्थित कर शरीर त्याग दिया। महारानी अर्चि भी उनके साथ वन गई थीं। उन्होंने वहाँ अपने पति की भरपूर सेवा की और उनकी तपस्या में सहायक रहीं। उनके शरीर त्यागने के बाद वे उनके साथ ही सती हो

गईं, और जिस परमधाम को महाराज पृथु गये, पतिपरायण अर्चि भी उसी लोक को पाने की अधिकारिणी हुईं।

राजा प्राचीनबर्हि तथा प्रचेताओं की कथा

पृथु के बाद उनके पुत्र विजिताश्व राजा हुए। उन्हें 'अन्तर्धान' भी कहते हैं। इनके पौत्र प्राचीनबर्हि के प्रचेता नामक दस पुत्र हुए। ये सब बड़े ही धर्मज्ञ और एक-से नाम व आचरणवाले थे। साधु स्वभाव प्रचेतागण तपस्या करने का निश्चय करके जब पश्चिम की ओर चले तो उन्होंने कुछ दूर पर एक विशाल सरोवर देखा। उसका जल निर्मल तथा नाना प्रकार के पुष्पों से आच्छादित, बड़ा रमणीय दीख पड़ता था। उसके जलचारी जीव भी प्रसन्न दीख रहे थे। निकट जाने पर उन राजकुमारों ने वहाँ मृदंग आदि बाजों के साथ मधुर गायन का स्वर सुना। इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वहीं उन्होंने देखा कि अपने अनुचरों के साथ स्वयं देवाधिदेव भगवान शंकर उस सरोवर से बाहर आ रहे हैं। सहसा शिवजी के दर्शन हो जाने से वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने भक्तिभाव से भगवान के चरणों में प्रणाम किया। भक्त-वत्सल शंभु ने प्रसन्न होकर उन राजकुमारों से कहा—'तुम जो कुछ करना चाहते हो वह मुझे विदित है। तुम्हारा कल्याण हो। जो व्यक्ति भगवान वासुदेव की शरण लेता है, वह मेरा परमप्रिय है। भगवान का अनन्य भक्त अन्त में भगवान विष्णु के परम-पद का अधिकारी होता है। मैं तुम्हें एक मंगलमय स्तोत्र सुनाता हूँ।

भगवान शंकर ने इस प्रकार स्तुति की—'भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है। आपके भक्तजन आपके जिस रूप का पूजन करते हैं, अपने उस अनुपम रूप की झाँकी हमें दिखलाइए। हमें आपके दर्शनों की अभिलाषा है। आपका यह मनोरम रूप हमारी

समस्त कामनाओं को तृप्त करनेवाला है। आपके चरणकमलों की शोभा शरद् ऋतु के कमलदल की कान्ति का भी तिरस्कार करती है। हम तो यही चाहते हैं कि आपके भक्तजनों का संग हमें सदा प्राप्त होता रहे। आपकी माया अनेक प्रकार के रूप धारण करती है और इसीसे भेदबुद्धि पैदा होती है। अतः चित्तशुद्धि चाहने वाले साधक को आपके ही अनुपम रूप का निरन्तर ध्यान करना चाहिए। जो आपके इस सगुण-साकार-स्वरूप का श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं, वे ही वेद-शास्त्रों के सच्चे मर्मज्ञ हैं। प्रभो! आपका तत्वज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अनुमान से प्राप्त होता है। यह मोहग्रस्त जीव प्रमादवश हर समय 'अमुक कार्य करना है' इसी धुन में रहता है। उसे लोभ और विषयों की लालसा बनी ही रहती है और सहसा काल-रूप से आप उसकी इहलीला समाप्त कर देते हैं। अतः परमात्मन्! आप ही हमारे परमाश्रय हैं।'

भगवान शंकर ने प्रचेताओं से कहा—'राजकुमार! तुम लोग विशुद्धभाव से भगवान में चित्त लगाकर मेरे इस स्तोत्र का जप करते रहो। भगवान तुम्हारा मंगल करेंगे। तुम लोग अपने अन्तः-करण में श्रीहरि का ही बार-बार चिन्तन और पूजन करो। तपस्या पूर्ण हो जाने पर तुम्हें अवश्य अभीष्ट फल मिलेगा।' विदुर! इस प्रकार भगवान शंकर प्रचेताओं को उपदेश कर, अन्तर्धान हो गये। अब सबके-सब प्रचेता जल में खड़े रहकर भगवान रुद्र के बताये स्तोत्र का जप करते हुए अनेक वर्षों तक तपस्या करते रहे।

पुरंजन की कथा

इन दिनों राजा प्राचीनबर्हि का मन कर्मकाण्ड में बहुत ही रम गया था। वह देखकर अध्यात्मविद्या-विशारद नारदजी ने उनसे पूछा—'राजन्! इन कर्मों द्वारा तुम्हारा कौनसा कल्याण सम्भव है?' राजा ने उत्तर दिया—'देवर्षे! मेरी बुद्धि कर्मों में ही

आसक्त है। आप मुझे विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दीजिए, जिससे कि मैं इस कर्मबन्धन से छूट सकूँ। तब नारदजी ने कहा—'राजन्! तुमने यज्ञ में निर्दयतापूर्वक जिन हजारों पशुओं की बलि दी है उन्हें आकाश में देखो। जब तुम मरकर परलोक में जाओगे, तब ये तुमसे कठिन बदला लेंगे। इस विषय में मैं तुम्हें एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ।

पूर्वकाल में पुरंजन नाम का एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका अविज्ञात नाम का एक मित्र था। राजा पुरंजन ने अपने रहने योग्य स्थान सारे भूमंडल में खोजा; पर उसने संसार में जितने भी नगर देखे, उनमें कोई भी उसे ठीक न जँचा। इससे वह बड़ा उदास हुआ। इसी बीच एक दिन उसने एक नौ द्वारों का नगर देखा। यह नगर सब प्रकार के सुलक्षणों और साधनों से भरा-पूरा था। उस नगर के बाहर एक दिव्य उपवन था। राजा पुरंजन ने उस अद्भुत उपवन में घूमते-घूमते एक सुन्दरी को आते देखा। उसके दस सेवक और सहेलियाँ थीं। एक पाँच फनवाला साँप उसका रक्षक था। वह किशोरी विवाह के लिए अपने उपयुक्त एक श्रेष्ठपुरुष की खोज में थी।

पुरंजन ने उससे पूछा—'शुभे! तुम्हारे साथ ये दस सेवक और ये सहेलियाँ तथा तुम्हारे आगे-आगे चलनेवाला यह सर्प कौन है? तुम्हारा गोत्र क्या है? तुम्हारे पिता का नाम क्या है? और यह पुर किसने बसाया है?' उस सुन्दरी ने उत्तर दिया—'नरश्रेष्ठ! हमें अपने उत्पन्न करनेवाले का ठीक-ठीक पता नहीं है। हम अपने गोत्र को भी नहीं जानती। आज हम सब इसी पुरी में हैं, इसके सिवा मैं और कुछ नहीं जानतीं। मैं यह भी नहीं जानती कि हमारे रहने के लिए यह पुरी किसने बनाई है। ये पुरुष मेरे सखा और ये स्त्रियाँ मेरी सहेलियाँ हैं। जब मैं सो जाती हूँ, तब यह पाँच फनवाला सर्प इस पुरी की और मेरी रक्षा करता है।

आप इस नौ द्वारोंवाली पुरी में जितने दिन इच्छा हो, सुखपूर्वक निवास कीजिये। इस लोक में गृहस्थाश्रम में ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सन्तान, सुख, सुयश और स्वर्गादि दिव्यलोक प्राप्त हो सकते हैं। महापुरुषों का कथन है कि इस लोक में पितर, देव, ऋषि, मनुष्य तथा सभी प्राणियों के और अपने भी कल्याण का आश्रय एकमात्र गृहस्थाश्रम ही है।

राजन्! राजा पुरंजन ने उस स्त्री की बात मान ली और उन स्त्री पुरुषों ने सौ वर्षों तक उस पुरी में सानन्द वास किया। उस नगर में जो नौ द्वार थे, इनमें से पाँच पूर्व की ओर, एक दक्षिण की ओर, एक उत्तर की ओर, दो पश्चिम की ओर थे। पूर्व की ओर खद्योता और आविर्मुखी नाम के दो द्वार एक ही जगह बनाये गये थे। उनमें होकर राजा पुरंजन अपने मित्र द्युमान के साथ विभ्राजित नामक देश को जाया करता था। इसी प्रकार उस ओर नलिनी और नालिनी नाम के दो द्वार और भी एक ही जगह बनाये गये थे। उनसे होकर वह अवधूत के साथ सौरभ नामक देश को जाया करता था। पूर्व की दिशा में मुख्या नाम का जो पाँचवाँ द्वार था, उसमें से होकर वह रसज्ञ और विपण के साथ क्रमशः बहूदन और आपण नाम के देशों को जाता था। पुरी के दक्षिण और उत्तर की ओर जो पितृहू एवं देवहू नाम के द्वार थे, उनमें से होकर राजा पुरंजन श्रुतधर के साथ दक्षिण और उत्तर पांचाल देश को जाता था। पश्चिम दिशा में आसुरी नाम का द्वार था। उससे दुर्मद के साथ वह ग्रामक देश को जाता था, तथा निऋति नाम का जो दूसरा दरवाजा पश्चिम की ओर था, उससे लुब्धक के साथ वह वैशस नाम के देश को जाता था। इस नगर के निवासियों में निर्वाक और पेशस्कृत नामक दो नागरिक अंधे थे। राजा पुरंजन आँखवाले नागरिकों का अधिपति होने पर भी इन्हीं की सहायता से जहाँ कहीं भी चला जाता और सब प्रकार के कार्य

करता था।

(राजा पुरंजन अपनी सुन्दरी रानी के वश में था और उसने अपने अस्तित्व को उसमें खो दिया था। वह उसके मोहपाश से बिलकुल जकड़ा हुआ था। वह मूर्ख विवश होकर, इच्छा न रहने पर भी, पालतू बन्दर के समान अपनी स्त्री के पीछे-पीछे चलता रहता था।)

एक दिन वह अपने ग्यारहवें सेनापति के साथ, पाँच घोड़ों के शीघ्रगामी रथ में बैठकर, पंचप्रस्थ नामक वन में गया। उस रथ में दो पहिये, एक धुरी, दो ईषादण्ड, तीन ध्वजदण्ड, पाँच डोरियाँ, एक लगाम, एक सारथि, एक बैठने का स्थान, दो जुए, पाँच आयुध और सात आवरण थे। वह पाँच प्रकार की चालों से चलता था। उसका सारा साज सुनहरा था। उस दिन उसे शिकार का ऐसा शौक लगा कि वह सबकुछ भूलकर आखेट में तल्लीन हो गया। बहुत से पशुओं का निर्दयतापूर्वक वध करते-करते अन्त में वह बिल्कुल थक गया और भूख-प्यास से व्याकुल हो, राजमहल को लौट आया। वहाँ उसे न तो अपनी रानी सुन्दरी देखने को मिली, न घर की वह दशा रही थी। सभी कुछ बिलकुल बदला-सा था। यह देखकर उसने अपनी रानी की सहेलियों से पूछा—'सुन्दरियो! क्या कारण है कि आज इस घर की संपत्ति पहले-जैसी सुहावनी नहीं जान पड़ती? (घर में यदि माता अथवा पतिपारायणा भार्या न हो तो वह घर बिना पहिये के रथ के समान अशोभनीय हो जाता है। उसमें कौन बुद्धिमान पुरुष रहना पसन्द करेगा?) इसलिए बताओ, रानी कहाँ है?' तब उन्होंने पृथ्वी पर पड़ी रानी को दिखा दिया। वह इसलिए अत्यन्त क्रुद्ध हो गई थी कि राजा पुरंजन उसकी अनुमति लिये बिना शिकार खेलने चले गए थे। अत्यधिक विनयादि कराकर वह पुनः उनसे प्रसन्न हुई। उसके साथ इस प्रकार निवास करते-करते उसे समय का भी ज्ञान नहीं

नहीं रहा।

राजन्! राजा पुरंजन के ग्यारह सौ पुत्र और एक सौ दस कन्याएँ हुईं। इस बीच उसकी लम्बी आयु का अधिकांश निकल गया। उसने अपने पुत्रों और कन्याओं के विवाह कर दिये। पुत्रों में से प्रत्येक के सौ-सौ पुत्र हुए। इन सबमें दृढ़ ममता हो जाने के कारण वह विषयों में ही बँधा रह गया। फिर तुम्हारी ही तरह उसने भी यज्ञ की दीक्षा से तरह-तरह के हिंसामय पशु-यज्ञों से पितरों और भूतपतियों की अराधना की। अन्त में वृद्धावस्था का वह दुःखदायी काल भी आ पहुँचा।

राजन्! चंडवेग नाम का एक गन्धर्व-राज है। उसके अधीन तीन सौ साठ महाबलवान गन्धर्व रहते हैं। उनके साथ उतनी ही कृष्ण और शुक्ल वर्ण की गन्धर्वियाँ भी हैं। ये बारी-बारी से चक्कर लगाकर भरी-पूरी नगरी को लूटती रहती हैं। गन्धर्व-राज चंडवेग के वे अनुचर जब राजा पुरंजन का नगर लूटने लगे तब उस पांचफन वाले सर्प प्रजागर ने उन्हें रोका। यह पुरंजनपुरी की रक्षा करनेवाला महाबलवान सर्प अकेला ही सौ वर्षों तक उन सात सौ बीस गन्धर्व-गन्धर्वियों के साथ युद्ध करता रहा। बहुत से वीरों के साथ अकेले ही युद्ध करने के कारण अपने एकमात्र सम्बन्धी प्रजागर को बलहीन हुआ देखकर, राजा पुरंजन को अपने राष्ट्र और नगर में रहनेवाले अन्य बन्धु-बान्धवों सहित बड़ी चिन्ता हुई।

इन्हीं दिनों काल की एक कन्या वर की खोज में तीनों लोकों में भटक रही थी, फिर भी किसी ने उसे स्वीकार नहीं किया। वह बड़ी अभागिनी थी, इसलिए लोग उसे 'दुर्भगा' कहते थे। राजर्षि पुरु ने पिता को अपना यौवन देने के लिए अपनी ही इच्छा से इसे वर लिया था। इससे उसने प्रसन्न होकर उन्हें राजप्राप्ति का वर दिया था। एक दिन मैं ब्रह्मलोक से पृथिवी पर

आया तो वह घूमती-घामती मुझे मिल गई। उसने मुझे भी वरना चाहा; पर मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। इसपर उसने मुझे शाप दिया कि तुम एक स्थान पर अधिक देर तक नहीं ठहर सकोगे। उसने मेरी सम्मति से यवनराज भय के पास जाकर कहा—"मैं आपको पति बनाना चाहती हूँ। जो मनुष्य लोक अथवा शास्त्र की दृष्टि से देने योग्य वस्तु का दान नहीं करता और जो शास्त्र-दृष्टि से अधिकारी होकर भी दान नहीं लेता, ये दोनों ही दुराग्रही और मूढ़ हैं, अतः शोचनीय हैं।" काल-कन्या की बात सुनकर यवनराज ने विधाता का एक गुप्त कार्य कराने की इच्छा से उससे कहा—"मैंने योगदृष्टि से देखकर तेरे लिए एक पति निश्चित किया है। तू सबका अनिष्ट करनेवाली है, इसलिए किसी को भी अच्छी नहीं लगती और इसी से लोग तुझे स्वीकार नहीं करते। अतः इस कर्मजनित लोक को तू, अलक्षित होकर, बलात्कार से भोग। तू मेरी सेना की सहायता से सारी प्रजा का नाश करने में समर्थ होगी और कोई भी तेरा सामना नहीं कर सकेगा। यह प्रज्वार नाम का मेरा भाई है और तू मेरी बहन बन जा। तुम दोनों के साथ में अजेय सेना लेकर सारे लोक में विचरूँगा।"

राजन्! फिर 'भय' नामक यवनराज के आज्ञाकारी सैनिक प्रज्वार और काल-कन्या के साथ, इस पृथिवी पर सर्वत्र विचरने लगे। एक बार उन्होंने उस बूढ़े साँप से सुरक्षित पुरंजनपुरी को घेर भी लिया। उस कालकन्या ने बलात्कार से उस पुरी की प्रजा को अपने अधीन कर लिया। कालकन्या के आधिपत्य से राजा पुरंजन की सारी श्री और विवेकशक्ति नष्ट हो गई! पुरी का विध्वंस कर गन्धर्वों और यवनों ने उसका सारा ऐश्वर्य लूट लिया। जब उसने देखा कि पुत्र, पौत्र और मृत्यु आदि सभी उसका अनादर करने लगे हैं, स्त्री स्नेहशून्य हो गई है, उसकी

देह को भी कालकन्या ने वश में कर रखा है और पांचाल-देश भी शत्रुओं के हाथ में पड़कर नष्टप्राय हो गया है, तब वह अपार चिन्ता-सागर में निमग्न हो गया। अपनी पारलौकिक गति और बन्धुजनों के स्नेह से वंचित रहकर उसका चित्त अबतक केवल स्त्री और पुत्र के लालन-पालन में ही लगा था, अब उनसे बिछुड़ने की इच्छा न होने पर भी बाध्य होकर उसने पुरी को छोड़ने का निश्चय किया। इतने में ही यवनराज भय के भाई प्रज्वार ने, अपने भाई को प्रसन्न करने के लिए, उस सारी पुरी में आग लगा दी। जब वह नगरी धांय-धांय जलने लगी, तब पुरवासी, सेवकवृन्द, सन्तानवर्ग सहित पुरंजन को बड़ा ही दुःख हुआ। नगर को कालकन्या के हाथ में पड़ा हुआ देखकर उसके रक्षक वृद्ध सर्प को भी बड़ी पीड़ा हुई। जब उसकी रक्षा में उसने अपने आपको असमर्थ पाया तो खुद भी वहाँ से उसने भाग जाना चाहा ; पर यवनों ने जब उसे जाने ही नहीं दिया तो वह दुखी होकर रोने लगा। गृहासक्त पुरंजन देह-गेहादि और 'मैं-मेरेपन' की मनोभावना से निपट बुद्धिहीन हो गया था। इनसे बिछुड़ते समय उसके मन में नाना प्रकार की चिन्ताएं होने लगीं। वह सोचने लगा—'हाय ! जब मैं परलोक चला जाऊँगा तो यह मेरी माया और ये पुत्र-पौत्रादि वहाँ कैसे जायंगे ? ये तो बीच सागर में टूट जानेवाली नाव के यात्रियों के समान बिलबिलाने लगेंगे। इस प्रकार अज्ञानवश पुरंजन स्त्री-पुत्रादि के लिए अत्यन्त शोकाकुल हो रहा था कि इसी बीच उसे पकड़ने के लिए यवनराज भय आ धमका। जब यवन लोग उसे पशु की तरह घसीटते हुए अपने स्थान को ले चले तब उसके अनुचर, अत्यन्त आतुर हो, उसके साथ हो लिये। वह सर्प भी उस पुरी को छोड़ कर उनके साथ ही हो लिया। उसके जाते ही सारा नगर छिन्न-भिन्न होकर विलुप्त हो गया। इस प्रकार महाबली यवनराज के बलपूर्वक

खींचने पर भी राजा पुरंजन ने, अज्ञानवश, अपने हितैषी एवं पुराने मित्र अविज्ञात का स्मरण नहीं किया।

उस निर्दय राजा ने जिन यज्ञपशुओं की बलि दी थी वे अब उसे अनेक कष्ट देने लगे। वह वर्षों तक विवेकहीन अवस्था में अपार अन्धकार में पड़ा निरन्तर कष्ट भोगता रहा। स्त्री की आसक्ति के कारण अन्त समय में उसे उसीका चिन्तन बना हुआ था; इसलिए दूसरे जन्म में उसने एक सुन्दरी कन्या का जन्म पाया। उसका विवाह मलयध्वज से कर दिया गया।

अन्त में राजर्षि मलयध्वज, राज्य को पुत्रों में बांटकर, भगवान श्रीकृष्ण की आराधना करने की इच्छा से मलयपर्वत पर चले गये। उनकी स्त्री ने भी अपने घर, पुत्र और समस्त भोगों का परित्याग कर पति का अनुगमन किया। वहाँ चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी और वटोदका नाम की नदियों के तटों पर कठोर तपस्या से प्रतिदिन अपने शरीर और अन्तःकरण को निर्मल करते थे। महाराज मलयध्वज ने सर्वत्र समदृष्टि रखकर मन को वश में किया और वे भगवान वासुदेव में सुदृढ़ प्रेम हो जाने के कारण, इस माया-प्रपंच से उदासीन हो गये। फिर उन्होंने आत्मा को परब्रह्म में और परब्रह्म को आत्मा में अभिन्न रूप में देखा और, अन्त में, इस अभेद-चिन्तन को भी त्यागकर सर्वथा शान्त हो गये।

उनकी पतिपरायणा पत्नी भी समस्त भोगों को त्यागकर पति की सेवा तन्मयता से करती थी। यद्यपि उसके पति परलोकवासी हो चुके थे; किंतु वे पूर्ववत् स्थिर आसन से विराजमान थे। इस रहस्य को न जानकर वह सेवा करने के लिए उनके पास गई। पर सेवा करते समय उनके शरीर को बिलकुल ठण्डा पड़ा देख कर वह व्याकुल हो कहने लगी—'राजर्षे! उठिये, उठिये, समुद्र से घिरी हुई यह वसुन्धरा लुटेरों और अधार्मिक राजाओं से भयभीत हो रही है, आप इसकी रक्षा कीजिए।' इस प्रकार बहुत विलाप

करने के बाद उसने चिता बनाकर अपने पति के शव को उसपर रखा और स्वयं भी सती होने का निश्चय किया। इसी समय उसका कोई पुराना मित्र, एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ पहुँचा। उसने उसे समझाते हुए कहा—'तू कौन है? जिसके लिए तू शोक कर रही है; वह पुरुष कौन है? क्या तू मुझे नहीं जानती? मैं तेरा मित्र हूँ। सखे! क्या तुझे अपनी याद आती है? किसी समय में तेरा अविज्ञात नामका सखा था। तू पृथिवी के भोग-भोगने के लिए निवास-स्थान की खोज में मुझे छोड़कर चला गया था। आर्य! पहले मैं और तू एक-दूसरे के मित्र मानसवासी हंस थे। हम दोनों अनेक वर्षों तक बिना किसी निवासस्थान के ही रहे थे। किन्तु मित्र! तू विषय-भोग की इच्छा से मुझे छोड़कर यहाँ पृथिवी पर चला आया। यहाँ घूमते-घूमते तूने एक स्त्री और एक उत्तम नगर देखा। उस नगर में पाँच बगीचे, नौ दरवाजे, एक द्वारपाल, तीन परकोटे, छः वैश्यकुल और पांच बाज़ार थे। वह पाँच उपादान कारणों से बना हुआ था और उसकी स्वामिनी एक स्त्री थी। भाई! उस नगर में उसकी स्वामिनी के फन्दे में पड़कर, उसके साथ विहार करते-करते तू भी अपने स्वरूप को भूल गया। उसीके संग से तेरी यह दुर्दशा हुई है। देख! न तो तू स्त्री ही है, न यह मलयध्वज तेरा पति ही है। जिसने तुझे नौ द्वारों के नगर में बन्द किया था, उस पुरंजनी का पति भी नहीं है। तू पहले जन्म में अपने को पुरुष समझता था और अब सती स्त्री मानती हो—यह सब मेरी फैलाई हुई माया है। वास्तव में तू न तो पुरुष है न स्त्री। हम दोनों तो हंस हैं, हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसका अनुभव कर। मित्र! (जो मैं (ईश्वर) हूँ वही तू (जीव) है। तू मुझसे भिन्न नहीं है। तू विचारपूर्वक देख, मैं भी वही हूँ, जो तू हो। ज्ञानी पुरुष हम दोनों में कभी, थोड़ा-सा भी, अंतर नहीं देखते। जैसे एक पुरुष अपने)

शरीर की परछांईं को शीशे में और किसी व्यक्ति के नेत्र में भिन्न-भिन्न रूप से देखता है, वैसे ही—एक ही, आत्मा विद्या और अविद्या के उपाधि-भेद से, अपने को ईश्वर और जीव के रूप में दो प्रकार से देख रहा है।'

इस प्रकार जब उसके उस मित्र (ईश्वर) ने उसे सावधान किया तब वह (जीव) अपने स्वरूप में स्थित हो गया, और उसे अपने मित्र के विछोह से भूला हुआ आत्मज्ञान फिर प्राप्त हो गया।

प्राचीनबर्हि ! मैंने तुम्हें परोक्ष रूप से यह आत्मज्ञान का दिग्दर्शन कराया है, क्योंकि जगत्कर्त्ता जगदीश्वर को परोक्षवर्णन ही अधिक प्रिय है। राजन् ! पुरंजन जीव है और उस जीव का सखा, जो अविज्ञात नाम से कहा गया है, ईश्वर है, क्योंकि किसी प्रकार के नाम, गुण अथवा कर्मों से जीवों को उसका पता नहीं चलता। जीव ने जब प्राकृत विषयों को भोगने की इच्छा की, तब उसने दूसरे शरीरों की अपेक्षा नौ द्वार, दो हाथ और दो पैरोंवाला मानव-शरीर ही पसन्द किया। बुद्धि अथवा अविद्या को ही तुम पुरंजनी नामक स्त्री, उसकी स्वामिनी जानो। इसीके कारण देह और इन्द्रिय आदि में मैं और मेरेपने का भाव उत्पन्न होता है और पुरुष इसीका आश्रय लेकर शरीर में इंद्रियों द्वारा विषयों को भोगता है। दस इंद्रियाँ ही उसके दस मित्र हैं। तेज, जल और अन्न ये तीन परकोटे, एवं मन तथा पाँच ज्ञानेंद्रियाँ ये छह वैश्यकुल हैं। क्रिया-शक्ति-रूपी इंद्रियाँ ही बाज़ार हैं और पंचभूत ही उसके अक्षय उपादान कारण हैं। इंद्रियों की वृत्तियाँ ही उसकी सखियाँ और प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान इन पांच वृत्तियोंवाला प्राणवायु ही नगर की रक्षा करनेवाला पाँच फन का सर्प है। दोनों प्रकार की इंद्रियों के नायक मन को ही ग्यारहवाँ महाबली योद्धा जानना चाहिए। शब्दादि पाँच विषय ही पांचाल

देश हैं, जिसके बीच में वह नौ द्वारोंवाला नगर बसा हुआ है। इसके द्वारों में से होकर जीव बाह्य विषयों में जाता है। इसके दो नेत्रगोलक, दो नासाछिद्र और एक मुख—ये पांच पूर्व के द्वार हैं। दाहिने कान को दक्षिण का और बायें कान को उत्तर का द्वार समझना चाहिए। नीचे के दो छिद्र पश्चिम के द्वार हैं। दो अन्धे पुरुष जो बताये गये, वे हाथ और पाँव हैं। हृदय अन्तःपुर है। उसमें रहनेवाला मन ही 'विषयी' नाम का प्रधान सेवक है। जीव उस मन के सत्वादि गुणों के कारण ही प्रसन्नता, हर्षरूप-विकार अथवा मोह को प्राप्त होता है। बुद्धिरूपी पुरंजनी जिस-जिस प्रकार स्वप्नावस्था में विकार को प्राप्त होती है, और जाग्रतावस्था में इंद्रियों को विकृत कर देती है, उसके गुणों से आत्मा भी उसी-उसी रूप में उसकी वृत्तियों का अनुकरण करने को बाध्य होता है। यद्यपि वस्तुतः वह उनका निर्विकार साक्षीमात्र ही है।

इसी प्रकार शरीर ही रथ है। उसमें ज्ञानेन्द्रिय-रूपी पाँच घोड़े जुते हुए हैं। देखने में संवत्सर-रूप काल के समान ही उसका अप्रतिहत वेग है, वास्तव में वह गतिहीन है। पुण्य और पाप—ये उसके दो पहिये हैं। तीन गुण ध्वजा हैं और पाँच प्राण डोरियाँ हैं। मन बागडोर है, बुद्धि सारथि है, हृदय बैठने का स्थान है; सुख-दुखादि द्वन्द्व जुये हैं, इन्द्रियों के पाँच विषय उसमें रखे हुए आयुध हैं और त्वचा आदि सात धातुएँ उसके आवरण हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ उसकी पाँच प्रकार की गतियाँ हैं। इस रथ पर चढ़कर रथीरूप यह जीव मृगतृष्णा के पीछे पड़ा मिथ्या विषयों की ओर दौड़ता है। ग्यारह इन्द्रियाँ उसकी सेना हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उन-उन इन्द्रियों के विषयों को अन्यायपूर्वक ग्रहण करना ही उसका शिकार खेलना है। जिसके द्वारा काल का ज्ञान होता है वह संवत्सर ही चंडवेग नामक गंधर्वराज है। उसके अन्दर जो तीनसौ साठ गन्धर्व बताये गये हैं, वे दिन हैं और

तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ रात हैं। ये बारी-बारी से चक्कर लगाते हुए मनुष्य की आयु को हरते हैं। वृद्धावस्था ही साक्षात् काल-कन्या है। आधि-व्याधि ही यवनराज के सैनिक और मृत्यु स्वयं यवनराज है। शीत और उष्ण दो प्रकार का ज्वर ही प्रज्वार नाम का उसका भाई है।

इस प्रकार जीव अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक कष्टों को भोगता हुआ सौ वर्ष की आयुतक मनुष्य-शरीर में पड़ा रहता है। वस्तुतः वह है तो निर्गुण; पर प्राण, इन्द्रियों और मन के धर्मों को अपने में आरोपित करके 'मैं' और 'मेरेपन' की चिन्ता में फँस जाता है। यह यद्यपि स्वयंप्रकाश है, तथापि जबतक भगवान के गुणों को नहीं जानता, तबतक प्रकृति के गुणों में ही बँधा रहता है, और विवश होकर सात्विक, राजस और तामस गुणों के आश्रित हो जाता है। कभी तो वह सात्विक कर्मों द्वारा स्वर्गादि, कभी राजस कर्मों द्वारा रजोगुणी लोकों और कभी तामस कर्मों के द्वारा तमोमयी योनियों में जन्म लेता है। इस प्रकार अपने कर्म और गुणों के अनुसार देवयोनि, मनुष्ययोनि अथवा पशुपक्षी-योनि में जन्म लेकर यह अज्ञानान्ध जीव कभी तो पुरुष और कभी स्त्री होता रहता है। अपने प्रारब्धानुसार जीव चित्त में वासनाओं को लेकर ही सुख-दुःख भोगता रहता है। आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों में से किसी भी एक से जीव का सर्वथा छुटकारा नहीं हो पाता। मनुष्य जब एक प्रकार के दुःखों से छुट्टी पाता है तो दूसरा दुःख उसे घेर लेता है। जिस अविद्या के कारण आत्मा को यह जन्म-मरण का सिलसिला मिला है, उसकी निवृत्ति श्रीहरि में सुदृढ़ भक्ति होने पर ही हो सकती है। भगवान वासुदेव में एकाग्रतापूर्वक साधा हुआ भक्तिभाव, ज्ञान और वैराग्य प्रकटा देता है। यह भक्तिभाव भगवान की कथाओं के आश्रित रहता है।

इसलिए जो श्रद्धापूर्वक हरिकथा प्रतिदिन सुनता या पढ़ता है, उसे शीघ्र ही भक्तिभाव प्राप्त हो जाता है। जहाँ भगवद्-गुणों के कहने और सुनने में तत्पर भक्तजन रहते हैं, उस समाज में भूख, प्यास, भय, शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं डाल सकते। स्वभावतः जीव श्रीहरि के कथामृत-सिन्धु से प्रेम नहीं रखता। साक्षात् ब्रह्मा, भगवान शंकर, सनकादि, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ और मैं—ये जितने भी मुनिगण हैं, तप, उपासना, और समाधि के द्वारा भी उस सर्वसाक्षी परमेश्वर को आजतक नहीं देख सके। वेद यद्यपि उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं, तथापि उनका वास्तविक स्वरूप नहीं जानते। कर्म या उपासना वास्तव में वही है, जिससे श्रीहरि को प्रसन्न किया जा सके और उनमें चित्त लग जाये। श्रीहरि सम्पूर्ण देहधारियों के आत्मा, नियामक और स्वतंत्र कारण हैं, अतः उनके चरणारविंद ही जीव के एकमात्र आश्रय-स्थान हैं।

पुरुषश्रेष्ठ ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे देने के पश्चात मैं तुम्हें एक उदाहरण देकर समझाता हूँ, उसपर ध्यान दो। पुष्पवाटिका में एक हरिण मस्त घूम रहा है। उसके प्रति भेड़िये ताक लगाये खड़े हैं, और पीछे से शिकारी ने बाण छोड़ दिया है। हरिण इतना बेसुध है कि इसका उसे कुछ भी पता नहीं। एक बार इस हरिण की दशा पर विचार करो। इस रूपक का आशय है कि वह मृतप्राय हरिण तुम्हीं हो ; तुम अपनी दशा पर ध्यान दो। पुष्पों की तरह ये स्त्रियाँ केवल देखने में सुन्दर हैं। अपने मन को तुमने उन्हींमें फँसा रखा है। सामने भेड़ियों के झुण्ड के समान काल के अंश दिन-रात तुम्हारी आयु का शोषण कर रहे हैं ; पर तुम माया-प्रपंच के सुखों में लिप्त हो रहे हो। तुम्हारे पीछे शिकारी काल तुम्हारे हृदय को बींध डालना चाहता है। इस प्रकार अपने को हरिण की स्थिति में देखकर तुम

अपने एकमात्र आश्रय श्रीहरि को प्रसन्न करो और धीरे-धीरे सभी विषयों से विरत हो जाओ।

राजा प्राचीनबर्हि ने पूछा—'भगवन्! आपके उपदेशामृत का मैंने पान किया और उसपर विचार भी। वेदवादियों का कहना है कि 'पुरुष इस लोक में जिस शरीर के द्वारा कर्म करता है, परलोक में दूसरी देह से वह उनका फल भोगता है।' यह बात कैसे सम्भव हो सकती है?'

नारदजी ने कहा—'राजन्! मनुष्य का कर्म तो मरने के बाद भी उसके साथ ही रहता है, अतः परलोक में वह उनका फल भोगता है। स्वप्नावस्था में जीव इस जीवित शरीर का अभिमान तो छोड़ देता है; किन्तु इसीके समान अथवा इससे भिन्न प्रकार पशु-पक्षी आदि शरीर से वह मन में संस्काररूप से स्थित कर्मों का फल भोगता रहता है। इस मन के द्वारा जीव जिन स्त्री-पुत्रादि को 'ये मेरे हैं' और देहादि को—'यह मैं हूँ'—ऐसा मानता है, उनके किये हुए पापा-पुण्यादिरूप कर्मों को भी यह अपने ऊपर ही ले लेता है। उनके कारण व्यर्थ ही फिर इसे जन्म लेना पड़ता है। कभी-कभी देखा जाता है कि जिस वस्तु का इस शरीर से कभी अनुभव नहीं किया—जिसे न कभी देखा, न कभी सुना ही—उस वस्तु का स्वप्न में, वह जैसी होती है, वैसी ही का अनुभव हो जाता है। राजन्! तुम यह निश्चय मानो कि जीव को उसका अनुभव पूर्वजन्म में हो चुका है, क्योंकि जो वस्तु पहले अनुभव की हुई नहीं होती, उसके मन में वासना भी नहीं हो सकती। मन ही मनुष्य के पूर्वरूपों को तथा भावी शरीरादि को भी बता देता है, और जिनका भावी जन्म होनेवाला नहीं होता, उन तत्ववेत्ताओं की विदेहमुक्ति का पता भी उनके मन से ही लग जाता है। मन के सामने इन्द्रियों द्वारा अनुभव होनेयोग्य पदार्थ ही बार-बार भोगरूपों में भासित होते हैं और भोग समाप्त हो जाने पर चले जाते हैं।

ऐसा कोई पदार्थ नहीं आता, जिसका इन्द्रियों से अनुभव ही न हो सके। इसका कारण यही है कि सभी जीव मन से युक्त हैं। जबतक गुणों का परिणाम एवं बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शब्दादि विषयों का संघात यह देह बना हुआ है, तबतक जीवों के अन्दर 'मैं और मेरेपन' के भाव का अभाव नहीं हो सकता। सांसारिक वस्तुएं यद्यपि असत् हैं तो भी अविद्यावश जीव उसका चिन्तन करता है, इसलिए उसका जन्म-मरणरूप संसार से छुटकारा नहीं हो पाता। यह मन जीव के जन्मादि का कारण है। जीव जब भोगों के कर्म करता है, तब वह देह के बन्धन में बँध जाता है। अतएव उस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए सम्पूर्ण विश्व को भगवद्रूप देखते हुए सब प्रकार श्रीहरि का ही भजन करो।'

भक्तश्रेष्ठ नारदजी राजा प्राचीनबर्हि को जीव और ईश्वर के स्वरूप का इस प्रकार दिग्दर्शन कराकर सिद्धलोक को चले गए। प्राचीनबर्हि भी प्रजापालन का भार अपने पुत्रों को सौंपकर तपस्या करने के लिए कपिलाश्रम को गये।

जब विदुर ने फिर प्रश्न किया कि—'ब्रह्मन्! राजा प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं ने रुद्रगीत के द्वारा श्रीहरि की स्तुति करके कौन-सी सिद्धि प्राप्त की', तब मैत्रेयजी ने कहा—'विदुर, प्रचेताओं ने समुद्र के अन्दर खड़े रहकर कठोर तपस्या द्वारा श्रीहरि को प्रसन्न कर लिया। तपस्या की सफलता पर नारायण ने अपनी मनोहर छवि का उन्हें दर्शन दिया और कहा—'राजपुत्रो! तुम्हारे इस आदर्श तप से मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ, तुम अभीष्ट वर मांगो। जो लोग सायं-प्रातः रुद्रगीत गाकर मेरी स्तुति करेंगे, मैं उन्हें अभीष्ट वर और शुद्ध बुद्धि दूँगा। तुम लोगों ने बड़ी प्रसन्नता से पिता की आज्ञा शिरोधार्य की है। इससे तुम्हारा निर्मल यश समस्त लोकों में जायगा। तुम्हारे एक बड़ा ही विख्यात पुत्र होगा। जाओ, अपने पिता की इच्छा के अनुसार एक सुन्दरी

कन्या के साथ विवाह कर प्रजापत्य-धर्म का पालन करो। समय आने पर तुम मेरे लोक को प्राप्त होगे।'

भगवान के दर्शन से प्रचेताओं का मनोमल नष्ट हो चुका था। भगवान की मंगलदायिनी वाणी सुनकर उन्होंने विनय की—'प्रभो! आप भक्तों के क्लेश को दूर करनेवाले हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं। वेद आपके उदार गुणों और नामों का निरूपण करते हैं; किन्तु आपका स्वरूप कल्पना से परे है। आप विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप हैं। आपका ज्ञान संसार-बन्धन को काट देता है। आप ही वासुदेवनन्दन भगवान श्रीकृष्ण हैं। आप समस्त भूतों के आश्रय-स्थान तथा सबके साक्षी हैं। अमंगलहारी प्रभो! दीनों पर दया करनेवाले समर्थ पुरुषों को इतनी ही कृपा करनी चाहिए कि उन दीन जनों को 'ये हमारे हैं' इस प्रकार स्मरण कर लिया करें। इसीसे उनके आश्रितों का चित्त शान्त हो जाता है। आप तो क्षुद्र प्राणियों के अन्तःकरणों में अन्तर्यामीरूप से विराजमान रहते हैं। फिर जो हम, आपके उपासक, कामनाएँ करते हैं, उन्हें आप क्यों न जान लेंगे? जगदीश्वर! आप मोक्ष का मार्ग दिखलानेवाले और स्वयं पुरुषार्थस्वरूप हैं, आप हमपर प्रसन्न हैं, इससे बढ़-कर और हमें क्या चाहिए? हमारा अभीष्ट वर तो आपकी प्रसन्नता ही है। फिर भी यह एक वर हम आपसे अवश्य माँगते हैं कि साधुओं और भक्तों का सत्संग, जहाँ शुभ कथा-प्रसंगों द्वारा निष्कामभाव से साक्षात् नारायण का बार-बार गुणगान होता रहता है, हमें सदा प्राप्त होता रहे। आप सत्वमूर्ति भगवान वासुदेव को हम नमस्कार करते हैं।'

विदुर! प्रचेताओं के इस प्रकार स्तुति करने पर भगवान ने प्रसन्न होकर 'तथास्तु' कहा और अन्तर्धान हो गए। प्रचेताओं ने भी भगवान के आदेश का पालन कर "मरिषा' नामकी कन्या से विवाह किया।

अधिक काल बीत जाने पर जब प्रचेताओं को पुनः विवेक हुआ, तब उन्हें भगवान के वाक्य स्मरण हो आये। अतः स्त्री-पुत्रादि की आसक्ति का परित्याग कर वे घर से चल दिये और पश्चिम दिशा में समुद्र के तट पर—जहाँ जाजलि मुनि ने सिद्धि प्राप्त की थी—जाकर ब्रह्मसत्र का संकल्प किया तथा तपस्या करने लगे। अपने प्राण, मन, वाणी और दृष्टि को सम्यग्रूप से वश में करके उन्होंने चित्त को परब्रह्म में लगा दिया। ऐसी ही दशा में नारदजी ने उन्हें आकर देखा। नारदजी को उन्होंने प्रणाम किया और विधिवत् उनकी पूजा की। नारदजी ने उन्हें फिर उपदेश किया—'राजाओ! इस लोक में मनुष्य का वही जन्म सफल है, जिसके द्वारा श्रीहरि की सेवा बन पड़े। जिसके द्वारा भगवान को प्राप्त न किया जाय, उन यज्ञदीक्षा, शास्त्रज्ञान, तप, संन्यास, वेदाध्ययनादि से क्या लाभ है? वास्तव में समस्त कल्याणों की परम अवधि एक आत्मा ही है और श्रीहरि ही संपूर्ण प्राणियों के प्रिय आत्मा हैं। जिस प्रकार वृक्ष के जड़ का सींचना ही उसके समस्त अवयवों का संरक्षण एवं वर्धन है, उसी प्रकार एक श्रीहरि की सेवा ही सबकी सेवा है। जैसे समस्त चराचर जीव पृथिवी से उत्पन्न होते और फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। उसी प्रकार यह चेतन-अचेतनात्मक प्रपंच भी श्रीहरि से उत्पन्न होकर उन्हींमें समा जाता है। अतः तुम सभी श्रीहरि को अपने से अभिन्न मानते हुए भजो; क्योंकि वे ही समस्त शरीरधारियों के एकमात्र आत्मा हैं। जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उन संतों के हृदय में भगवान विराजमान हो जाते हैं। वे सदा अपने भक्तों के अधीन रहते हैं। ऐसे करुणासागर श्रीहरि को क्षणभर के लिए भी कैसे भुलाया जा सकता है?'

विदुर! भगवान नारद ने इस प्रकार प्रचेताओं को अनेक भगवत्सम्बंधी कथाएँ सुनाईं। प्रचेतागणों ने भी भगवच्चरणों का

निरंतर चिंतन करते-करते अंत में परमधाम प्राप्त कर लिया।

फिर विदुर ने मैत्रेयजी को सम्बोधित कर कहा—'महायोगिन्! आप बड़े ही दयालु हैं। आपने मेरा अज्ञानान्धकार दूर कर, मुझे श्रीहरि के चरणकमलों के निकट पहुँचा दिया है। मैं आपका बड़ा ऋणी हूँ।'

विदुरजी उनसे आज्ञा लेकर हस्तिनापुर चले गए।

पंचम स्कन्ध

भगवान ऋषभदेव की कथा

राजा परीक्षित ने पूछा—'भगवन् ! आपने यहाँतक तो मुझे राजा उत्तानपाद के वंश का इतिहास सुनाया। महाराज प्रियव्रत भी तो बड़े भक्त और आत्माराम थे। अब कृपाकर उनके वंश की कथा सुनाकर कृतार्थ कीजिए। मुझे इस बात का भी संदेह है कि महाराज प्रियव्रत ने स्त्री, गृह और पुत्रादि में आसक्त रहकर भी किस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर ली और भगवान श्रीकृष्ण में उनकी अविचल भक्ति कैसे हुई ?'

शुकदेवजी ने कहा—'राजन् ! जिनका चित्त श्रीहरि के चरण-कमलों में लग जाता है वे उसे छोड़ते नहीं। राजकुमार प्रियव्रत को भी नारदजी की सेवा से सहज ही तत्वज्ञान प्राप्त हो गया था। वे ब्रह्म-सत्र की दीक्षा लेनेवाले ही थे कि उनके पिता स्वायम्भुव मनु ने उन्हें पृथिवी-पालन की आज्ञा दी। प्रियव्रत अपनी सारी इन्द्रियों और क्रियाओं को भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर चुके थे। अतः पिता की आज्ञा किसी प्रकार उल्लंघन करने योग्य न होने पर भी उन्होंने राज्यभार को स्वीकार नहीं किया।

भगवान ब्रह्माजी को संसार-वृद्धि की निरन्तर चिंता रहती है। जब उन्होंने प्रियव्रत की ऐसी प्रवृत्ति जानी तब वे उनके पास पहुँचे और प्रियव्रत से उन्होंने कहा, 'बेटा ! मैं तुमसे सत्य सिद्धांत की बात कहता हूं। तुम्हें श्रीहरि के प्रति दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिए। हम सब उन्हींकी आज्ञा का पालन करते हैं। उसी

अव्यक्त ईश्वर के दिये हुए शरीर को सब जीव धारण करते हैं, उन्हींकी इच्छानुसार कर्मों में लगे रहते हैं और उन्हींकी पूजा करते हैं। हम अपने कर्मों के अनुसार संसार के सुख-दुःख भोगते रहते हैं। मुक्त पुरुष भी प्रारब्ध का भोग भोगता हुआ भगवान के इच्छानुसार शरीर धारण करता है, ठीक वैसे ही, जैसे कि निद्रा टूट जाने पर भी मनुष्य स्वप्न में अनुभव किये हुए पदार्थों का स्मरण करता है। जो बुद्धिमान पुरुष इन्द्रियों को जीतकर अपनी आत्मा में ही रमण करता है, उसका गृहस्थाश्रम भी क्या बिगाड़ सकता है ? अतः पहले तुम संसार के भोगों को भोगो और फिर विरक्त होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना।'

ब्रह्माजी के इस प्रकार समझाने पर परम भागवत प्रियव्रत ने उनका उपदेश शिरोधार्य किया। भगवान के चरणयुगल का निरंतर ध्यान करते रहने से यद्यपि उनके रागादि सभी मल नष्ट हो चुके थे और उनका हृदय भी अत्यंत शुद्ध हो गया था, तथापि बड़ों का मान रखने के लिए, वे पृथिवी का शासन करने लगे। उन्होंने बर्हिष्मती से विवाह किया, जिससे उनके दस पुत्र और ऊर्जस्वती नाम की एक कन्या हुई। उन्होंने अपनी कन्या ऊर्जस्वती का विवाह शुक्राचार्य से किया, जिससे देवयानी का जन्म हुआ।

महाराज प्रियव्रत ने एक बार अपने को अशांत-सा देख, देवर्षि की शरण जाकर विरक्तभाव से इस प्रकार कहा—'भगवन्! विषयलोलुपता ने मुझे अंधकूप में गिरा दिया है। मैं गृहस्थी के वश हो गया हूं। धिक्कार है मुझे!' नारदजी की कृपा से पुनः उनकी श्रीहरि के प्रति विवेकवृत्ति जागृत हो गई और उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया।

महाराज प्रियव्रत के तपस्या के लिए चले जाने पर उनके पुत्र आग्नीध्र राजा हुए। उनके पुत्र नाभि के कोई संतान नहीं थी। इसलिए नाभि ने एकाग्रतापूर्वक अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ भग-

वान यज्ञपुरुष का यजन किया। महाराज नाभि के श्रद्धापूर्वक आराधना करने पर भगवान, वहाँ प्रकट हुए। उनकी परम तेजस्वी मूर्ति को देखकर सबने भक्तिभाव से इस प्रकार स्तुति की—'पूज्य-तम! हम आपके अनुगत भक्त हैं; किंतु हम आपकी पूजा करना क्या जानें? हम तो केवल बार-बार आपको नमस्कार करते हैं। आप साक्षात् परमेश्वर हैं। आपके परम मंगलमय गुण सम्पूर्ण दुःखों का दमन करनेवाले हैं। मुनिगण भी निरन्तर आपके गुणों का गान किया करते हैं। हम आपसे केवल यही एक वर मांगते हैं कि संकट के समय किसी भी प्रकार हम आपके नामों का उच्चारण कर सकें। आपकी माया का कोई पार नहीं पा सकता। किंतु आप समदर्शी होने के नाते, हम अज्ञानियों की धृष्टता को क्षमा करें। राजर्षि नाभि आपके समान ही पुत्र की इच्छा से आपकी आरा-धना कर रहे हैं, आप उनपर कृपा करें।'

शुकदेवजी ने कहा—'भगवान के समान कोई दूसरा हो ही कैसे सकता है? अतः महाराज नाभि का प्रिय करने तथा मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिए भगवान शुद्ध सत्वमय विग्रह से उनके घर अवतीर्ण हुए।

राजन्! नाभिनन्दन के अंग जन्म से ही भगवान विष्णु के चिह्नों से युक्त थे। यह देखकर महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ रखा। पुत्र के सयाने हो जाने पर जब उन्होंने देखा कि जनता ऋषभदेव से बहुत प्रेम करती है, तब वे राज्य का भार उन्हें सौंपकर बद्रिकाश्रम चले गए। राजर्षि नाभि के उदार कर्मों का आचरण जिनके विशुद्ध कर्मों से सन्तुष्ट होकर साक्षात श्रीहरि ही पुत्र रूप में उनके घर अवतीर्ण हुए, दूसरा कौन कर सकता है।

भगवान ऋषभदेव ने जयन्ती से विवाह किया। उनके अपने ही जैसे अनेक पुत्र हुए। उनमें महायोगी भरत सबसे बड़े और

विशेष गुणवान थे। उन्हींके नाम से लोग इस अजनाभखंड को 'भारतवर्ष' कहते हैं। भगवान ऋषभदेव ने अपने शुद्ध धर्माचरण और लोगों को गूढ़ तत्व की शिक्षा दी। महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसीका अनुसरण करते हैं। अतः प्रजा भी उनके बताये हुए सन्मार्ग का अनुसरण करने लगी। एक बार सभा में, प्रजा के सामने ही, उन्होंने अपने पुत्रों को शिक्षा देते हुए कहा—

'पुत्रो! यह मनुष्य-शरीर केवल दुःखमय विषयभोग करने के लिए ही नहीं है। इस दुर्लभ शरीर से तो दिव्य तप ही करना चाहिए, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो, क्योंकि इसीसे अनंत आत्मा प्राप्त होता है। शास्त्रों ने महापुरुषों की सेवा को मुक्ति का द्वार बताया है। महापुरुष वे हैं, जो समानचित्त, परमशांत, क्रोधहीन, सबके हितचिंतक, सदाचर-सम्पन्न हों और परमात्मा की भक्ति को ही जो एकमात्र पुरुषार्थ मानते हों। मनुष्य प्रमादवश कुकर्म करने लगता है और इसी कारण उसे यह दुःखदायक शरीर प्राप्त होता है। जबतक जीव के मन में वासनाएँ बनी रहती हैं और भगवान में प्रीति नहीं होती, तबतक वह इस देहबन्धन से छूट नहीं सकता। स्वार्थ-उन्मत्त जीव, आत्मस्वरूप को भूल जाने के कारण, तरह-तरह के क्लेश पाता रहता है और उसे 'मैं' और 'मेरेपन' का मोह हो जाता है। जिस समय यह ग्रंथि ढीली पड़ जाती है, उसी समय वह अहंकार को त्यागकर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो, परमपद प्राप्त कर लेता है। संसार-सागर से पार होने और भगवान में भक्तिभाव प्राप्त करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह त्याग, तप, परमात्म-कथाओं का नित्य श्रवण, भगवद्भक्तों का संग, भगवान का गुण-कीर्तन, वैराग्य, समता, शान्ति, एकान्तसेवन, संपूर्ण संयम, सत्पुरुषों के वचन, ब्रह्मचर्य, तत्वविचार और योग-साधन आदि में अपने शरीर को तल्लीन करदे। अपना सच्चा

कल्याण किस बात में है, लोग इसको नहीं जानते। इससे वे तुच्छ क्षणिक सुखों के लिए आपस में बैर ठान लेते हैं। जो परमपवित्र सत्वगुण, शम, दम, सत्व, दया तप, तितिक्षा और ज्ञानादि आठ गुणों से सम्पन्न हैं—उनसे बढ़कर और कौन हो सकता है ? पुत्रो ! तुम सम्पूर्ण चराचर जीवों को परमेश्वर का ही रूप समझकर, शुद्धबुद्धि से उन सबकी सेवा करो। यही परमेश्वर की सच्ची पूजा है।'

ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत परमभक्त और भगवद्भक्ति-परायण थे। ऋषभदेव ने उन्हें ही राजगद्दी पर बैठाया और आप भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप धर्मों की शिक्षा देने के लिए विरक्त हो, वस्त्रों का भी त्याग कर सर्वथा दिगम्बर हो गये। कुछ समय बाद वे मौन हो गये और अवधूत वेश में जहाँ-तहाँ विचरने लगे। भगवान ऋषभदेव जड़ पुरुषों की भाँति, भाषा और आचरण से, अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपाये रहते थे। दक्षिण के वन में इसी वेश में भटकते-भटकते दावाग्नि से, उनका शरीर पंचत्व को प्राप्त हुआ।

जड़भरत की कथा

शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! इस चंचल चित्त से कभी मैत्री नहीं करनी चाहिए। जो योगी मन पर विश्वास करते हैं, उनका मन, काम और अपने साथी क्रोधादि द्वारा उन्हें नष्ट कर देता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और भय आदि शत्रुओं तथा कर्म-बन्धन का भी मूल तो मन ही है। इसपर कोई भी बुद्धिमान कैसे विश्वास कर सकता है ? भगवान का यह अवतार लोगों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए ही हुआ था।

'राजन् ! महाराज भरत भी महान भगवद्भक्त थे। उन्होंने पंचजनी से विवाह किया, जिससे पाँच पुत्र हुए। बहुज्ञ भरत प्रजापालन में सदा रत रहा करते थे। उन्होंने श्रद्धा-पूर्वक भगवान

का यजन किया। यज्ञकर्मों से होनेवाले पुण्यरूप फल को वे यज्ञपुरुष भगवान वासुदेव को ही अर्पण कर दिया करते थे। इस तरह विशुद्ध कर्म से उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया। उमर ढल जाने पर, राज्य-भोग का प्रारब्ध क्षीण हुआ जानकर, वे पुलहाश्रम (हरिहरक्षेत्र) में चले आये। वहाँ चक्र नदी (गंडकी) नाम की प्रसिद्ध सरिता ऋषियों के आश्रमों को पवित्र करती रहती है। उस पुलहाश्रम के उपवन में, एकान्त में रहकर, वे भगवान की आराधना करने लगे।

एक बार भरतजी गंडकी में स्नान कर नदी की धारा में बैठे थे। इसी समय एक हरिणी प्यास से व्याकुल हो पानी पीने के लिए अकेली ही उस नदी के तीर पर आई। अभी वह जल पी ही रही थी कि पास ही सिंह की दहाड़ सुनाई पड़ी। ज्योंही उसके चौकन्ने कानों में वह भीषण शब्द सुनाई दिया, वह डर के मारे थर्रा उठी। भयवश उसने एकाएक नदी पार कर जाने के लिए छलांग मारी। वह गर्भिणी थी, इससे उछलते समय उसका गर्भ नदी के प्रवाह में गिर गया और वह एक गुफा में जाकर पीड़ा से मर गई।

राजर्षि भरत ने जब देखा कि उस हरिणी का वह बेचारा बच्चा नदी के प्रवाह में बह रहा है, तब उन्हें उसपर बड़ी दया आई, और वे उस मातृहीन बच्चे को अपने आश्रम पर ले आये। उस मृगछौने के प्रति भरतजी की ममता दिन-दिन बढ़ती ही गई। कुछ दिनों में उनके यम, नियम, भक्ति, पूजा आदि सभी छूट गये। वे इस प्रकार कर्म और योगानुष्ठानादि से च्युत हो, फिर उस मृगछौने के पालनपोषण में ही लगे रहकर आत्मस्वरूप को भूल गये। इसी बीच काल उनके सिर चढ़ आया। उनका चित्त उस समय भी उसीमें लगा था। इस प्रकार की आसक्ति में ही मृग के साथ उनका शरीर छूट गया। तदनन्तर साधारण पुरुषों के समान उन्हें

मृग-शरीर ही प्राप्त हुआ। किन्तु उनकी साधना पूरी हो चुकी थी, इससे उनकी स्मृति नष्ट नहीं हुई। पूर्वजन्म की ईश्वर-आराधना के प्रभाव से अपने मृगरूप के होने का कारण जानकर वे कहने लगे– 'अहो! मैंने तो आसक्ति छोड़कर एकांत और पवित्र वन का आश्रय लिया था।.. वहाँ जिस चित्त को मैंने सर्वभूतात्मा वासुदेव में लगा दिया था, वह अकस्मात् एक नन्हे-से हरिण-शिशु के पीछे अपने लक्ष्य से च्युत हो गया!' अतः भगवान का चिंतन करते-करते अंत में उन्होंने वह मृगशरीर छोड़ दिया।

राजन्! राजर्षि भरत अन्तिम जन्म में ब्राह्मण हुए। इस जन्म में भी भगवान की कृपा से अपने पूर्वजन्म के स्मरण रहने से वे, इस आशंका से कि कहीं फिर कोई विघ्न न उपस्थित हो जाय, अपने स्वजनों के संग से भी बहुत डरते थे। वे हर समय भगवान के चरणकमलों को ही हृदय में धारण किये रहते और दूसरों की दृष्टि में अपने को पागल के समान दिखलाते थे। उनके पिता ने प्रेमपूर्वक उनका उपनयन-संस्कार किया। वे चाहते थे कि इसे वेदाध्ययन आरम्भ करा दूं; किंतु वे इन्हें प्रारम्भिक मंत्रादि भी याद न करा सके। पुत्र को सुशिक्षित देखने का उनका मनोरथ पूरा भी नहीं हुआ था कि मृत्यु ने उनका अंत कर दिया, और इनकी मां भी सती होकर पतिलोक को चली गईं। भरत के भाई उन्हें निरा मूर्ख समझते थे, अतः उन्होंने इन्हें पढ़ाने आदि का प्रयत्न छोड़ दिया। भरत को मानापमान का कोई विचार नहीं था। कोई भी उनसे कुछ भी काम कराना चाहता, वे उसे कर देते थे। दूसरों की मजदूरी करके जो कुछ मिल जाता, उसीसे निर्वाह करते देखकर उनके भाइयों ने उन्हें कृषिकर्म में लगा दिया।

इन्हीं दिनों डाकुओं के एक सरदार ने पुत्र की कामना से, भद्रकाली को 'नरबलि' देने का संकल्प किया। जिस पुरुष को

बलि देने के लिए उसने पकड़ मँगाया था, वह किसी प्रकार भाग गया। उसे ढूँढ़ने के लिए उसके सेवक चारों ओर दौड़े, पर इसका कहीं पता न लगा। दैवयोग से उनकी दृष्टि उस ब्राह्मण-कुमार पर पड़ी, जो उस समय खेतों की रखवाली कर रहा था। उसके शुभ लक्षण देखकर, मनोकामना पूरी करने की अभिलाषा से, वे उसे चंडिका के मंदिर में ले आये। उन्होंने उसे स्नान करा कर चंदन-मालादि से सुसज्जित कर, पहले अच्छी तरह भोजन कराया। फिर उन्होंने भद्रकाली के सामने उसे गर्दन झुका कर बैठा दिया और बलि देने के लिए खड्ग उठाया। यह भयंकर दुष्कर्म भद्रकाली से न देखा गया और वे एकाएक मूर्ति को फोड़कर प्रकट हो गईं। उन्होंने उसी खड्ग से उन पापियों का वध कर दिया। सच है, महापुरुषों के प्रति किया हुआ अत्याचार और अपराध, ज्यों-का-त्यों, कर्त्ता के ऊपर ही फलित होता है।

पांडुनन्दन ! एक बार राजा रहूगण पालकी पर चढ़कर कहीं जा रहा था। उसे एक कहार की आवश्यकता पड़ी। दैवयोग से उसे यह हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मण-देवता मिल गये। उसने इन्हें जबरदस्ती पालकी में जोड़ दिया। ये महात्मा जड़भरत थे। इस कठोर कार्य के योग्य न होते हुए भी महात्मा भरत चुपचाप पालकी उठाकर ले चले। कोई जीव पैरों तले न दब जाय, इस डर से वे पृथिवी को देख-देखकर चल रहे थे। इस कारण दूसरे कहारों के साथ इनकी चाल का मेल नहीं हो पाता था। पालकी जब टेढ़ी-सीधी होने लगी, तब राजा रहूगण ने कहारों से कहा—'अच्छी तरह चलो, पालकी को इस तरह ऊँची-नीची करके क्यों चलते हो ?' कहारों ने निवेदन किया—'महाराज ? हम तो ठीक-ठीक ही पालकी लेकर चल रहे हैं, पर यह नया कहार जल्दी-जल्दी नहीं चलता। हम इसके साथ पालकी ठीक नहीं ले जा सकते।' कहारों की बातें सुन, श्रीमदान्ध रहूगण ने व्यंगपूर्वक उनसे कहा—'अरे भाई !

यह क्या, इतना मोटा होने पर भी तू जीते जी ही मरा-सा है ? तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर मेरा निरादर करता है ? अच्छा, मैं अभी तेरा इलाज किये देता हूँ और तब तेरे होश दुरुस्त हो जायंगे ।' इस प्रकार अनुचित वाक्यों से उसने भक्तवर भरतजी का तिरस्कार किया। ब्रह्मर्षि भरत मुस्कराये और उसे सम्बोधित करते हुए बोले-'राजन् ! तुमने जो कुछ कहा, यथार्थ है। यदि भार नाम की कोई वस्तु है, तो ढोनेवालों के लिए है। यदि कोई मार्ग है, तो चलने वालों के लिए है। मोटापन भी उसीका है। यह सब शरीर के लिए कहा जाता है, आत्मा के लिए नहीं। ज्ञानीजन ऐसी बातें नहीं कहते। स्थूलता, कृशता, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, क्रोध, अभिमान और शोक-ये सभी जीव के धर्म हैं, मुझमें इनका लेश भी नहीं है। राजन् ! तुमने जो जीने-मरने की बात कही —सो तो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभी में यह देखी जाती है, क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं । तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ, इस प्रकार की सेव्य-सेवक भाव की भेद-बुद्धि, यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाय, तो भ्रम प्रतीत होगा। फिर भी यदि तुम्हें स्वामित्व का अभिमान है तो कहो मैं तुम्हारी क्या सेवा करूं ? मैं मत्त, उन्मत्त और जड़ के समान, पर अपनी ही स्थिति में, रहता हूँ। मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा ? यदि वास्तव में मैं जड़ और प्रमादी ही हूं तो मुझे शिक्षा देना पिसे हुए को पीसने के समान व्यर्थ ही होगा।'

परीक्षित ! मुनिवर जड़भरत यथार्थ तत्व का उपदेश करते हुए इतना कह, मौन हो गये। उनका देहात्मक अज्ञान निवृत्त हो चुका था और इसलिए वे परमशान्त हो गये थे। जब राजा रहूगण ने उनके ये हृदय की ग्रन्थि को खोल देनेवाले वाक्य सुने, तो वह तुरन्त पालकी से उतर पड़ा और महर्षि भरत के चरणों में सिर टेक कर इस प्रकार विनय करने लगा-'देव ! बतलाइये,

आप कौन हैं ? यदि आप हमारा कल्याण करने पधारे हैं तो क्या आप साक्षात् सत्वमूर्ति भगवान कपिल ही तो नहीं हैं ? विषयों से तो आप सर्वथा अनासक्त जान पड़ते हैं । आपके अवधूत वेश के कारण मुझे आपकी कोई थाह नहीं मिल रही है। मैं आत्मज्ञानी भगवान कपिल से यह पूछने जा रहा था कि इस लोक में एकमात्र शरण लेने योग्य कौन हैं ? मैंने युद्धादि कर्मों में परिश्रम का अनुभव किया है, इसलिए मेरा अनुमान है कि बोझा ढोने और मार्ग में चलने से आपको भी अवश्य कष्ट हुआ होगा। दीनबन्धो ! मैंने आप जैसे परम साधु की अवज्ञा की है, इससे आप ऐसी कृपा कीजिये, कि इस गुरुतर अपराध से मैं मुक्त हो सकूँ । आप देहाभिमानशून्य और विश्वबन्धु श्रीहरि के अनन्य भक्त जान पड़ते हैं, इसलिए सबमें समान दृष्टि होने से, इस मानापमान के कारण, आपमें कोई विकार नहीं हो सकता । तथापि, एक महापुरुष का अपमान करने के कारण, मुझ-जैसा मनुष्य, इस दुस्तर अपराध से नष्ट हो जायगा।'

जड़भरत ने रहूगण से कहा—"राजन्। तुम अज्ञानी होने पर भी पण्डितों के समान तर्क-वितर्कयुक्त बातें कर रहे हो, इसलिए श्रेष्ठ ज्ञानियों में तुम्हारी गणना नहीं हो सकती। तत्वज्ञानी पुरुष, स्वामी-सेवक आदि व्यवहार को, तत्व-विचार के समय, सत्यरूप से स्वीकार नहीं करते। जबतक मनुष्य का मन सत्व, रज अथवा तमोगुण के वशीभूत रहता है, वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेंद्रियों से शुभाशुभ कर्म करता रहता है । यह मन वासनामय विषयासक्त गुणों से प्रेरित, सोलह कलाओं में मुख्य है। यही भन्न-भिन्न नामों से मनुष्यादि के रूप धारण कर शरीररूपी उपाधियों के भेद से जीव की उत्तमता और अधमता का कारण होता है। यह मायामय मन संसारचक्र में फँसानेवाला है। जब-तब यह मन रहता है, तभी तक जाग्रत और स्वप्नावस्था का व्य-

बहार प्रकाशित होकर जीव का दृश्य बनता है। इसलिए पंडित-जन मन को ही त्रिगुणमय अधम संसार और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपद का कारण बताते हैं। विषय और कामों में आसक्त मन तरह-तरह की वृत्तियों का आश्रय लिये रहता है और उनसे मुक्त होने पर वह अपने तत्व में लीन हो जाता है। वीरवर! पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अहंकार—ये मन की ग्यारह वृत्तियाँ हैं, तथा पाँच प्रकार के कर्म, पाँच तन्मात्राएं और शरीर—ये ग्यारह इनके आधारभूत विषय कहे जाते हैं। गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। 'यह मेरा है' यह अहंकार का विषय है। कुछ लोग अहंकार को मन की बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीर को बारहवाँ विषय मानते हैं। ये मन की ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्य, विषय, स्वभाव, आशय (संस्कार) कर्म और काल के द्वारा सैकड़ों, हजारों और करोड़ों भेदों में परिणत हो जाती हैं। किन्तु इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञ आत्मा की सत्ता से ही है—स्वतः अथवा परस्पर मिलकर नहीं। जाग्रत और स्वप्न के समय वे प्रकट हो जाती हैं और सुषुप्ति में छिप जाती हैं। ऐसा होने पर भी मन से क्षेत्रज्ञ का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो जीव की ही माया-निर्मित उपाधि है। यह प्रायः संसारबन्धन में डालनेवाले अविशुद्ध कर्मों में ही प्रवृत्त रहता है। यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा सबके अन्तःकरणों में रहकर जीवों का प्रेरक भगवान वासुदेव ही है। जिस प्रकार वायु सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियों में प्राणरूप से प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करती है, उसी प्रकार परमेश्वर सर्वसाक्षी आत्मस्वरूप से इस सम्पूर्ण प्रपंच में ओतप्रोत है। राजन्! जबतक मनुष्य ज्ञानोदय द्वारा सबकी आसक्ति छोड़-कर तथा कामादि छहों शत्रुओं को जीतकर आत्मतत्व को नहीं जान लेता और जबतक वह आत्मा के उपाधिरूप मन को संसार-दुःख का क्षेत्र नहीं समझता, तबतक वह इस लोक में योंही

भटकता रहता है। यह मन ही तुम्हारा परमशत्रु है, इसलिए सावधान होकर श्रीहरि की उपासना से तुम इसी पर विजय प्राप्त करो।'

राजा रहूगण ने कहा—'भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप जगत् का उद्धार करने के लिए ही परमानन्दमयस्वरूप का अनुभव कर इस स्थूल शरीर के प्रति उदासीन हो गये हैं और जड़ के समान अपने नित्य ज्ञानमयस्वरूप को जनसाधारण की दृष्टि से ओझल किये हुए हैं। ब्रह्मन्! आपके वचन अमृतमय औषधि के समान हैं। देव! मैं आपसे अपने संशय को निवृत्त तो पीछे कराऊँगा, पहले तो इस समय जो आपने अध्यात्मयोगमय उपदेश दिया है, उसीको सरल करके समझाइये। आपने जो यह कहा कि भार उठाने की क्रिया तथा उससे जो श्रमरूप फल होता है, वे दोनों ही प्रत्यक्ष होने पर भी केवल व्यवहारानुकूल ही हैं, वास्तव में सत्य नहीं है। इस कथन का मर्म मेरी समझ में नहीं आ रहा है।'

जड़भरत ने शंका का समाधान करते हुए कहा—'यह देह पृथिवी का विकार है। इसलिए पाषाणादि से इसका क्या भेद है? जब यह किसी कारण से पृथ्वी पर चलने लगता है, तब इसके दो चरण, उनके ऊपर क्रमशः टखने, पिंडली, घुटने, जाँघ, कंधे आदि नाम पड़ जाते हैं। कंधों के ऊपर पालकी रखी हुई है, उस में भी सौवीर-राज नामका एक पार्थिव विकार ही है, जिससे आत्मबुद्धिरूप अभिमान करने से तुम 'मैं सिंहदेश का राजा हूँ' इस मद से अन्धे हो रहे हो। किंतु इसीसे तुम्हारी कोई श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती—वास्तव में तो तुम बहुत क्रूर और धृष्ट ही हो। तुमने इन बेचारे दीन-दुखिया कहारों को बेगार में पड़कर पालकी में लगा रखा है—यह तुम्हें शोभा नहीं देता। सम्पूर्ण चराचर जीव सर्वदा पृथिवी से ही उत्पन्न होते हैं और पृथिवी में ही लीन

हो जाते हैं। अतः उनमें क्रिया-भेद के कारण जो अलग-अलग नाम पड़ गये हैं—बताओ तो, उनके सिवा व्यवहार के और क्या मूल हैं?

'छोटा, बड़ा, पतला, मोटा, कार्य-कारण तथा चेतन-अचेतन जितने भी गुणों से युक्त द्वैत-प्रपंच है—उसे भी द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल, कर्म आदि नामोंवाले भगवान की माया का ही कार्य समझो। विशुद्ध परमार्थरूप, अद्वितीय तथा भीतर-बाहर के भेद से रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तरवर्ती और सर्वथा निर्विकार है। उसीका नाम 'भगवान' है और उसीको पंडितजन 'वासुदेव' कहते हैं। महापुरुषों की चरणों की धूलि से अपनेको नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान और धर्मानुष्ठान आदि किसी भी साधन से यह परमात्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। महापुरुषों के समाज में सदा पवित्र-कीर्ति श्रीहरि के गुणों की चर्चा होती रहती है, जिससे विषय-वार्ता पास भी नहीं फटकने पाती। और जब भगवत्कथा का नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह पुरुष की शुद्ध बुद्धि को भगवान वासुदेव में लगा देती है। विरक्त महापुरुषों के सत्संग से प्राप्त ज्ञानरूप खड्ग से मोहबन्धन को काट देना चाहिए। तभी यह श्रीहरि की आनंदमयी लीलाओं के कथन और श्रवण से आत्म-साक्षात्कार कर सकता है।

'पूर्वजन्म में मैं भरत नाम का राजा था। ऐहिक और पार-लौकिक विषयों से विरक्त होकर मैं भगवान की आराधना में ही लगा रहता था। हरिण के बच्चे में आसक्ति हो जाने से मुझे अगले जन्म में हरिण बनना पड़ा। परन्तु भगवान की आराधना के प्रभाव से उस मृगयोनि में भी मेरे पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त नहीं हुई। अब मैं जनसंसर्ग से डरकर गुप्तरूप से ही विचरा करता हूँ।

'राजन्! यह जीव धन में आसक्त एक व्यापारी के समान है;

जिसे माया ने दुस्तर प्रवृत्तिमार्ग में लगा दिया है। इसलिए इसकी दृष्टि सात्विक, राजस और तामस कर्मों पर ही जाती है। उन कर्मों में भटकता-भटकता यह संसाररूपी घोर वन में पहुँच जाता है। वहां इसे तनिक भी शांति नहीं मिलती। महाराज ! इस जंगल के छह डाकू इसका माल-मत्ता सभी लूट लेते हैं। यहां वह तरह-तरह के कष्टों और संकटों को भोगता-भोगता मरा-सा हो जाता है। इस जंगल से कोई प्राणी न तो आजतक लौटा है, न किसी ने इसके संकट-पूर्ण मार्ग को पारकर परमानन्दमय योग की ही शरण ली है। जो मनुष्य माया की प्रेरणा से एक बार इस मार्ग में पहुँच जाता है, अन्त तक उसे अपने सही लक्ष्य का पता नहीं लगता। संग्राम में वीरगति को प्राप्त दिक्पालों को भी भगवान विष्णु का वह अविनाशी पद प्राप्त नहीं होता, जिसे वैरहीन परमहंस सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। रहूगण ! तुम भी इसी जंगली मार्ग में भटक रहे हो। इसलिए अनासक्त होकर अब भगवत् सेवा में लग जाओ ; वही मुक्ति का एकमात्र साधन है।'

राजा रहूगण ने कहा—'सभी योनियों में यह मनुष्य-योनि श्रेष्ठ है। दूसरी उत्कृष्ट देवादि योनियों से क्या लाभ, जहाँ भगवान हृषिकेश के पवित्र यश से शुद्ध अन्तःकरणवाले आप जैसे महात्माओं का समागम नहीं मिलता ? जिनके सारे पाप नष्ट ह गए हैं, उन महानुभावों के लिए भगवद्भक्ति प्राप्त करना कोई अचरज की बात नहीं है। मेरा तो अज्ञान आपके इस दो घड़ी के सत्संग से ही नष्ट हो गया। अवधूतवेश से पृथिवी पर विचरने वाले आप सरीखे ब्रह्मज्ञानियों को मेरा बारबार नमस्कार है।'

शुकदेवजी कहते हैं—'उत्तरानन्दन ! इस प्रकार ब्रह्मर्षि भरत ने राजा रहूगण को भी करुणावश आत्मतत्व का उपदेश दिया। जीव सत्वादि गुणों के भेद से शुभ, अशुभ और मिश्र—ये तीन प्रकार के कर्म करता है। जीव के अनुभव के छह द्वार हैं-मन और

पांच इन्द्रियां। इनके वश होकर जीव माया की प्रेरणा से संसार रूपी वन में जा पहुँचता है। यह वन अत्यन्त अशुभ है। इसमें शरीर से किये कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। सदा असफल और अशान्त रहने पर भी जीव यहां श्रीहरि एवं भक्त भ्रमरों के शुभ मार्ग का अनुसरण नहीं करता। छह इन्द्रियां ही इस वन के डाकू हैं। पुरुष जो धन कमाता है, उसका उपयोग सन्मार्ग में होना चाहिए। किंतु जिस मनुष्य का मन वश में नहीं होता, उसके धन को ये छह इन्द्रियां, विषय-भोगों में फँसाकर, इस प्रकार लूट लेती हैं, जिस प्रकार उसे चोर-डाकू आदि लूट ले जाते हैं। गृहस्थाश्रम में आसक्त व्यक्ति अपने चित्त की दोषदृष्टि के कारण इस असत् मृत्युलोक को सत्य समझने लगता है, और व्यसनों में फँसकर, मृगतृष्णा के समान, मिथ्या विषयों की ओर दौड़ने लगता है। कभी-कभी इसे बड़ी व्यथा होती है; पर शीघ्र ही वह उसे भूल जाता है। पूर्वपुण्य के क्षीण हो जाने पर यह जीवित ही मुर्दे के समान हो जाता है। जिनका धन इहलोक या परलोक के कर्मों में नहीं आता, उन कृपण पुरुषों के संग से बुद्धि बिगड़ जाने से, यह इहलोक और परलोक में भी मृतवत् रहता है। राजन्! इस मार्ग में इन सब विघ्नों के अलावा सुख-दुख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा-पिपासा, आधि, व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु आदि और भी अनेक विघ्न हैं। इनमें आसक्त होने के कारण जीव अन्त में अपार अंधकारमय नरकों में जा गिरता है। कालचक्र भगवान विष्णु का आयुध है। जल्दी-जल्दी बदलनेवाली बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएं ही उसका वेग हैं। वह निरन्तर संहार करता रहता है। कोई भी उसकी गति में बाधा नहीं डाल सकता। उससे भय मानकर भी मनुष्य, भगवान की आराधना छोड़, अनुचित अकर्त्तव्य करता रहता है। भगवान की

आराधना करना उसे अच्छा नहीं लगता। उसकी बुद्धि अत्यन्त दीन हो जाती है और उसे अपने मृत्युकाल का भी स्मरण नहीं होता! इस प्रकार प्रवृत्तिमार्ग में पड़कर सुख-दुख भोगता हुआ, यह जीव रोगरूपी गिरिगुहा में फँसकर आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों की निवृत्ति-चिंता से खिन्न हो उठता है। वह सदा दुःखी रहता है, और निस्तार का मार्ग उसे दिखाई ही नहीं देता।

पृथिवी के नीचे के लोकों तथा नरकों का वर्णन

'परीक्षित! अब मैं पृथिवी के नीचे के सातों लोकों का वर्णन सुनाता हूँ। पृथिवी के नीचे के पाताल-लोक एक प्रकार के स्वर्ग ही हैं। स्वर्ग के सभी साधन-सामग्री इनमें मौजूद हैं। इनमें रहने-वाले लोग अधिकांश सुखी गृहस्थाश्रमी हैं।

सुतल लोक में महाराजा बलि रहते हैं। भगवान ने वटु-वामन का अवतार लेकर राजा बलि से तीनों लोक छीन लिये थे। फिर भगवान की ही कृपा से उनका इस लोक में प्रवेश हुआ। वे उन्हीं पूज्यतम प्रभु की आराधना करते हुए यहाँ आज भी निर्भयतापूर्वक रह रहे हैं। भगवान नारायण हाथ में गदा लिये सुतल लोक में बलि के द्वार पर सदा उपस्थित रहते हैं। एक बार जब दिग्विजय करता हुआ घमंडी रावण वहाँ पहुँचा, तब उसे भगवान ने मार भगाया था।

सुतल लोक से नीचे तलातल है। वहाँ दानवराज मय रहता है। भगवान शंकर ने एक बार उसके तीनों पुर भस्म कर दिये थे, फिर उन्हींकी कृपा से उसे वह स्थान मिला। यह मायावियों का परम-गुरु है और शिवजी इसके रक्षक हैं। उसके नीचे महातल में सर्पों का समुदाय रहता है, जिसमें कुहक, तक्षक, कालिया, सुषेण आदि प्रधान हैं। उसके नीचे रसातल में दैत्य-दानवों का निवास है।

इनका देवताओं से विरोध है और ये बड़े बलवान और साहसी हैं। रसातल के नीचे पाताल है, जहाँ नागों का निवास है। इसमें वासुकि प्रधान हैं।

राजन्! पाताल लोक के नीचे 'अनन्त' नाम से विख्यात भगवान की तामसी नित्य कला है। यह द्रष्टा और दृश्य को एक कर देता है। इसलिए भक्तजन इसे 'संकर्षण' कहते हैं। भगवान अनन्त के हजार मस्तक हैं। उनमें से एक पर रखा हुआ यह सारा भूमंडल सरसों के दाने के समान दिखाई देता है। जब इन्हें इस विश्व का उपसंहार करने की इच्छा होती है, तब इनकी भृकुटियों से 'संकर्षण' नामक रुद्र प्रकट होते हैं। वे अनन्त हैं, इसलिए उनके पराक्रम का कोई परिमाण नहीं।'

राजा परीक्षित ने पूछा—'महर्षे! लोगों को जो ऊँची-नीची गतियां प्राप्त होती हैं उनमें इतनी विभिन्नता क्यों है?'

शुकदेवजी ने उत्तर दिया—'राजन्! कर्म करनेवाले व्यक्ति तीन प्रकार के होते हैं और उनकी श्रद्धाओं में भी भेद होता है। स्वभाव और श्रद्धा के भेद से उनके कर्मों की गतियां भी भिन्न-भिन्न होती हैं। पाप करनेवालों को भी समान फल मिलता है। 'पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए जीव को नरकों में जाना ही पड़ता है और वे नरक त्रिलोक के भीतर ही हैं। उस नरक लोक में भगवान यम अपने सेवकों-सहित रहते हैं तथा प्राणियों को उनके दुष्कर्मों के अनुसार पाप का फल दण्ड, देते हैं। ये कुल अट्ठाईस नरक तरह-तरह की यातनाएँ भोगने के स्थान हैं। जो दूसरों के धन, संतान अथवा स्त्रियों का हरण करता है, उसे यमदूत 'तामिस्र' नरक में गिरा देते हैं। उस अन्धकारमय नरक में उसे अनेक प्रकार से पीड़ित किया जाता है। इस लोक में जिसने जिन जीवों को जिस प्रकार कष्ट दिया है, यमलोक में वे ही जीव उसे उसी प्रकार कष्ट देते हैं। जो अपना पेट पालने के लिए जीवित पशु

या पक्षियों को रांधता है, उसे यमदूत कुम्भीपाक नरक में खौलते हुए तेल में डाल देते हैं। इसी प्रकार जो इस लोक में माता-पिता, ब्राह्मण और गुरू से विरोध करता है, जो राजा या राजकर्मचारी होकर किसी निरपराध मनुष्य को दण्ड देता है, जो कुछ मिले उसे बिना किसी दूसरे को दिये स्वयं ही जो खा जाता है, जो धर्म की मर्यादा भंग करता है, जो पशुवध करता है, जो मद्यपान करता है, जो नरमेधादि द्वारा यजन करता है, जो अभिमान-वश औरों को टेढ़ी नज़र से देखता है, और जो तरह-तरह के पापकर्म करता रहता है, वह नराधम विविध प्रकार के नरकों की यातनाएं भोगता है। जैसे यमलोक में जीव अपने कर्मानुसार ही जाते हैं वैसे ही धर्मात्मा पुरुष अपने सुकर्मों से स्वर्ग प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जब नरक और स्वर्ग के भोग से उनके अधिकांश पाप और पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब शेष पाप पुण्य-रूप कर्मों को लेकर फिर इसी मर्त्य लोक में जन्म लेते हैं।

षष्ठ स्कन्ध

अजामिल की कथा

राजा परीक्षित ने कहा—'महर्षे ! आप पहले निवृत्ति-मार्ग का वर्णन कर चुके हैं, जिसपर चलकर जीव ब्रह्मलोक में पहुँचकर मुक्त हो जाता है। फिर आपने प्रवृत्ति-मार्ग का भी भली-भांति वर्णन किया है, जिससे स्वर्गादि लोक प्राप्त होते हैं और प्रकृति के सम्बन्ध न छूटने के कारण जीव को बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में आना पड़ता है। आपने यह भी बतलाया कि अधर्म करने से नरकवास मिलता है। अब मैं वह उपाय जानना चाहता हूँ जिसके करने से जीव को नरकों में न जाना पड़े। आप कृपा कर उसका उपदेश कीजिये।'

शुकदेवजी ने कहा—'राजन् ! मनुष्य मन, वाणी और शरीर से पाप करता है। यदि वह इन पापों का इसी जन्म में प्रायश्चित्त न कर ले तो मरने के बाद उसे नरकों में जाना ही पड़ता है। इसलिए मृत्यु के पूर्व अपने पापों का प्रायश्चित अवश्य कर लेना चाहिए।'

राजा परीक्षित ने पूछा—'भगवन् ! जीव पाप करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है। पुनः प्रायश्चित्त करके भी पाप करने लगता है। तो ऐसे प्रायश्चित्त करने से क्या लाभ, जबकि वह पुनः पापों की ओर आकर्षित हो जाता है ?'

तब शुकदेवजी ने उत्तर देते हुए कहा-'वस्तुतः कर्म के द्वारा ही कर्म का नाश नहीं होता। अज्ञान के रहते पाप-वासनाएं मिट नहीं सकतीं। इसलिए सच्चा प्रायश्चित्त तो तत्वज्ञान की प्राप्ति है। जो मनुष्य

केवल सुपथ्य का ही सेवन करता है, रोग उसे अपने अधीन नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो नियमों का पालन करता है, वह धीरे-धीरे पाप-वासनाओं से छूटकर कल्याणप्रद तत्वज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। धर्मज्ञ और श्रद्धावान वीर पुरुष तपस्या, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-दमन, मन की स्थिरता, दान, सत्य, बाहर-भीतर की पवित्रता तथा यम और नियम—इन नौ साधनों से मन, वाणी और शरीर द्वारा किये गये बड़े-से-बड़े पापों को भी नष्ट कर देते हैं। परन्तु भगवान की शरण में रहनेवाले भक्तजन केवल भक्ति के द्वारा ही अपने सारे पापों को भस्म कर देते हैं। अपने आपको भगवान को समर्पण करने और उनके भक्तों की सेवा करने से पापी पुरुष की जैसी शुद्धि होती है, वैसी तपस्या आदि के द्वारा नहीं होती। जगत में यह भक्ति का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ, भयरहित और कल्याण-रूप है। जिन्होंने अपने मन-मधुकर को भगवान के चरणारविन्द-मकरन्द का एक बार भी पान करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित्त कर लिये। इस विषय का एक प्राचीन इतिहास है।

कान्यकुब्जनगर में एक दासीपति ब्राह्मण रहता था। उसका नाम अजामिल था। सदाचार उसका नष्ट हो चुका था। वह कभी बटोहियों को लूट लेता तो कभी छल से दूसरों का धन हड़प लेता। इस प्रकार दूसरों को कष्ट दे-देकर वह परिवार का पालन करता था। इस प्रकार के कुकर्मों में उसकी आयु का अधिकांश बीत गया। उसके दस पुत्र थे। उनमें सबसे छोटे का नाम 'नारायण' था। बूढ़ा अजामिल उसे बहुत प्यार करता था। अत्यंत मोह-वश हो, उसने अपना सम्पूर्ण हृदय अपने बच्चे 'नारायण' को सौंप दिया था। मृत्यु का समय निकट आया जानकर वह अपने पुत्र बालक नारायण के सम्बंध में ही सदा चिंतित रहने लगा। अंत में एक दिन उसने अनुभव किया कि उसे ले

जाने के लिए यमदूत आये हैं।

उस समय बालक 'नारायण' थोड़ी दूर पर खेल रहा था। यमदूतों को देखकर अजामिल अत्यंत व्याकुल हो गया और उसने बहुत ऊँचे स्वर से पुकारा—"नारायण! नारायण!" भगवान के पार्षदों ने समझा कि यह हमारे स्वामी भगवान नारायण को पुकार रहा है और उनके नाम का कीर्तन कर रहा है। अतः वे बड़े वेग से वहाँ आ पहुँचे। उस समय यमदूत अजामिल के शरीर से उसके सूक्ष्म शरीर को खींच रहे थे। विष्णुदूतों ने उन्हें बलात रोक दिया। यमदूतों ने उनसे कहा—'धर्मराज की आज्ञा की अवहेलना करनेवाले तुम लोग किसके दूत हो और हमें अपने कर्तव्य-कर्म करने से क्यों रोक रहे हो? जानते हो, हम धर्मराज के सेवक हैं।' तब भगवान के पार्षदों ने कहा—'यमदूतो! यदि सचमुच तुम लोग धर्मराज के आज्ञाकारी हो तो हमें धर्म के लक्षण और धर्म का तत्व सुनाओ। दण्ड किस प्रकार दिया जाता है? दण्ड का पात्र कौन है? मनुष्यों में सभी पापाचारी दण्डनीय हैं अथवा उनमें से कुछ ही?'

यमदूतों ने कहा—'वेदों ने जिन कर्मों का विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान के स्वरूप हैं। जगत के रजोमय, सत्वमय और तमोमय सभी पदार्थ तथा सभी प्राणी अपने परम आश्रय भगवान में ही स्थित रहते हैं। वेद ही उनके गुण, नाम, कर्म और रूप आदि के अनुसार उनका यथोचित विभाजन करते हैं। जीव शरीर अथवा मनोवृत्तियों से जितने भी कर्म करता है उसके—सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा, सन्ध्या, रात, दिन, दिशाएँ, जल, पृथिवी, काल और धर्म साक्षी रहते हैं। इनके द्वारा अधर्म का पता चल जाता है और तब दण्ड के पात्र का निर्णय होता है। पाप-कर्म करनेवाले सभी जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार दण्ड-

नीय होते हैं। जो प्राणी कर्म करते हैं उनका गुणों से सम्बन्ध रहता ही है। इसलिए सभी से कुछ पाप और कुछ पुण्य होते ही हैं। देहवान होकर कोई भी कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। अतः जो मनुष्य जिस प्रकार का और जितना धर्म या अधर्म करता है, वह उसका उतना ही और वैसा ही फल भोगता है। सत्व, रज और तम—इन तीन गुणों के भेद के कारण तीन प्रकार के प्राणी दीख पड़ते हैं—पुण्यात्मा, पापात्मा और पुण्य-पाप दोनों से युक्त अथवा सुखी, दुखी और सुख-दुःख दोनों से युक्त। वर्तमान स्थिति ही भूत और भविष्य का ज्ञान करा देती है। वैसे ही वर्तमान जन्म के पाप-पुण्य भी भूत और भावी जन्मोंका अनुमान करा देते हैं। हमारे स्वामी अजन्मा भगवान सर्वज्ञ यमराज सबके अन्तःकरणों में विराजमान हैं। इसलिए वे अपने मन से ही सबके पूर्वरूपों को देख लेते हैं।

जीव अपने पूर्वजन्मों की याद भूल जाता है और वर्तमान शरीर के सिवा पहले और पिछले शरीरों के विषय में कुछ भी नहीं जानता। जीव इस शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियों से लेना-देना, चलना-फिरना आदि काम करता है, पाँच ज्ञानेन्द्रियों से रूप, रस आदि पाँच विषयों का अनुभव करता है और मन के साथ वह स्वयं मिलकर अकेले ही मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय–इन तीनों के विषयों को भोगता है और यही सूक्ष्म शरीर जीव को बार-बार हर्ष, शोक, भय और पीड़ा देनेवाले जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालता है। जो जीव अज्ञानवश काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओं पर विजय नहीं पा लेता, उसे इच्छा न रहते हुए भी विविध वासनाओं के अनुसार अनेक कर्म करने पड़ते हैं। वैसी स्थिति में वह रेशम के कीड़े के समान अपने को कर्म के जाल में जकड़ लेता है और मोह का शिकार बन जाता है। प्रत्येक प्राणी अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार कर्म करता है और पूर्व-

जन्म के पाप-पुण्य के संस्कारों के अनुकूल स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर धारण करता है। इस प्रकार प्रकृति का संसर्ग होने से ही जीव अपने वास्तविक रूप को भूल कर भगवान के भजन से दूर हो जाता है।

यह अजामिल बड़ा शास्त्रज्ञ था। शील, सदाचार और सद्-गुणों का तो यह पुतला ही था। यह ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मंत्रवेत्ता और परिशुद्ध भी था। इसने गुरु, अग्नि, वृद्धजनों और अतिथियों की सेवा भी की थी। अहंकार तो इसमें था ही नहीं। यह समस्त प्राणियों का हित चाहता और किसी के गुणों में दोष नहीं ढूँढ़ता था। एक दिन यह ब्राह्मण अपने पिता के आदेशानुसार वन में गया और वहाँ से फलफूल, समिधा तथा कुश लेकर घर लौटा। लौटते समय इसने देखा कि एक भ्रष्ट पुरुष एक वेश्या के साथ विहार कर रहा है। तज्जनित वासना के कारण अजामिल का सदाचार और उसकी शास्त्र-विषयक चेतना नष्ट हो गई। अब वह उसी वेश्या का चिन्तन करने लगा और अपने धर्म से च्युत हो गया। उसने अपनी कुलीन विवाहिता पत्नी तक का परित्याग कर दिया और पिता की सारी सम्पति उस वेश्या के कुसंग में नष्ट कर दी। अब यह न्याय और अन्याय से जैसे भी धन मिलता, उससे उस वेश्या के कुटुम्ब-पालन में लगा रहता।

इस पापी ने शास्त्राज्ञा का उल्लंघन कर, स्वच्छंद आचरण किया है, जिसे सत्पुरुषों ने निन्दित कहा है। इसने बहुत दिनों तक वेश्या के अन्न से अपनी जीविका चलाई है। इसलिए इसका सारा जीवन ही पापमय है। इसने अभी तक अपने पापों का कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं किया। इसलिए इसे हम दण्डपाणि भगवान यमराज के पास ले जायँगे। वहाँ अपने पापों का दण्ड भोगकर यह शुद्ध हो जायगा।'

भगवान के नीतिनिपुण एवं धर्म का मर्म जाननेवाले पार्षदों ने

यमदूतों का यह कथन सुनकर उनसे कहा —

'यमदूतो ! यह बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि धर्मज्ञों की सभा में अधर्म प्रवेश कर रहा है, क्योंकि वहाँ निरपराध और अदण्डनीय व्यक्तियों को व्यर्थ दण्ड दिया जाता है। जो प्रजा के रक्षक, शासक, समदर्शी और परोपकारी हैं—यदि वे ही उनके प्रति विषमता का व्यवहार करने लगें तो फिर प्रजा किसकी शरण लेगी ? सत्पुरुष जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वैसा ही करने लगते हैं। वे अपने आचरण के द्वारा जिस कर्म को धर्मानुकूल प्रमाणित कर देते हैं, लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं। साधारण लोग धर्म और अधर्म का स्वरूप न जानकर किसी सत्पुरुष पर विश्वास कर लेते हैं। वैसे ही दयालु सत्पुरुष उन अज्ञानियों के साथ कैसे विश्वासघात कर सकते हैं ? यमदूतो ! इसने कोटि-कोटि जन्मों की पाप-राशि का पूरा-पूरा प्रायश्चित्त कर लिया है। इसने विवश होकर ही सही ; पर भगवान के परमकल्याणमय नाम का चिंतन और उच्चारण तो किया ? जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरों का उच्चारण और चिंतन करना आरम्भ किया, उसी समय केवल उतने से ही इसके समस्त पापों का प्रायश्चित्त हो गया। चाहे जितना बड़ा पापी हो, सभी के लिए यही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि वह भगवान के नामों का उच्चारण करे। भगवन्नामों के उच्चारण से मनुष्य की बुद्धि भगवान के गुणों, लीला और स्वरूप में रम जाती है और स्वयं भगवान उसे प्रेम से अपना लेते हैं। बड़े-बड़े ऋषियों ने पापों के बहुत-से प्रायश्चित्त बतलाये हैं ; परन्तु उन प्रायश्चित्तों से पापों की वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवान के नामोच्चारण से होती है। प्रायश्चित्त करने के बाद भी यदि मन फिर कुमार्ग अथवा पाप की ओर दौड़े तो वह पूरा प्रायश्चित्त नहीं है। इसलिए जो लोग ऐसा प्रायश्चित्त करना चाहें, जिससे पाप और वासनाएं

समूल नष्ट हो जायं, उन्हें भगवान के गुणों का ही गान करना चाहिये – उससे चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है। इसलिए तुम लोग अजामिल को नहीं ले जा सकते, क्योंकि इसने अपने सारे पापों का प्रायश्चित्त कर लिया है—इसने मरते समय भी भगवान के नाम का उच्चारण किया है। बड़े-बड़े महात्मा पुरुषों का यह कथन है कि संकेत से भी यदि कोई भगवान के नामों क उच्चारण करता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि तपस्या, दान, जप आदि प्रायश्चित्तों के द्वारा पाप नष्ट होते हैं; पर पापों से मलिन हुआ हृदय सर्वथा शुद्ध नहीं होता, केवल भगवान की चरण-सेवा से ही यह सदा के लिए शुद्ध हो जाता है। यमदूतो! जैसे जान में या अनजान में ईंधन से अग्नि का स्पर्श हो जाय तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही जानबूझकर या अनजान में भगवान के नामों का कीर्तन करने से मनुष्य के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे अमृत को अनजाने भी पी लेनेवाला अमर हो जाता है, वैसे ही अनजान में भी भगवान का स्मरण अपना फल देकर ही रहता है।'

इस प्रकार भगवान के पार्षदों ने भागवत-धर्म का पूरा निर्णय सुना कर अजामिल को यमदूतों के पाश से मुक्त कर दिया। यमदूतों ने पार्षदों की बात सुनकर यमराज को सारा वृत्तान्त सुना दिया। अजामिल इधर यम के फंदे से छूटकर निर्भय और स्वस्थ हो गया। फिर उसने भगवान के पार्षदों को प्रणाम किया। वह कुछ कहना ही चाहता था कि वे अन्तर्धन हो गये; किन्तु इस अवसर पर उसने पार्षदों से विशुद्ध भागवत-धर्म और यमदूतों के मुख से वेदोक्त धर्म का श्रवण किया था। अतः सर्वपापहारी भगवान की महिमा सुनने से अजामिल के हृदय में भक्ति का संचार हो गया। अब वह अपने पापों को याद कर पश्चात्ताप करने लगा। उसने सोचा कि मैंने अभी जो अद्भुत दृश्य देखा, क्या वह स्वप्न

था अथवा जाग्रत अवस्था का ही प्रत्यक्ष अनुभव ! अभी-अभी जो हाथों में फंदा लिये मुझे खींच रहे थे, वे कहाँ चले गये ? वे मुझे ले जारहे थे ; पर चार सिद्धों ने आकर मुझे छुड़ा लिया, वे अब कहां चले गये ? यद्यपि मैं महापापी हूं, फिर भी मैंने अवश्य कुछ सुकर्म किये होंगे, तभी तो मुझे इन श्रेष्ठ देवताओं के दर्शन हुए ? यदि मैंने पुण्य न किये होते तो मेरी जीभ भगवान के मनोहर नाम का उच्चारण कैसे कर पाती ? अब मैं अपने मन, इन्द्रियों और प्राणों को वश में करके ऐसा प्रयत्न करूँगा कि घोर अन्धकारमय नरक से बच जाऊं। मैं समस्त प्राणियों का हित करूँगा और वासनाओं का शमन कर सबसे मित्रता का व्यवहार, दुखियों पर दया और संयत जीवन व्यतीत करूँगा। अब मैं अपने आपको माया से मुक्त करूंगा। मैंने परमात्मा को पहचान लिया है, इसलिए 'मैं' और 'मेरेपन' का भाव छोड़ कर भगवन्नाम एवं कीर्तन आदि से अपने मन को शुद्ध कर, भगवान में लगाऊँगा।

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित ! उसे उन पार्षद महात्माओं का थोड़ी ही देर का सत्संग प्राप्त हुआ था। इतने ही में अजामिल के चित्त में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य हो गया। वह अब सबका सम्बन्ध और मोह छोड़कर हरिद्वार चला गया। वहां योगमार्ग के आश्रय से उसने अपनी सारी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन को शुद्ध बुद्धि में मिला दिया। इस प्रकार जब अजामिल की बुद्धि भगवान के स्वरूप में स्थित हो गई, तब उसने देखा कि वे ही चारों पार्षद फिर सामने खड़े हैं। वह उन पार्षदों के साथ वैकुण्ठ चला गया। परीक्षित ! अजामिल ने अपना सारा धर्म-कर्म चौपट कर दिया था। अपने निन्दित कर्मों के कारण वह पतित हो गया था ; परन्तु भगवान के नाम का चिन्तन और उच्चारण करने से ही वह मुक्त हो गया। अतः जो लोग इस संसार-बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिए भगवान के नाम से बढ़कर और कोई साधन नहीं है।'

जिन देवाधिदेव के वश में सारे जीव रहते हैं, उन धर्मराज के दूतों की भगवान के पार्षदों ने जब इस प्रकार अवज्ञा कर दी, तब उन्होंने अपने स्वामी से इस प्रकार निवेदन किया—"प्रभो! संसार के जीवों को उनके कर्मों का फल देनेवाले शासक कितने हैं? यदि संसार में दण्ड देनेवाले बहुत-से शाषक हों तो किसे सुख मिले और किसे दुःख—इसकी व्यवस्था एक-सी न हो सकेगी। शासन का तब नाममात्र रह जायगा। हम तो समझते हैं कि आप ही प्राणियों के अधीश्वर हैं। आप ही जीवों के पाप और पुण्य के निर्णायक, दण्डदाता और शासक हैं। प्रभो! अबतक संसार में कहीं भी आपके द्वारा नियत दण्ड की अवहेलना नहीं हुई थी; किन्तु आज चार सिद्धों ने आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया है। आपकी आज्ञा समझकर हम लोग एक पापी को यातनागृह की ओर ले जा रहे थे; परन्तु उन्होंने बलपूर्वक उसे आपके फन्दे से छुड़ा दिया। हम आपसे उसका रहस्य जानना चाहते हैं। प्रभो! अजामिल के मुख से 'नारायण' शब्द निकला न था कि "मत डरो-मत डरो" कहते हुए वे झट वहाँ आ गये और उन्होंने उसे हमारे पाश से छुड़ा लिया।

भगवान यमराज ने प्रसन्न होकर श्रीहरि के चरणकमलों का स्मरण करते हुए उनसे कहा—"दूतो! मुझसे बड़े चराचर जगत् के स्वामी, जिनमें यह सम्पूर्ण जगत् सूत में वस्त्र के समान ओत-प्रोत है और जिनके अंश ब्रह्मा, विष्णु और शंकर इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं वे ही सबके अधीश्वर हैं। मैं, इंद्र और दूसरे बड़े-बड़े देवता सत्वप्रधान होने पर भी सभी उनके अधीन हैं, वे कब क्या करेंगे, इसे हम भी नहीं जानते, औरों की तो बात ही क्या? वे प्रभु सबके स्वामी और स्वयं परम स्वतंत्र हैं। वे भक्तजनों को सभी प्रकार की विपत्तियों से सदा बचाते रहते हैं। स्वयं भगवान ने ही धर्म की मर्यादा स्थिर की है। भगवान

का बनाया भागवतधर्म परम शुद्ध और अत्यन्त कल्याणप्रद है। उस कठिन तत्व को जो जान लेता है, वह भगवत्स्वरूप प्राप्त कर लेता है। इस जगत् में जीवों के लिए सबसे बड़ा कर्त्तव्य और धर्म, बस यही है कि वे हरि-नाम-कीर्तन आदि उपायों से भगवान के चरणों में भक्तिभाव प्राप्त कर लें। दूतो! भगवान के नामोच्चारण की महिमा तो देखो! अजामिल-जैसा पापी भी नामोच्चारण करने मात्र से जन्म-मृत्यु से छुटकारा पा गया। भगवान के गुण, लीला और नामों का भलीभांति कीर्तन मनुष्यों के पापों को सर्वथा नष्ट कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है, क्योंकि पापी अजामिल ने चंचल चित्त से ही अपने पुत्र 'नारायण' का नाम लिया था। इस नामाभासमात्र से उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, उसे मुक्ति भी प्राप्त हो गई। बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी कभी-कभी भगवान की माया से मोहित हो जाती है। वे यज्ञ और यागादि बड़े-बड़े कर्मों में लगे रहते हैं; पर इस सुगम-से भी सुगम भगवन्नाम की महिमा को नहीं जानते। बुद्धिमानजन भगवान में ही भक्तिभाव स्थापित करते हैं, इसलिए वे मेरे दण्ड के पात्र नहीं हैं। पहली बात तो यह है कि वे पाप करते नहीं और यदि कोई पाप उनसे हो भी जाय तो भगवान का गुणगान उसे तत्काल नष्ट कर देता है। जो समदर्शी साधु भगवान को ही अपना साध्य और साधन दोनों समझकर उसपर निर्भर रहते हैं, उन्हें दण्ड देने का सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् काल ही में। जो दुष्ट जीव उस दिव्यरस से विमुख हैं, जिनकी जिह्वा भगवान के गुणों और नामों का उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दों का चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान के चरणों पर नहीं झुकता, उन भगवत्सेवा-विमुखों को ही तुम लोग मेरे पास लाया करो।"

परीक्षित! तुम ऐसा समझ लो कि बड़े-से-बड़े पापों का सर्वो-

त्तम, अन्तिम और पापवासनाओं को भी निर्मल कर डालनेवाला प्रायश्चित्त यही है कि भगवान के गुणों, लीलाओं और नामों का कीर्तन किया जाय। जो लोग बार-बार भगवान के चरित्रों का श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके हृदय में प्रेमपरा भक्ति का अरुणोदय हो जाता है। उस ऊँची भक्ति से जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी शुद्धि कष्टप्रद चान्द्रायण आदि व्रतों से भी नहीं होती।

प्रजापति दक्ष का नारद को शाप

परीक्षित! प्रचेताओं के पुत्र प्रचेतस दक्ष प्रजापति हुए। इन्होंने प्रजावृद्धि के संकल्प से घोर तपस्या की थी। भगवान उनकी जिस 'हंसगुह्य' स्तुति से उनपर प्रसन्न हुए थे, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ—

'भगवन्! आप जीव और प्रकृति से परे हैं। उन दोनों के आप नियन्ता हैं और उन्हें सत्ता एवं स्फूर्ति देते हैं। जिन जीवों ने सृष्टि को ही सत्य समझ रखा है वे आपके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सके हैं। यों तो जीव और ईश्वर एक-दूसरे के अभिन्न सखा हैं और इसी शरीर में एकसाथ ही निवास करते हैं; परन्तु जीव आपके सख्यभाव को नहीं जानता। आप जीव और जगत् के द्रष्टा हैं, दृश्य नहीं। मैं आपके श्रीचरणों में नमस्कार करता हूँ। जगत् में जितनी भी भिन्नतायें दीख पड़ती हैं, सब आप-की माया ही है। आप गुणों के उत्पत्ति-स्थान और प्रलय के अधिष्ठान हैं। आप स्वयंब्रह्म अनन्त और निराकार हैं। साकार एवं निराकार दोनों से अविरुद्ध परब्रह्म हैं। प्रभो! आपका न तो कोई प्राकृत नाम है और न कोई प्राकृत रूप। फिर भी जो आपके चरणकमलों का भजन करते हैं, उनपर अनुग्रह करने के लिए आप अनेक रूपों में प्रकट होकर विविध लीलाएं करते हैं। आप कृपाकर मुझे कृतार्थ कीजिये। आपको मेरा नमस्कार है।'

जब दक्ष प्रजापति ने इस प्रकार स्तुति की, तब भक्तवत्सल भगवान उनके सामने प्रकट हुए। उनके नेत्रों से प्रसाद की वर्षा हो रही थी और उन्होंने त्रैलोक्य विमोहनरूप धारण कर रखा था। उनका यह अलौकिक रूप देखकर दक्ष प्रजापति ने आनन्द-पुलकित हो, उनके चरणयुगलों को प्रणाम किया। भगवान सबके हृदय की बात जानते हैं, अतः उन्होंने दक्ष से कहा—'दक्ष ! अब तुम्हारी तपस्या पूर्ण हो गई। तुमने विश्व की वृद्धि के लिए तप किया है, इसलिए पंचजन प्रजापति की कन्या 'असिक्नी' 'को तुम अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण करो। इससे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।'

दक्ष प्रजापति के 'हर्यश्व' नाम के कई पुत्र हुए। ये सभी एक से आचरण और स्वभाववाले थे। तपस्या करने के विचार से वे पश्चिम की ओर सिन्धुनद और समुद्र के संगम पर स्थित 'नारायण-सर' नामक तीर्थ पर चले गये। वहाँ यद्यपि भागवतधर्म में उनकी बुद्धि लग गई तो भी वे प्रजावृद्धि की अभिलाषा नहीं छोड़ सके। यह देख नारदजी ने उनके पास जाकर कहा—'हर्यश्वो ! प्रजापति होने से क्या ? तुम लोग वास्तव में बड़े मूर्ख हो। जबतक तुम लोग अपने सर्वज्ञ पिता के उचित आदेश को समझ नहीं लोगे, तबतक उनके आज्ञानुसार सृष्टि कैसे कर सकोगे ? सृष्टि रचने के लिए तुम लोगों को इन बातों की जानकारी पहले प्राप्त कर लेनी चाहिए —

पृथिवी का अन्त कहाँ है ? वह कौनसा देश है, जिसमें एक ही पुरुष निवास करता है ? वह कौनसा बिल है, जिससे बाहर निकलने का रास्ता ही नहीं है ? वह कौन-सी स्त्री है, जो अनेक रूप धारण कर सकती है ? वह कौन-सी नदी है, जिसका प्रवाह दोनों ओर है ? पच्चीस पदार्थों का बना वह कौन-सा मकान है ? विचित्र कहानियोंवाला हंस कौनसा है और छुरे और वज्र से

भी कठोर वह कौनसा चक्र है, जो अपने-आप घूमता है ?

परीक्षित ! हर्यश्व जन्म से ही बड़े बुद्धिमान थे। देवर्षि नारद के वचनों को सुनकर वे स्वयं ही उनपर विचार करने लगे। जीव-आत्मा का अनादि बन्धन है। इसका अन्त देखे बिना मोक्ष के अनुपयोगी कर्मों में लगे रहने से क्या लाभ ? वह सबका आश्रय है; परन्तु उसका आश्रय कोई नहीं है और वही भगवान है। परमात्मा को देखे बिना उनके प्रति असमर्पित कर्मों से जीव को क्या लाभ है ? जैसे मनुष्य बिलरूप पाताल में प्रवेश कर वहाँ से लौट नहीं पाता—वैसे ही जीव जिसको पाकर फिर संसार में नहीं लौटता, उस परमात्मा को जाने बिना, विनाशवान स्वर्ग आदि फल देनेवाले कर्मों से क्या लाभ है ? अपनी बुद्धि ही वह बहुरूपिणी स्त्री है, जो गुणों के अनेक रूप धारण करती है। विवेक-रहित कर्मों से क्या लाभ है ? माया दोनों ओर बहनेवाली नदी है, यह सृष्टि भी करती है और प्रलय भी। जो इससे निकलने के लिए तपस्या आदि साधनों का सहारा लेने लगते हैं, उन्हें वह अपने क्रोध और अहंकार की तीव्र धाराओं में नहीं बहा ले जा सकती है। पच्चीस तत्वों का ही वह अद्भुत घर है। पुरुष ही उसका आश्चर्यमय आश्रय है। वही समस्त कार्य-कारणात्मक जगत् का अधिष्ठाता है। भगवान का स्वरूप बतलानेवाला शास्त्र, हंस के समान, नीरक्षीर-विवेकी है। वह बन्ध-मोक्ष, चेतन और जड़ को अलग-अलग करके दिखा देता है। काल ही वह चक्र है, जो निरंतर घूमता रहता है। इसकी धार वज्र और छुरे से भी कठोर और तीखी है। इसको रोकनेवाला कोई नहीं। शास्त्र पिता है—उसका आदेश कर्मों से निवृत्त होना है, न कि उनमें फँसना।'

परीक्षित ! हर्यश्वों ने एकमत से यही निश्चय किया और नारदजी की परिक्रमा कर वे उस मोक्षपथ के पथिक बन गये, जिसपर चलकर फिर लौटना नहीं पड़ता। जब दक्ष प्रजापति

को मालूम हुआ कि मेरे शीलवान पुत्र नारद के उपदेश से कठोर तपस्या में लग गये हैं। तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे नारदजी पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा—"दुष्ट! तूने झूठ-मूठ साधुओं का बाना धारण कर रखा है। हमारे भोले-भाले बालकों को भिक्षुओं का मार्ग दिखलाकर तूने हमारा बड़ा अपकार किया। अभी उन्होंने ब्रह्मचर्य से ऋषि-ऋण, यज्ञों से देवऋण और पुत्रोत्पत्ति से पितृऋण नहीं चुकाया है। इन कार्यों के पूर्व ही तूने उनके दोनों लोकों का सुख स्वाहा कर दिया। सचमुच तेरे हृदय में दया का नाम भी नहीं। तू इसी प्रकार बच्चों की बुद्धि बिगाड़ा करता है। यदि तू समझता है कि केवल वैराग्य से ही संसार-बन्धन दूर हो सकता है तो तू भूल कर रहा है। तुम-जैसे झूठमूठ वैराग्य का स्वांग रचनेवालों से किसी को सच्चा वैराग्य भी नहीं हो सकता। नारद! मनुष्य बिना अनुभव किये विषयों की कटुता को जान नहीं सकता। इसलिए उनकी दुःखरूपता का अनुभव होनेपर स्वयं जैसा वैराग्य होता है, वह कभी दूसरों के कहने से नहीं होता। हम लोग अपनी धर्म-मर्यादा का पालन करनेवाले सद्गृहस्थ हैं। तूने बार-बार हमारे साथ दुष्टता का व्यवहार किया है। अतः जा, लोक-लोकान्तरों में भटकता फिर, कहीं भी तेरे ठहरने का ठौर न रहे।" देवर्षि नारद ने दक्ष का शाप स्वीकार कर लिया। साधुता इसे ही कहते हैं कि बदला लेने की शक्ति रहने पर भी दूसरे का अपकार सह लिया जाय।

वृत्रासुर की कथा

राजा परीक्षित ने पूछा—'भगवन्! देवाचार्य बृहस्पति ने अपने प्रिय शिष्य देवताओं को किस कारण त्याग दिया था? कृपा कर वह प्रसंग भी मुझे बतलाइये।'

शुकदेवजी ने कहा—'राजन्! इन्द्र को त्रिलोक का ऐश्वर्य पाकर भारी गर्व हो गया था, जिसके कारण वे धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने लगे थे। एक दिन वे भरी सभा में अपनी पत्नी शची के साथ बैठे हुए थे। इसी बीच आचार्य बृहस्पति वहाँ आये। उन्हें सुर-असुर सभी नमस्कार करते हैं। इन्द्र ने देख लिया कि आचार्य बृहस्पति सभा में आये हैं; पर न तो वे खड़े ही हुए, न उनका आसनादि से स्वागत-सत्कार ही किया। देवगुरु बृहस्पति ने समझ लिया कि यह ऐश्वर्य-मद का दोष है। अतः वे तुरन्त वहाँ से अपने घर चले आये। जब देवराज इन्द्र को चेत हुआ कि मैंने गुरुदेव की अवहेलना की है तो वे भरी सभा में ही अपनी निन्दा करने लगे—'मैंने बड़ी शठता की है, अब मैं उनके चरणों में माथा टेककर क्षमा-याचना करूँगा।'

देवराज इन्द्र ऐसा सोच ही रहे थे कि इसी बीच भगवान बृहस्पति अपने घर से भी कहीं चले गये। देवराज ने उनकी बहुत खोज कराई; परन्तु उनका कहीं भी पता न चला। तब वे अपने को सुरक्षित न समझकर देवताओं के साथ स्वर्ग की रक्षा का उपाय सोचने लगे। दैत्यों को भी देवगुरु बृहस्पति और इन्द्र की अनबन का पता लग गया, और उन्होंने अपने गुरु शुक्राचार्य के आदेशानुसार देवताओं पर धावा बोल दिया। उन्होंने युद्ध में देवताओं को ऐसा परास्त किया कि वे घबड़ा कर ब्रह्माजी की शरण में गये।

ब्रह्माजी ने देवताओं को ढाढ़स बँधाते हुए कहा—'देवताओ! तुम लोगों ने ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण का सत्कार न कर बहुत बुरा काम किया है। तुम्हारी इसी अनीति का यह फल है कि आज तुम्हें शत्रुओं के सामने नीचा देखना पड़ रहा है। तुम्हारे शत्रु भी गुरुदेव शुक्राचार्य का तिरस्कार करने के कारण अत्यन्त निर्बल हो गये थे; परन्तु अब भक्तिभाव से उनकी आराधना कर वे पुनः

सम्पन्न हो गए हैं। अब वे स्वर्ग को ही क्यों, जिस लोक को चाहें जीत सकते हैं। तुम लोग शीघ्र ही त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाओ और उनकी सेवा करो। वे सच्चे ब्राह्मण, तपस्वी, एवं संयमी हैं। यदि तुम उनका सम्मान कर सकोगे तो वे तुम्हारे विजय का उपाय बतलायंगे।'

तब देवगण विश्वरूप के पास गये और उनसे कहा—'वत्स विश्वरूप! हम तुम्हारे यहाँ अतिथि के रूप में आये हैं। इसलिए तुम हम लोगों की अभिलाषा पूर्ण करो। पुत्र! इस समय शत्रुओं ने हमें जीत लिया है और हम बड़े दुखी हो रहे हैं। तुम अपने तपोबल से हमारे इस दुःख, दारिद्रय और पराजय के अन्त करने का कोई उपाय बताओ। तुम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण हो, अतः जन्म से ही तुम हमारे गुरु हो।'

देवताओं के इस प्रकार प्रार्थना करने पर परम तपस्वी विश्वरूप ने प्रसन्न होकर उनसे अत्यन्त प्रिय और मधुर शब्दों में कहा—'आप लोग मेरे स्वामी हैं। ऐसी स्थिति में भला मुझ-जैसा व्यक्ति आप लोगों की इच्छा को कैसे टाल सकता है? आप लोगों का मनोरथ पूरा करने का मैं प्रयत्न करूँगा।' इस प्रकार उन्हें आश्वासन देकर विश्वरूप ने उनकी पुरोहिती स्वीकार करली।

परीक्षित! विश्वरूप ने देवताओं को नारायण-कवच का उपदेश करते हुए कहा—"देवगण! भय का अवसर आने पर यह 'नारायण-कवच' धारण कर अपने शरीर की रक्षा कर लेनी चाहिए। उसकी विधि यह है; पहले हाथ-पैर धोकर और आचमन करके उत्तरमुख बैठ जाय। फिर पवित्रतापूर्वक "ॐ नमो नारायणाय" और "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इन मंत्रों से भगवान की आराधना करे। जितना भी कार्य या कारणरूप जगत् है, वह वस्तुतः भगवान ही है। इस सत्य के प्रभाव से हमारे सारे उपद्रव नष्ट हो जायँ। जो लोग ब्रह्म और आत्मा की एकता का

अनुभव कर चुके हैं, उनकी दृष्टि में भगवान का स्वरूप समस्त भेदों से परे है। सर्वज्ञ सर्वव्यापक श्रीहरि सदा-सर्वत्र सब स्वरूपों से हमारी रक्षा करें।"

देवगण! मैंने आपको यह नारायण-कवच सुना दिया। इस वचन से आप अपने को सुरक्षित कर लें। बस फिर आप लोग दैत्यों को सहज ही जीत लेंगे। इस नारायण-कवच को धारण करनेवाला पुरुष समस्त भयों से मुक्त हो जाता है।

शुकदेवजी कहते हैं—'इन्द्र ने आचार्य विश्वरूप से यह वैष्णवी विद्या प्राप्त कर, कुछ काल बाद युद्ध में असुरों को जीत लिया। विश्वरूप के तीन सिर थे। उनके पिता त्वष्टा थे; किन्तु उनकी माता असुर कुल की थीं। इसलिए वे यज्ञ के समय प्रत्यक्षरूप में ऊँचे स्वर से देवताओं को और साथ ही मध्यम स्वर में असुरों को भी आहुति दिया करते थे। इस प्रकार वे असुरों को भी उनका भाग पहुँचाया करते थे। जब देवराज इन्द्र ने देखा कि वे धर्म की ओट में कपट कर रहे हैं तब उन्होंने उनके तीनों सिर काट लिए।

परीक्षित ने प्रश्न किया—'भगवन्! त्वष्टा तो अत्यन्त तेजस्वी पुरुष थे। तब उन्होंने इन्द्र के हाथों अपने पुत्र की हत्या कैसे सहन करली?'

शुकदेवजी ने कहा—'परीक्षित! विश्वरूप की मृत्यु के बाद उनके पिता त्वष्टा मन्त्रों से इन्द्र का शत्रु उत्पन्न करने के लिए हवन करने लगे। यज्ञ समाप्त होनेपर अग्निकुण्ड से एक भयंकर दानव प्रकट हुआ। उसके भयावने रूप को देखकर सब डर गये और इधर-उधर भागने लगे। त्वष्टा की आज्ञा से उस तमोगुणी पुत्र ने सारे देवलोकों को आक्रान्त करना आरम्भ कर दिया। इसीसे उसका नाम 'वृत्रासुर' पड़ा। देवता अपने दिव्य शस्त्रों से उसपर प्रहार करते; पर उनका उसपर असर नहीं होता था।

हारकर देवगण दीन बन आदिपुरुष नारायण की शरण में गये और उन्होंने उनसे प्रार्थना की—'भगवन् ! वायु, आकाश, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पाँचों भूत, इनसे बने हुए तीनों लोक, उनके अधिपति ब्रह्मादि तथा हम सब देवता, जिससे डरकर उसे पूजा-सामग्री की भेंट दिया करते हैं, वह काल भी आपसे भयभीत रहता है। इसलिए जो आपको छोड़कर किसी दूसरे की शरण लेता है, वह मूर्ख है। सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और निकृष्ट गतियाँ प्राप्त होती हैं, उनके नियामक आप ही हैं। आप परम मंगलमय, परम दयालु और परम कल्याणस्वरूप हैं। आप ही सारे जगत् के आधार और स्वामी हैं। यज्ञ में विघ्न डालनेवाले दैत्यों का आप संहार करते हैं, इस कारण ही आपके अनेक नाम हैं। आपके गुण अगणित हैं और महिमा अगाध है। आप सबके अन्तर्यामी-अन्तरात्मा हैं। आपमें जो अपने मन को निरन्तर लगाये रखते हैं, वे ही आपके परमभक्त हैं। आप त्रिलोक के आश्रय हैं। दण्डधारी प्रभो ! इस वृत्रासुर का नाश कर, हमारे हृदय का ताप आप शांत कीजिये। वृत्रासुर ने हमारे प्रभाव और दिव्य अस्त्रों के तेज को तो कम कर ही दिया है, अब वह तीनों लोकों पर भी अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता है। हम आपकी शरण में आये हैं। आपको हमारा नमस्कार है।'

देवताओं की प्रार्थना सुनकर भगवान ने कहा—'श्रेष्ठ देवगण ! तुम लोगों की उपासना से मैं प्रसन्न हूँ। मेरे अनन्य प्रेमी भक्त मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। जो पुरुष जगत् के विषयों को ही सत्य समझता है, वह अपने सच्चे कल्याण को नहीं जानता। देवराज इन्द्र ! तुम ऋषि-शिरोमणि दधीचि के पास जाओ और उनसे उनका शरीर, जो उपासना, व्रत तथा तपस्या के कारण अत्यन्त दृढ़ हो गया है, मांग लो। उन्हें शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान

है। दधीचि ऋषि ने ही पहले पहल अभेद्य नारायण-कवच का त्वष्टा को उपदेश दिया था। त्वष्टा से वही विश्वरूप को और विश्वरूप से तुम्हें मिला है। दधीचि धर्म के बड़े मर्मज्ञ हैं। वे तुम्हें अपना शरीर अवश्य दे देंगे। उसका आयुध बनाकर तुम वृत्रासुर का संहार कर सकोगे।'

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित्! देवताओं ने दधीचि ऋषि के पास जाकर भगवान की आज्ञानुसार याचना की। इस याचना से दधीचि को बड़ा आनन्द हुआ, पर उन्होंने देवताओं से कहा—'आप लोगों को सम्भवतः यह मालूम नहीं है कि मरते समय प्राणियों को बड़ा कष्ट होता है। जबतक सुध-बुध रहती है, उन्हें असह्य पीड़ा सहनी पड़ती है और अन्त में वे पीड़ा से मूर्छित हो जाते हैं। जो जीव जगत् में जीवित रहना चाहते हैं, उनके लिए शरीर बड़ी ही अनमोल वस्तु है। ऐसी स्थिति में स्वयं विष्णु भगवान भी यदि जीव से उसका शरीर मांगें तो कौन उसे देने का साहस करेगा?'

तब देवताओं ने उनसे कहा—'आप जैसे उदार महापुरुष, जिनके कर्मों की बड़े-बड़े यशस्वी महानुभाव भी प्रशंसा करते हैं, प्राणियों की भलाई के लिए कौन-सी वस्तु निछावर नहीं कर सकते? भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि माँगनेवाले स्वार्थी होते हैं। उनमें देनेवाले की कठिनाई का विचार करने की क्षमता नहीं होती। इसी प्रकार दाता भी माँगनेवालों की विपत्ति को समझ नहीं पाता।'

दधीचि ऋषि ने कहा—'देवताओ! मैंने आप लोगों के मुख से धर्म की बातें सुनने के लिए ही आपकी माँग के प्रति उपेक्षा दिखलाई थी। मैं अपने प्यारे शरीर को आपके लिए अभी त्याग देता हूँ, क्योंकि एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है। जो मनुष्य इस विनाशी शरीर से दुःखी प्राणियों पर दया कर, धर्म और यश

का सम्पादन नहीं करता, वह अज्ञ जड़ पेड़-पौधों से भी गया-बीता है। जगत् में धन, जन और शरीर सभी क्षणभंगुर हैं। ये अपने किसी काम नहीं आते और अन्त में दूसरों के ही काम आयँगे। फिर मनुष्य इनके द्वारा दूसरों का उपकार क्यों नहीं कर लेता ?'

परीक्षित ! महर्षि दधीचि ने ऐसा निश्चय कर अपने को परमात्मा में लीन कर दिया और अपना नश्वर शरीर त्याग दिया। तब विश्वकर्मा ने उनकी हड्डियों का वज्र बनाकर इन्द्र को दिया। त्रेतायुग अभी आरम्भ ही हुआ था। नर्मदा-तट पर देवताओं का दैत्यों के साथ फिर भयंकर संग्राम हुआ। इस समय भगवान की कृपा देवताओं पर थी। अतः दानवों के आयुध इनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सके। जब दैत्यों ने देखा कि देवताओं को पराजित करने के उनके सभी प्रयत्न निष्फल होते जा रहे हैं, तब वे वृत्रासुर को युद्ध-भूमि में अकेला ही छोड़ भाग खड़े हुए। यह देख वृत्रासुर ने हँसकर कहा—'असुरो ! जो पैदा हुआ है, उसे एक-न-एक दिन अवश्य मरना पड़ेगा। इस जगत् में विधाता ने मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं बतलाया है। ऐसी स्थिति में यदि मृत्यु से स्वर्गादि-लोक और सुयश मिल रहा हो तो कौन ऐसा है जो उस उत्तम मृत्यु को नहीं अपना लेगा ? संसार में दो प्रकार की मृत्यु परम दुर्लभ और श्रेष्ठ मानी गई है—एक तो योगी-पुरुष की और दूसरी युद्धभूमि में वीर सैनिक की। तुम ऐसा शुभ अवसर क्यों खो रहे हो ?'

किंतु दैत्य-सेना पर वृत्रासुर के धर्मोक्त वचनों का कोई असर नहीं पड़ा। अतः उसने अकेले ही देवताओं को ललकारा। वह बड़ा बली था। सम्मुख जाने में देवता उससे भय खाते थे, क्योंकि वह अकेला ही उनका घोर संहार कर रहा था। उसी समय इन्द्र उसके सम्मुख आ गये। जब वृत्रासुर ने देखा कि मेरे भाई का वध करनेवाला इन्द्र हाथ में वज्र लिये युद्ध करने के लिए

सामने आया है, तब उसने हँसकर कहा—'सौभाग्य है कि तुझ-जैसा शत्रु मेरे सम्मुख खड़ा है। अब मैं शीघ्र ही तेरे कठोर हृदय को अपने शूल से छेद कर भाई के ऋण को चुका दूँगा। इन्द्र! तूने आत्मवेत्ता और निष्पाप मेरे बड़े भाई को, जो तेरा गुरु भी था, विश्वास देकर मार डाला। दया, लज्जा, लक्ष्मी और कीर्ति तुझे छोड़ चुकी है। तूने ऐसे-ऐसे नीच कर्म किये हैं, जिनकी निन्दा मनुष्य तो क्या राक्षस तक करते हैं। आज मेरे त्रिशूल से तेरा शरीर छिन्न-भिन्न हो जायगा और तू बड़े कष्ट से मरेगा। यह भी सम्भव है कि तू अपने प्रचण्ड वज्र से मेरा ही सिर काट ले। पर तब मैं इस कर्मबन्धन से मुक्त हो जाऊँगा। इन्द्र! तेरा यह वज्र भगवान के तेज और दधीचि ऋषि की तपस्या से तेजवान हो रहा है। विष्णु भगवान ने मुझे मारने के लिए तुझे आज्ञा भी दी है। इसलिए तू अब उस वज्र का मुझपर प्रयोग कर, क्योंकि जिस पक्ष में भगवान श्रीहरि हैं, उधर ही विजय-लक्ष्मी और सारे गुण निवास करते हैं। देवराज! भगवान संकर्षण के आज्ञानुसार मैं अपने मन को उनके चरणकमलों में लीन कर दूँगा। तेरे वज्र का वेग मुझे नहीं, मेरे विषयभोगरूप फंदे को ही नष्ट करेगा और मैं शरीर त्याग कर उत्तम गति प्राप्त करूँगा। जो पुरुष भगवान से अत्यन्त प्रेम करते हैं—उन्हें वे स्वर्ग नहीं देते, क्योंकि उससे परमानन्द की प्राप्ति तो होती नहीं, उलटे द्वेष, दुःख और कलहादि ही हाथ लगते हैं।"

इन्द्र से इतना कह, वृत्रासुर ने भगवान की प्रार्थना की—'प्रभो! आप मुझपर ऐसी कृपा करें कि अनन्यभाव से आपके चरणकमलों के आश्रित जनों की सेवा करने का सुअवसर मुझे अगले जन्म में प्राप्त हो। प्राणवल्लभ! मेरा मन, वाणी और शरीर आपकी सेवा में ही लगा रहे। मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक और मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर

रहते हैं, वैसे ही मेरा मन आपके दर्शन के लिए छटपटा रहा है। प्रभो। मैं मुक्ति नहीं चाहता। मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ आपके प्यारे भक्तजनों से मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्! मैं केवल यही चाहता हूँ।'

शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! वृत्रासुर रणभूमि में अपना शरीर त्याग कर भगवान को प्राप्त करना चाहता था। अब वह अपना त्रिशूल उठाकर भयंकर वेग से इन्द्र पर टूट पड़ा। इन्द्र ने अपने वज्र से पहले उसकी एक भुजा काट डाली। इसपर पुनः उसने इन्द्र से कहा—'इन्द्र! काल ही सबके जय-पराजय का कारण है। वही मनुष्य के मनोबल, इन्द्रियबल, शरीरबल, प्राण, जीवन और मृत्यु के रूप में स्थित है। मनुष्य उसे न जानकर जड़ शरीर को ही अपने जय-पराजय का कारण समझता है। इन्द्र! तुम समस्त प्राणियों को भगवान के अधीन समझो। जिसे इस बात का पता नहीं, वही इस जीव को कर्त्ता-भोक्ता मान बैठता है। इसलिए यश-अपयश, जय-पराजय, सुख-दुख और जीवन-मरण-इनमें किसी एक की भी इच्छा-अनिच्छा न रख, सभी परिस्थितियों में समभाव से रहना चाहिये और हर्ष-शोक के वश में नहीं होना चाहिए।

वृत्रासुर के ये सत्य और निष्कपट वचन सुनकर इन्द्र ने उसका आदर करते हुए कहा—'दानवराज! तुम सचमुच सिद्ध पुरुष हो। तभी तो तुम्हारा धैर्य, निश्चय और भगवद्भाव इतना विलक्षण है। तुम असुरोचित भाव छोड़ कर महापुरुष हो गये हो और भगवान वासुदेव में तुम्हारी बुद्धि दृढ़ता से लगी है, जो परम कल्याण के स्वामी हैं।'

इस प्रकार देवराज इन्द्र और वृत्रासुर धर्म का तत्व जानने की अभिलाषा से एक-दूसरे के साथ बातचीत करते हुए आपस में युद्ध कर रहे थे। युद्ध के अंत में इन्द्र ने उसकी कोख फाड़ डाली और उसका विशाल उन्नत सिर भी काट डाला। वृत्रासुर

के शरीर से उसकी आत्मज्योति सबके देखते-देखते परमात्मा में विलीन हो गई। उसकी मृत्यु से इन्द्र को छोड़कर तीनों लोक प्रसन्न थे।

परीक्षित ने पूछा—'महर्षे! मैं देवराज की अप्रसन्नता का कारण जानना चाहता हूँ।'

शुकदेवजी ने कहा—'राजन्। वृत्रासुर के पराक्रम से समस्त देवता अत्यन्त भयभीत थे। अतः उन लोगों ने उसके वध के लिए इन्द्र से प्रार्थना की थी; परन्तु इन्द्र ब्रह्महत्या के भय से उसे मारना नहीं चाहता था। इसी भय से जब उसने देवताओं से कहा—'देवताओ! वृत्र की हत्या से मेरा छुटकारा कैसे होगा, तब ऋषियों ने उसे आश्वासन दिया था कि हम अश्वमेध-यज्ञ कराकर तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर देंगे। वृत्रासुर के मारे जाने पर ब्रह्महत्या के पाप के कारण इन्द्र को बड़ा क्लेश हुआ। वह इसके भय से मानसरोवर पर बहुत वर्षों तक छिपकर निवास करता रहा और सोचता रहा कि इस ब्रह्महत्या के पाप से मेरा छुटकारा किस तरह सम्भव होगा। तबतक राजा नहुष स्वर्ग का शासन करता रहा। मानसरोवर पर भगवान का ध्यान करते-करते इन्द्र के पाप नष्टप्राय हो गये और वे पुनः सुर-लोक में आ गये। उनके स्वर्ग में आ जाने पर ब्रह्मर्षियों ने भगवान की आराधना के लिए उन्हें अश्वमेध-यज्ञ की दीक्षा दी। इस यज्ञ के प्रभाव से वृत्रासुर के वध की पापराशि भस्म हो गई और इन्द्र फिर पूर्ववत् पूजनीय हो गया।

परीक्षित ने पूछा—'भगवन्! वृत्रासुर का स्वभाव तो बड़ा रजोगुणी और तमोगुणी था। ऐसी दशा में भगवान के चरणों में उसकी सुदृढ़ भक्ति कैसे हुई? वह तो बड़ा पापी था, फिर भयंकर युद्ध के समय वह अपनी वृत्तियों को भगवान में इस प्रकार दृढ़तापूर्वक कैसे लगा सका?'

महाराजा चित्रकेतु की कथा

शुकदेवजी ने कहा—'राजन्! प्राचीनकाल की बात है। शूरसेन देश में महाराज चित्रकेतु के राज्य में पृथिवी स्वयं ही प्रजा को मनचाहा अन्न-रस दे दिया करती थी। महाराज चित्रकेतु सभी गुणों और ऐश्वर्यों से सम्पन्न थे; किन्तु उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। इसलिए उन्हें इसकी सदा चिन्ता रहती थी।

संयोगवश एक दिन अंगिरा ऋषि राजा चित्रकेतु के महल में पधारे। राजा ने उनकी विधिवत् पूजा की। जब अंगिरा ऋषि आसन पर बैठ गये, तब उन्होंने राजा से पूछा—"राजन्! तुम गुरु, मंत्री, सेना इत्यादि के साथ सकुशल तो हो? तुम्हारी रानियाँ, प्रजाजन, सेवक और पुत्र तो वश में हैं? मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे मुख पर कोई भीतरी चिन्ता के चिह्न झलक रहे हैं। क्या कोई तुम्हारी वाञ्छित अभिलाषा अपूर्ण है?'

सम्राट् चित्रकेतु ने कहा—"भगवन्! तपस्या से जिन योगियों के सारे पाप नष्ट हो चुके हैं, उनके लिए ऐसी कौन-सी बात है, जिसे वे न जानते हों? पर जब जानबूझकर भी आप मेरी चिंता का कारण पूछ रहे हैं तो मैं आपकी आज्ञा और प्रेरणा से उसे कह देता हूँ। मुझे पृथिवी का साम्राज्य प्राप्त है; परन्तु सन्तान न होने के कारण मुझे शांति नहीं है। मैं तो दुखी हूँ ही, भविष्य में पिण्डदान न मिलने की आशंका से, मेरे पितर भी दुःखी होंगे। अब आप कृपाकर कोई ऐसा उपाय कीजिये, जिससे मैं लोक और परलोक दोनों के दुःखों से छुटकारा पा जाऊँ।'

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित्! भगवान अंगिरा ने त्वष्टा देवता के योग्य चरू तैयार कर, उससे उनका यजन किया और यज्ञ का अवशेष प्रसाद रानी कृतद्युति को देकर, राजा चित्रकेतु से कहा—"राजन्! तुम्हारी पत्नी से तुम्हें हर्ष और शोक-दोनों ही-देनेवाला एक पुत्र होगा। ऐसा कहकर वे चले गये।' समय

आने पर महारानी के एक सुन्दर पुत्र हुआ। प्रजा बहुत आनन्दित हुई। राजा चित्रकेतु ने प्रसन्नता से बालक का जातकर्म-संस्कार कराया और ब्राह्मणों को प्रचुर दान दिया। प्रतिदिन बच्चे को लाड़-प्यार करते रहने के कारण महाराजा चित्रकेतु दूसरी रानियों की अपेक्षा रानी कृतद्युति को अधिक चाहने लगे। दूसरी रानियाँ सन्तान न होने के कारण स्वयं ही दुःखी थीं। राजा की उपेक्षा से उनके हृदय में ईर्ष्या ने स्थान कर लिया। वे अब अपने को दासी से भी बदतर समझने लगीं और इस द्वेष के कारण उनकी बुद्धि भी मारी गई। अतः क्रूरतावश उन्होंने एक दिन छिपकर उस नन्हे-से राजकुमार को विष दे दिया।

धायों के रोने की आवाज़ सुनकर महारानी कृतद्युति जब अपने पुत्र के शयनगृह में पहुँची तो वहाँ उन्होंने अपने बच्चे को अकस्मात मरा पाया। अत्यंत शोक से वे मूर्छित हो, पृथिवी पर गिर पड़ीं। जब राजा चित्रकेतु को मालूम हुआ कि मेरे पुत्र की अकारण ही मृत्यु हो गई है, तब उनकी आँखों के आगे एका-एक अँधेरा छा गई। उन दोनों के कातर विलाप से सारे राज-कर्मचारी शोकाभिभूत हो गये—सारे देश पर दुःख के बादल छा गये। महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद को जब ज्ञात हुआ कि राजा चित्रकेतु पुत्र-शोक से चेतनाहीन हो रहे हैं, तब वे उनके पास आकर ज्ञान-वैराग्यपूर्ण उक्तियों से उन्हें समझाने लगे। उन्होंने कहा—"राजेन्द्र! जिसके लिए तुम इतना शोक कर रहे हो, वह बालक इस जन्म और पूर्व के जन्मों में तुम्हारा कौन था? उसके तुम कौन थे? और अगले जन्मों में भी उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा? जैसे जल के वेग से बालू के कण एक-दूसरे से जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही काल के प्रवाह में प्राणियों का भी मिलन और विछोह होता रहता है। जैसे कुछ बीजों से दूसरे बीज उत्पन्न होते और फिर नष्ट हो जाते हैं, वैसे

ही भगवान की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। भगवान ही समस्त प्राणियों के अधिपति हैं, उनमें जन्म-मृत्यु आदि विकार लेशमात्र भी नहीं हैं। यह संसार उन्हीं की माया से मिथ्या होते हुए सत्य-सा भासता है।

राजा चित्रकेतु ने उनसे पूछा—'आप दोनों परम ज्ञानवान और महान से भी महान हैं तथा अवधूत-वेश में अपने को छिपाकर यहाँ पधारे हैं। कृपाकर बतलाइये कि आप हैं कौन? मैं अज्ञान के घोर अन्धकार में डूब रहा हूँ, ज्ञान की ज्योति जलाकर आप दोनों मुझे इस अन्धकार से निकालिए।

महर्षि अंगिरा ने कहा—'राजन्! मैं अंगिरा हूँ। यह सामने देवर्षि नारद खड़े हैं। तुम्हें शोकाकुल देखकर तुमपर अनुग्रह करने के लिए ही हम दोनों यहाँ आये हैं। राजन्! जो भगवान और साधु पुरुषों का भक्त है, उसे किसी भी अवस्था में शोक नहीं करना चाहिए। जिस समय मैं पहले-पहले तुम्हारे घर आया था, उसी समय मैं तुम्हें परमज्ञान का उपदेश देता; किन्तु मैंने देखा कि अभी तुम्हारे हृदय में पुत्र की उत्कट लालसा है। इसलिए उस समय तुम्हें ज्ञान न देकर मैंने पुत्र ही दिया। अब तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानों को कितना दुःख होता है! यही बात स्त्री, घर, धन और विविध प्रकार के ऐश्वर्य आदि पर भी लागू होती है। ये सभी शोक, मोह, भय और दुःख के कारण हैं। इसलिए तुम अब अपने मन को विषयों से हटाकर अपने सच्चे स्वरूप के चिंतन में लगा दो और शांतिस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाओ।

अंगिरा के उपदेश से भी जब चित्रकेतु का शोक दूर नहीं हुआ, तब देवर्षि नारद ने मृत राजकुमार के जीवात्मा को स्वजनों के सामने प्रत्यक्ष बुलाकर कहा—'जीवात्मन्! देखो, तुम्हारे माता-

पिता और ये सुहृद-सम्बन्धी तुम्हारे वियोग से अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं। इसलिए तुम अपने शरीर में फिर प्रविष्ट हो जाओ, और शेष आयु इनके साथ ही व्यतीत करो।'

जीवात्मा ने उत्तर दिया—'देवर्षे! मैं अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में न जाने कितने जन्मों से भटक रहा हूँ! उनमें से ये लोग किस जन्म में मेरे माता-पिता हुए? विभिन्न जन्मों में सभी एक-दूसरे के भाई-बन्धु, शत्रु-मित्र आदि होते रहते हैं। जैसे सुवर्ण एक व्यापारी के पास से दूसरे के पास आता-जाता रहता है, वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता रहता है। मनुष्यों की अपेक्षा अधिक दिन ठहरनेवाले सुवर्ण आदि पदार्थों का सम्बन्ध भी मनुष्यों के साथ स्थायी नहीं, क्षणिक ही होता है। जबतक जिसका जिस वस्तु से सम्बन्ध रहता है, तभी तक उसकी उस वस्तु से ममता भी रहती है। आत्मा नित्य और अहंकाररहित अविनाशी, सूक्ष्म, सबका आश्रय और स्वयंप्रकाश है। इसमें स्वरूपतः जन्म, मृत्यु आदि कुछ भी नहीं है। इसका न तो कोई प्रिय है न अप्रिय—न कोई अपना है, न पराया।'

जब वह जीवात्मा इस प्रकार कहकर चला गया, तब उसके सगे-सम्बन्धी भी उसकी बातें सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उनका स्नेह-बन्धन कट गया और अब उन्हें उसके चले जाने का शोक भी जाता रहा। इस प्रकार अंगिरा और नारदजी के उपदेश से विवेक-बुद्धि जग जाने से राजा चित्रकेतु घर-गृहस्थी के अंधकूप से बाहर निकल पड़े। उन्होंने यमुना में स्नान-तर्पण आदि धार्मिक क्रियाएँ करके उन देवर्षियों की वन्दना की। भगवान नारद ने इससे प्रसन्न होकर उनसे कहा—'राजन्! तुम एकाग्रचित्त से यह मन्त्रोपनिषद् ग्रहण करो। इसके ग्रहण करने से अल्पकाल में ही तुम्हें भगवान संकर्षण का दर्शन होगा। वह यह है—ॐकारस्वरूप भगवन्! आप वासुदेव के रूप में विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। मैं

आपको नमस्कार करता हूँ। आप महान और विराट स्वरूप हैं। मन और वाणी आप तक नहीं पहुँच पाती है। आप महाविभूति-पति को मेरा नमस्कार है। प्रभो! आप सर्वश्रेष्ठ हैं, आपको मेरा बार-बार प्रणाम है।'

राजा चित्रकेतु ने देवर्षि नारद की आज्ञानुसार सात दिन तक एकाग्रता से इस मन्त्रोपनिषद् का अनुष्ठान किया। उस अनुष्ठान से उन्हें विद्याधरों का अखण्ड आधिपत्य प्राप्त हो गया। कुछ दिन और अनुष्ठान करने के बाद इसके प्रभाव से उनका मन और भी शुद्ध हो गया और वे देवाधिदेव भगवान शेष के चरणों के समीप पहुँच गये। उनके दर्शन करते ही राजर्षि चित्रकेतु के बचे-खुचे पाप भी नष्ट हो गये। उन्होंने आदिपुरुष भगवान शेष को नमस्कार किया और एकाग्रचित्त से इस प्रकार उनकी स्तुति की—'हे अजित! जो निष्काम भाव से आपका भजन करते हैं, उन्हें आप अपने आप को भी देते हैं। भगवन्! जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये आपके लीला-विलास हैं। नन्हे-से-नन्हे परमाणु से लेकर बड़े-से-बड़े महत्तत्व तक सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि, अन्त और मध्य में आप ही स्थित हैं। जो केवल विषय-भोग ही चाहते हैं, वे आपका भजन न कर और देवताओं की उपासना करते हैं। परमात्मन्! आप ज्ञानस्वरूप और निर्गुण हैं। आपने जिस भागवत-धर्म का निरूपण किया है, संत लोग उसीका परिसेवन करते हैं। इसलिए जो सन्तजन समस्त चर-अचर प्राणियों में समदृष्टि रख कर आप-का ध्यान करते हैं उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। हे अनन्त! आप सम्पूर्ण जगत के आत्मा हैं। संसार में प्राणी जो-कुछ करते हैं, वह सब आपको विदित रहताहै। आपका स्वरूप वस्तुतः अत्यन्त शुद्ध है। यह भूमंडल आपके सिर पर सरसों के दाने के समान जान पड़ता है। मैं आप सहस्रशीर्ष भगवान को बार-बार नमस्कार करता हूँ।'

अनन्त भगवान ने प्रसन्न होकर राजा चित्रकेतु से कहा—'राजन्! देवर्षि नारद और महर्षि अंगिरा ने तुम्हें जिस संकर्षण विद्या का उपदेश दिया है, उससे और मेरे दर्शन से तुम सिद्धि प्राप्त कर चुके हो। समस्त प्राणी मेरे ही रूप हैं। मैं ही उनका आत्मा और पालनकर्ता भी हूँ। शब्दब्रह्म और परब्रह्म दोनों ही मेरे सनातन रूप हैं। यह जानकर एकमात्र परमात्मा का ही स्मरण करना चाहिए। ब्रह्म मैं ही हूँ और तुम उसे अपना आत्मा समझो। ज्ञान ही ब्रह्म है, वही परब्रह्म है। जब जीव मेरे स्वरूप को भूल जाता है, तब वह अपने को अलग मान बैठता है, इसी से उसे संसार के चक्र में पड़ना पड़ता है, और जन्म-पर-जन्म और मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती है। यह मनुष्ययोनि ज्ञान और विज्ञान का मूल स्रोत है। जो इसे पाकर भी परमात्मा को नहीं जान लेता उसे किसी भी योनि में शान्ति नहीं मिल सकती। सांसारिक सुखों के लिए जो प्रयास किये जाते हैं, वे उलटे दुःख ही देते हैं; किन्तु कर्मों से निवृत्त हो जाने में किसी प्रकार का भय नहीं है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह किसी प्रकार के कर्म अथवा उनके फलों का संकल्प न करे। जगत के सभी स्त्री-पुरुष इसीलिए नाना कर्म करते हैं कि उन्हें सुख मिले और दुःखों से पिण्ड छूटे; परन्तु उन कर्मों से न तो उनका दुःख दूर होता है और न उन्हें सुख ही मिलता है। आत्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं से जीव अपना पिण्ड छुड़ा ले और मेरा भक्त हो जाय। जो लोग योग-मार्ग का तत्व समझने में कुशल हैं, उन्हें चाहिये कि ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव करें।' परीक्षित, भगवान शेष चित्रकेतु को इस प्रकार समझाकर अन्तर्धान हो गये।

एक दिन चित्रकेतु विमान पर चढ़कर कहीं जा रहे थे। एक स्थान पर उन्होंने देखा कि भगवान शंकर पार्वती के साथ मुनियों

की सभा में बैठे हैं। चित्रकेतु उनके पास जाकर भगवती पार्वती से कहने लगे--"यह सारे जगत के धर्मशिक्षक, गुरुदेव और समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ हैं। फिर भी इनकी यह दशा है कि भरी सभा में अपनी पत्नी के साथ साधारण पुरुषों के समान बैठे हैं।'

भगवान शंकर की बुद्धि अगाध है। चित्रकेतु का कटाक्ष सुनकर वे हँस पड़े, कुछ बोले नहीं। चित्रकेतु को भगवान शंकर का प्रभाव मालूम नहीं था, इसीसे वे उनके बारे में बहुत कुछ बुरा-भला बक रहे थे। उन्हें इस बात का घमंड हो गया था कि मैं जितेन्द्रिय हूँ। पार्वती ने उनकी यह धृष्ठता देखकर क्रोध से कहा, "जान पड़ता है, ब्रह्मा, सनकादि, कपिलदेव और दूसरे बड़े-बड़े महापुरुष धर्म का रहस्य नहीं जानते, तभी तो वे धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले भगवान शिव को ऐसा करने से नहीं रोकते! सारे महापुरुष जिनके चरणकमलों का निरंतर ध्यान करते हैं, उन्हीं भगवान शंकर का इस अधम ने आज तिरस्कार किया है। इसलिए यह सर्वथा दण्ड का पात्र है। इसे अपने बड़प्पन का घमंड है, अतः यह मूर्ख भगवान श्रीहरि के चरणकमलों में रहने योग्य नहीं है। दुर्मते! तू पापमय असुर-योनियों में चला जा। इससे तू फिर कभी किसी महापुरुष का अपमान नहीं कर सकेगा।'

पार्वती ने इस प्रकार चित्रकेतु को शाप दिया तो उसने सिर झुकाकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हुए कहा—"माता! मैं आपका शाप स्वीकार करता हूँ। प्रारब्धानुसार जीव अज्ञान से मोहान्ध होता है और इसी कारण वह संसार-चक्र में भटकता हुआ सुख-दुःख भोगता रहता है। सुख और दुःख को देनेवाला न तो अपना आत्मा है, न कोई दूसरा। जो अज्ञानी हैं वे ही अपने को सुख-दुःख का कर्त्ता माना करते हैं। आपको जो मेरी बात अनुचित मालूम हुई हो, उसके लिए आप मुझे क्षमा करें।"

परीक्षित! विद्याधर चित्रकेत भगवान शंकर और पार्वती

को इस प्रकार प्रसन्न कर वहाँ से चला गया। भगवान शंकर ने पार्वती से कहा—"प्रिये! जो लोग भगवान के शरणागत होते हैं, उन्हें स्वर्ग, मोक्ष और नरक में भी समानभाव से भगवान के दर्शन होते हैं। जीवों को देह के संयोग होने के कारण ही सुख-दुःख, जन्म-मरण, शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं। जैसे स्वप्न में भेद-भ्रम से सुख-दुःखादि की प्रतीत होती है और जाग्रत अवस्था में भ्रमवश माला में ही सर्पबुद्धि हो जाती है—वैसे ही मनुष्य अज्ञानवश आत्मा में देवता, मनुष्य आदि का भेद तथा गुण-दोष की कल्पना कर लेता है। जिनके पास ज्ञान और वैराग्य का बल है और जो भगवान वासुदेव के चरणों में भक्तिभाव रखते हैं उनके लिए इस जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जिससे वे राग या द्वेष करें। यह परम भाग्यवान चित्रकेतु उन्हीं का प्रिय अनुचर, शांत एवं समदर्शी है। इसलिए तुम्हें भगवान के प्यारे भक्त महात्मा पुरुषों के संबंध में किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं करना चाहिए।"

परीक्षित! भगवान शंकर की यह बात सुनकर पार्वती की चित्तवृत्ति शांत हो गई। भगवान के भक्त चित्रकेतु भी भगवती पार्वती को बदले में शाप दे सकते थे; पर उन्होंने ऐसा न कर, उनका शाप शिरोधार्य किया। ये ही साधु पुरुष के लक्षण हैं। यही विद्याधर चित्रकेतु दानव-योनि में जाकर त्वष्टा की दक्षिणाग्नि से पैदा हुआ और वहाँ इसका नाम वृत्रासुर पड़ा। वहाँ भी यह भगवत्स्वरूप के ज्ञान और भक्ति से भरपूर रहा। तुमने मुझसे पूछा था कि वृत्रासुर का दैत्ययोनि में जन्म क्यों हुआ और उसे भगवान की ऐसी भक्ति कैसे प्राप्त हुई, उसका पूरा-विवरण मैंने तुम्हें सुना दिया।

मरुद्गणों की जन्म-कथा

अब मैं कश्यप की दूसरी पत्नी दिति से जन्म लेनेवाली उस

सन्तान-परम्परा का वर्णन करता हूँ, जिसमें भगवान के प्रिय भक्त प्रह्लाद और बलि का जन्म हुआ था। दिति के, दैत्य-दानवों के वन्दनीय, दो ही मुख्य पुत्र हुए—हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। इनकी संक्षिप्त कथा मैं पूर्व कह चुका हूँ। हिरण्यकशिपु के चार पुत्रों में सबसे छोटे प्रह्लाद थे। इनकी सिंहिका नाम की एक बहन भी थीं; उससे राहु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह वही राहु है, जिसका सिर अमृतपान के समय मोहिनीरूपधारी भगवान ने चक्र से काट डाला था। प्रह्लाद का पुत्र विरोचन था। उसकी पत्नी 'देवी' से बलि का जन्म हुआ। बलि की महिमा मैं आगे सुनाऊँगा। बलि का पुत्र बाणासुर भी भगवान शंकर की आराधना करके उनके गणों का मुखिया बन गया। दिति के हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के अतिरिक्त उनचास पुत्र और थे, उन्हें मरुद्गण कहते हैं। वे सभी निःसन्तान रहे। देवराज इंद्र ने उन्हें अपने ही समान देवता बना लिया। परीक्षित! मरुद्गणों की कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

भगवान विष्णु ने देव, साधु और धर्म की रक्षा के लिए दिति के दोनों पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष को मार डाला था। अतः दिति शोक से उत्तेजित होकर इस प्रकार सोचने लगी—'देवता सचमुच बड़े पापी और अभिमानी हैं। इन्होंने अपने भाइयों को ही मरवा डाला। इसलिए अब मैं ऐसा उपाय करूँगी, जिससे मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो उनका घमंड चूर-चूर कर सके।' ऐसा विचार कर वह अपने पति कश्यप को अधिक प्रसन्न रखने लगी। कल्याण चाहनेवाली पतिव्रता स्त्रियाँ अनन्य भाव से अपने पतिदेव की पूजा करती हैं। समय पाकर दिति ने अपने पतिदेव से कहा—'स्वामिन्! देवताओं ने भगवान विष्णु के हाथों मेरे दोनों पुत्रों को मरवाकर मुझे निपूती बना दिया है। अतः आप मुझे एक ऐसा अमर पुत्र दीजिये, जो इन्द्रादि देवताओं से भी बलिष्ठ हो।'

दिति की बात से कश्यपजी खिन्न होकर मन में सोचने लगे–'स्त्री-रूपिणी माया ने मुझे अपने वश में कर लिया है, अतः अब अवश्य ही मुझे नरक का भागी होना पड़ेगा। मेरी बात भी झूठी न होनी चाहिए और न देवताओं का अनिष्ट ही होना ठीक है।' इस प्रकार दोनों बातों के निर्वाह का उपाय सोचकर उन्होंने दिति से कहा–'कल्याणि! यदि तुम मेरे बतलाये हुए व्रत का एक वर्ष तक विधिवत् पालन करोगी तो तुम्हें इन्द्र से भी अधिक बलवान पुत्र होगा। परन्तु किसी प्रकार यदि नियमों में त्रुटि हो गई तो वह देवताओं का मित्र बन जायगा। वह व्रत यह है कि व्रती स्त्री किसी भी प्राणी को मन, वाणी या कर्म से सताये नहीं, झूठ न बोले, अशुभ वस्तु का स्पर्श न करे, क्रोध न करे, जूठा न खाय, जूठे मुँह संध्या के समय बिना आचमन किये घर से बाहर न निकले, उत्तर या पश्चिम को सिर करके एवं प्रातः और सायंकाल को न सोये, सदा पवित्र रहे, प्रातःकाल गाय, लक्ष्मी, ब्राह्मण और भगवान नारायण की पूजा करे तथा पति की सेवा में लगी रहे। इस व्रत का नाम 'पुँसवन' है।

दिति बड़ी मनस्विनी और दृढ़ निश्चयवाली थी। उसने शीघ्र ही पुँसवन स्वीकार कर समस्त नियमों का पालन करना शुरु कर दिया। जब देवराज इन्द्र को अपनी मौसी दिति का अभिप्राय मालूम हुआ तो वे वेश बदलकर उसकी सेवा करने लगे। दिति व्रत के नियमों का पालन करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। क्लान्त होकर एक दिन वह सन्ध्या के समय जूठे मुँह, बिना आचमन किये और बिना पैर धोये ही, सो गई। नियम-भंग हो जाने से उसके एक के बदले उनचास, देवताओं के मित्र, मरुद्-गण नाम के पुत्र हुए। इन्द्र ने भी सौतेली माता के पुत्रों से वैमनस्य का भाव न रखकर उन्हें अपना सहायक बना लिया।

जब दिति ने देखा कि उसके अग्नि के समान तेजस्वी उनचास

बालक इन्द्र के साथ प्रेमभाव से विराजमान हैं तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह स्वभाव की भली भी तो थी। उसने इन्द्र से कहा—'बेटा! मैं इस इच्छा से इस अत्यंत कठिन व्रत का पालन कर रही थी कि मेरा पुत्र तुम अदिति के पुत्रों को भयभीत करनेवाला हो; पर भगवान ने भला ही किया और एक के बदले उनचास तुम लोगों के सच्चे भाई ही मुझसे उत्पन्न हुए।' इंद्र ने उत्तर दिया—'माता! इस बात का मुझे पता चल गया था कि तुम किस उद्देश्य से व्रत कर रही हो, इसीलिए मैं वेश बदलकर तुम्हारी सेवा करता था। तुम सब प्रकार मेरी पूज्या हो; मेरे अपराध क्षमा कर दो।' परीक्षित! दिति इंद्र के शुद्धभाव से संतुष्ट हो गई। उससे आज्ञा लेकर इन्द्र अपने भाई मरुद्‌गणों के साथ स्वर्ग चले गये।

सप्तम स्कन्ध

हिरण्यकशिपु की ब्रह्माजी से वर-प्राप्ति

राजा परीक्षित ने पूछा—'मुनिश्रेष्ठ ! भगवान तो स्वभाव से ही भेदातीत, सम और समस्त प्राणियों के प्रिय सुहृद हैं। फिर उन्होंने, जैसे कोई साधारण मनुष्य भेदभाव से अपना मित्रपक्ष ले और शुत्रुओं का अनिष्ट करे, उसी प्रकार, दैत्यों का वध देवताओं के लिए क्यों किया ? आप मेरे इस भ्रम को दूर कीजिए।'

शुकदेवजी ने कहा—'परीक्षित ! वास्तव में भगवान निर्गुण, अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृति से परे हैं। ऐसा होने पर भी अपनी माया के गुणों को स्वीकार करके वे अनेक रूपों को ग्रहण करते हैं। सत्व, रज और तम–ये तीन गुण प्रकृति के हैं; परमात्मा के नहीं। परमेश्वर सभी शरीरों में रहते हैं, अलग नहीं जान पड़ते। पर विचारशील पुरुष अपने हृदय में ही परमात्मा प्राप्त कर लेते हैं। जब परमेश्वर अपने लिए शरीरों की सृष्टि करना चाहता है, तब वह अपनी माया से रजोगुण की अलग सृष्टि करता है। परमेश्वर सत्यसंकल्प है। यह कालस्वरूप परमेश्वर सत्वगुण की वृद्धि करता है, तब सत्वमय देवताओं का बल बढ़ाता है और तभी देवविरोधी रजोगुणी एवं तमोगुणी दैत्यों का संहार करता है। वस्तुतः परमेश्वर सम ही है।

राजन् ! इस विषय का देवर्षि नारद ने एक इतिहास कहा था। राजसूय-यज्ञ में महाराजा युधिष्ठिर ने एक बार एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना देखी। उन्होंने देखा कि उनके सामने ही चेदिराज शिशुपाल सबके देखते-देखते भगवान श्रीकृष्ण में विलीन

हो गया। यह देखकर युधिष्ठिर ने देवर्षि नारद से पूछा—'देवर्षे ! भगवान में लीन हो जाना तो बड़े-बड़े अनन्य भक्तों के लिए भी दुर्लभ है, फिर भगवान से द्वेष करनेवाले शिशुपाल को यह गति कैसे मिली ? पूर्वकाल में भगवान की निन्दा करने के कारण ऋषियों ने राजा वेन को नरक में डाल दिया था; किंतु यह दमघोष का लड़का पापात्मा शिशुपाल और दुर्बुद्धि दन्तवक्त्र—दोनों ही जब से तुतलाकर बोलने लगे, तभी से अबतक भगवान से द्वेष ही करते रहे हैं। अभी जो ये दोनों सबके सामने भगवान में अनायास ही लीन हो गये, इसका क्या कारण है ? आप तो सर्वज्ञ हैं, अतः इस अद्भुत घटना का रहस्य कृपाकर समझाइए।'

देवर्षि नारद ने सभा में युधिष्ठिर को उत्तर देते हुए कहा—'धर्मराज ! निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार इस शरीर के ही होते हैं। शरीर की कल्पना प्रकृति और पुरुष का ठीक-ठीक विवेक न होने के कारण ही हुई है। जब इस शरीर को अपना आत्मा मान लिया जाता है, तब 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसी भावना बन जाती है। यही सारी भेदबुद्धि का मूल है। भगवान में तो जीवों के समान इस प्रकार का अभिमान है ही नहीं, क्योंकि वे सर्वात्मा और अद्वितीय हैं। वे जो दूसरों को दण्ड देते हैं, वह भी उनके कल्याण के लिए ही। तब भगवान के सम्बन्ध में प्रतिहिंसा की कल्पना की ही कैसे जा सकती है ? इसलिए चाहे सुदृढ़ वैरभाव से हो या भक्तिभाव, भय, स्नेह या कामना से हो—कैसे भी हो, भगवान में अपना मन पूर्णतया लगा देना चाहिए। भगवान की दृष्टि से इन भावों में कोई भेद नहीं है। युधिष्ठिर ! मेरा तो ऐसा दृढ़ निश्चय है कि मनुष्य वैरभाव से भगवान में जितना तन्मय हो जाता है उतना भक्तियोग से नहीं होता। वैर करनेवाले भी भगवान का चिंतन करते-करते पापरहित होकर भगवान के समीप गये। एक नहीं, अनेकों मनुष्यों ने काम,

द्वेष, भय और स्नेह से अपने मन को भगवान में लगाकर एवं अपने सारे पाप धोकर उसी प्रकार भगवान को प्राप्त किया है, जैसे भक्तों ने भक्ति से। महाराज! गोपियों ने प्रेम से, कंस ने भय से, शिशुपाल, दन्तवक्त्र आदि राजाओं ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवार के सम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से अपने मन को भगवान में लगाया है। वेन ने तो किसी भी प्रकार भगवान में मन नहीं लगाया था। सारांश यह है कि जैसे भी हो, भगवान श्रीकृष्ण में अपना मन तन्मय कर देना चाहिए।

'शिशुपाल और दन्तवक्त्र दोनों ही भगवान विष्णु के मुख्य पार्षद थे। एक दिन सनकादि ऋषि तीनों लोकों का विचरण करते हुए वैकुण्ठ जा पहुँचे। उन्हें साधारण बालक समझ कर द्वारपालों ने भीतर जाने से रोक दिया। इसपर उन्हें क्रोध आ गया और द्वारपालों को उन्होंने शाप दे दिया कि 'तुम यहाँ से पापमयी असुर-योनियों में जाओ।' जब वे वैकुण्ठ से नीचे गिरने लगे, तब उन कृपालु महात्माओं ने कहा—'अच्छा, तीन जन्मों में इस शाप को भोगकर तुम लोग इसी वैकुण्ठ में पुनः आ जाना।' युधिष्ठिर! वे ही दोनों दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए। विष्णु भगवान ने नृसिंह का रूप धारण कर हिरण्यकशिपु को और वाराहावतार ग्रहण कर हिरण्याक्ष को मारा। हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को, भगवद्भक्त होने के कारण, बहुतसी यातनाएं दीं; परन्तु प्रह्लाद समदर्शी हो चुके थे, भगवान के प्रभाव से वे सुरक्षित थे। अतः उन्हें मार डालने के हिरण्यकशिपु के सब प्रयत्न व्यर्थ गये।

दूसरे जन्म में वे दोनों ही पार्षद रावण और कुम्भकर्ण नाम से महाबली राक्षस हुए। भगवान ने रामावतार धारण कर उनका वध किया। वे ही जय-विजय तीसरे जन्म में शिशुपाल और दंतव-

क्त्र के रूप में उत्पन्न हुए थे। भगवान श्रीकृष्ण के चक्र का स्पर्श होने से उनके सारे पाप नष्ट हो गए और वे सनकादि के शाप से मुक्त होकर स्वधाम को चले गये। वैरभाव के कारण निरन्तर वे भगवान श्रीकृष्ण का ही चिन्तन किया करते थे, अतः भगवान के पार्षद होकर वे पुनः उन्हीं के समीप चले गये।

'युधिष्ठिर ! जब भगवान ने वाराहावतार धारणकर हिरण्याक्ष को मार डाला, तब हिरण्यकशिपु क्रोध से जल-भुन गया और अपने सेनापतियों को सम्बोधित कर उसने कहा—'दैत्यो और दानवो ! मेरे शत्रुओं ने मेरे परमहितैषी प्यारे भाई को विष्णु से मरवा डाला है। यह विष्णु पहले तो बड़ा ही शुद्ध और निष्पक्ष था ; किन्तु अब वह अपने स्वभाव से च्युत हो गया है। अनुनय-विनय कर देवताओं ने उसे अपने पक्ष में कर लिया है। जब मैं अपने इस शूल से उसका गला काटकर अपने भाई की मृत्यु का प्रतिशोध लूँगा, तभी मेरे हृदय की पीड़ा शांत होगी। तुम लोग इसी समय जाओ। वहाँ जो लोग तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और दानादि कर्म कर रहे हो, उन सबको मार डालो। यज्ञ और धर्म विष्णु की जड़ है—इन्हें नष्ट कर दो।'

'दैत्यों ने हिरण्यकशिपु की आज्ञा शिरोधार्य की और वे धर्मभीरू जनता का नाश करने लगे। उन्होंने ऋषियों के आश्रम जला डाले और निरीह प्रजा का बड़ा ही उत्पीड़न किया। भाई की मृत्यु से हिरण्यकशिपु को भारी दुःख था। उसने पहले अपनी माता दिति को देश-काल के अनुसार मधुरवाणी से इस प्रकार समझाया—'माँ ! तुम्हें वीर हिरण्याक्ष के लिए किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिए। वीरों की ऐसी ही मृत्यु प्रशंसनीय है। जैसे प्याऊ पर बहुत-से लोग इकट्ठे हो जाते हैं; पर उनका मिलना-जुलना थोड़ी ही देर के लिए होता है, वैसे ही अपने कर्मों के फेर से दैववश जीव भी मिलते-बिछुड़ते हैं। वास्तव में आत्मा

नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ और देह-इन्द्रियों आदि से पृथक् है। उसका स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीररहित आत्मा को शरीर समझ लेना अज्ञान है। जन्म, मृत्यु, शोक, अविवेक, चिन्ता आदि का कारण यह अज्ञान ही है। इस विषय में महात्मा लोग एक प्राचीन इतिहास कहते हैं, उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ—

उशीनर देश में एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका नाम सुयज्ञ था। लड़ाई में शत्रुओं ने उसे मार डाला। रानियों को अपने पतिदेव उशीनर की यह दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। उनके विलाप से सबके हृदय फटे जा रहे थे। राजा के संबंधियों का विलाप सुनकर स्वयं यमराज एक बालक के वेश में वहाँ पहुँचे और उन लोगों से उन्होंने कहा—'यह मनुष्य जहाँ से आया था वहीं चला गया। तुम लोगों को भी एक-न-एक दिन वहीं पर जाना है, फिर झूठमूठ इतना शोक क्यों कर रहे हो? सभी प्राणियों की मृत्यु अपने पूर्वजन्मों की कर्मवासना के अनुसार समय पर होनी है। उसीके अनुसार उनका पुनर्जन्म भी होता है। जिसके लिए तुम सब शोक कर रहे हो, वह सुयज्ञ नाम का शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा ही है। इसमें जो सुननेवाला और बोलने वाला था वह तो कभी किसी को दिखाई नहीं पड़ता था। फिर आज भी दिखाई नहीं दे रहा है, तब यह शोक किसके लिए? शरीर में जो महाप्राण है वह भी बोलने या सुनानेवाला नहीं। देह-इन्द्रियों के द्वारा सब पदार्थों का द्रष्टा जो आत्मा है, वह शरीर और प्राण से पृथक् है। इसलिए शरीर और आत्मा का तत्व जाननेवाले पुरुष न तो अनित्य शरीर के लिए शोक करते हैं और न नित्य आत्मा के लिए ही। ज्ञान की दृढ़ता न होने के कारण जो लोग शोक करते हैं, उनका स्वभाव बदलना बहुत कठिन है। किसी जंगल में एक बहेलिया रहता था। विधाता ने मानो उसे पक्षियों के

कालरूप में ही रच रक्खा था। वह जाल फैलाकर चिड़ियों को फँसा लेता और उनका संहार करता। एक दिन उसने कुलिंग पक्षी के एक जोड़े को चारा चुगते हुए देखा और मादा पक्षी को जाल में फँसा लिया। नर पक्षी को अपनी पक्षिणी की विपत्ति देखकर भारी शोक हुआ और वह बहुत विलाप करने लगा। काल की प्रेरणा से बहेलिये ने ऐसा बाण मारा कि वह वहीं लोट गया। तुम सबों की भी यही दशा होनेवाली है।'

उस बालक की ऐसी ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर उस राजा के भाई-बन्धु व रानियों ने यह बात समझ ली कि यह संसार और इसके सुख-दुःख अनित्य और मिथ्या हैं। इसलिए मां, तुम भी अपने मृत पुत्र के लिए शोक मत करो।'

युधिष्ठिर। अब हरिण्यकशिपु ने यह विचार किया कि मैं, अजेय, अजर-अमर और संसार का एकछत्र सम्राट् बन जाऊँ। इस अभिलाषा से वह मन्दराचल की एक घाटी में जाकर अत्यन्त दारुण तप करने लगा। बहुत दिनों तक तपस्या करने से उसका प्रभाव चारों ओर फैलने लगा। सारे लोक उसके तप से प्रभावित होने लगे। हिरण्यकशिपु के तप से स्वर्ग के देवता भी चिन्तित हो उठे और घबड़ा कर ब्रह्माजी के पास जा, उन्होंने प्रार्थना की--हे जगत्पते! हम लो हरण्यकशिपु के तप से चिन्तित हैं। वह किसी अभिप्राय से यह घोर तपस्या कर रहा है? जैसे आपने अपने तप और योग के प्रभाव से सत्यलोक को प्राप्त किया है, वह भी क्या उग्र तप और योग के द्वारा वही पद प्राप्त करना चाहता है? हमें भय है, तपस्या की शक्ति से वह पाप-पुण्यादि के नियमों को पलटकर इस संसार में ऐसा उलट-फेर कर देगा, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। हमने सुना है कि ऐसा हठ करके ही वह घोर तप कर रहा है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं अब आप जैसा भी उचित समझें, वैसा करें।

'युधिष्ठिर! जब देवताओं ने ब्रह्माजी से इस प्रकार कहा, तब वे महर्षि भृगु और दक्ष आदि प्रजापतियों के साथ हिरण्यकशिपु के आश्रम पर गये। वहाँ उन्होंने हिरण्यकशिपु से कहा—'बेटा हिरण्यकशिपु! तुम्हारा कल्याण हो। कश्यपनन्दन! अब तुम्हारी तपस्या पूर्ण हो चुकी है, मैं तुम्हें वर देने के लिए आया हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो। ऐसी कठिन तपस्या न तो पहले किसी ऋषि ने की थी और न आगे ही किसी के करने की संभावना है।'

ब्रह्माजी को देखकर हिरण्यकशिपु को बड़ा ही आनन्द हुआ। उसने उनका अभिनन्दन करके कहा—'प्रभो! आप ही अपने त्रिगुणमय रूप से सृष्टि की रचना, रक्षा और संहार करते हैं। आप सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के आश्रय हैं। आप ही सबसे परे और महान से भी महान हैं; आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, अपार और अन्तर्यामी हैं, आप ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, अजन्मा और सबके जीवनदाता अन्तरात्मा हैं। आप स्वयं ब्रह्म हैं और अपने अनन्त, अव्यक्त स्वरूप से सारे जगत में व्याप्त हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। यदि आप मुझे अभीष्ट वर देना चाहते हैं तो ऐसा वर दीजिये कि मनुष्य, पशु, देवता, दैत्य, नाग–किसी से भी मेरी मृत्यु न हो। भीतर, बाहर, दिन में, रात्रि में, किसी जीव से, अस्त्र-शस्त्र से, पृथिवी या आकाश में कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्ध में कोई मेरा सामना न कर सके।'

युधिष्ठिर! जब हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी से ये वर माँगे, तब उन्होंने, उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर, वे वर उसे दे दिये। ब्रह्माजी से वर प्राप्त कर लेने के बाद अपने भाई की मृत्यु की याद कर, वह भगवान विष्णु से द्वेष करने लगा। उस महादैत्य ने सभी लोकों और राजाओं को अपने अधीन कर लिया और सम्राट् बन-

कर स्वच्छन्द आचरण करने लगा। वह इतना कठोर था कि उसके भय से सारे देव-दानव उसके चरणों की वन्दना किया करते और जो-कुछ वह चाहता सभी उसे ला देते। अब वह ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो, शास्त्रों की मर्यादा का भी उल्लंघन करने लगा। उसके कठोर शासन से सब व्याकुल हो गये। अन्त में निराश हो, सब देवताओं ने भगवान की शरण ली और सब उनकी आराधना करने लगे। एक दिन देवताओं ने आकाशवाणी सुनी—'देवताओ, तुम सब लोगों का कल्याण हो। इस नीच दैत्य की दुष्टता का मुझे पहले से ही पता है। कुछ दिनों तक समय की प्रतीक्षा करो। कोई भी प्राणी जब धर्म से और मुझसे द्वेष करने लगता है, तब शीघ्र ही उसका विनाश हो जाता है। जब यह अपने पुत्र प्रह्लाद से द्वेष करेगा, तब इसे मैं अवश्य मार डालूँगा।'

प्रह्लाद-चरित और नृसिंहावतार

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपु के चार पुत्र थे। उनमें यों तो प्रह्लाद सबसे छोटा था; पर गुणों में वह सबसे बड़ा था। वह बड़ा तपस्वी, संतोषी, सत्यप्रतिज्ञ और प्राणियों का सच्चा हितैषी था। उसके मन में किसी भी वस्तु की लालसा नहीं थी। इन्द्रिय, प्राण, शरीर और मन उसके वश में थे। जन्म से असुर होने पर भी उसमें आसुरी वृत्ति का लेश भी नहीं था। प्रह्लाद बचपन में ही भगवान के ध्यान में तन्मय हो जाया करता। श्रीहरि के चरणकमलों में ऐसी भक्ति महात्माओं के संग से ही प्राप्त होती है। प्रह्लाद ऊँची कोटि का महात्मा था। हिरण्यकशिपु ऐसे साधु पुत्र को भी अपराधी बतला कर उनका अनिष्ट करने का प्रयत्न करने लगा।

युधिष्ठिर! दैत्यों ने महर्षि शुक्राचार्य को अपना पुरोहित बनाया था। उनके दो पुत्र—शण्ड और अमर्क थे। वे दोनों

प्रह्लाद और दूसरे दैत्य-बालकों को पढ़ाया करते थे। एक दिन हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को बड़े प्रेम से गोद में लेकर पूछा—'बेटा! तुम्हें कौन-कौन-सी बात अच्छी लगती है? प्रह्लाद ने कहा—'पिताजी! मैं चाहता हूँ कि संसार के प्राणी, अपने अधःपतन के मूल कारण, घर को छोड़कर वन में चले जायं और भगवान श्रीहरि की शरण ग्रहण करें।'

प्रह्लाद के मुख से शत्रुपक्ष की प्रशंसा सुनकर हिरण्यकशिपु हँस पड़ा। उसने कहा—'दूसरों के बहकाने से बच्चों की बुद्धि बिगड़ जाया करती है। इसलिए इस बालक की भली-भाँति देख-रेख रखी जाय, जिससे कि अब इसकी बुद्धि बहकने न पावे।' दैत्यों ने प्रह्लाद को गुरू के घर पहुँचा दिया। तब पुरोहितों ने उनसे बड़ी मधुर वाणी से पूछा—'बेटा! देखो, झूठ न बोलना। यह तुम्हारी बुद्धि उलटी कैसे हो गई?' प्रह्लाद ने जवाब दिया—"जिन मनुष्यों की बुद्धि मोह-ग्रस्त हो रही है, उन्हीं को, भगवान की माया से, ऐसा प्रतीत होता है। यह 'मैं हूँ' और 'यह मुझसे भिन्न हैं', इस प्रकार का मिथ्या भेदभाव विपरीत बुद्धि के कारण ही होता है। वही परमात्मा यह आत्मा है और वही परमात्मा, आप लोगों के शब्दों में, मेरी बुद्धि 'बिगाड़' रहा है।' परमज्ञानी प्रह्लाद इतना कहकर चुप हो गये।

बेचारे पुरोहित डर गये। उन्होंने क्रोध से प्रह्लाद को झिड़क कर कहा—'अरे! यह हमारी कीर्ति में कलंक लगा रहा है। दैत्य-वंश के चन्दनवन में यह बबूल कहाँ से पैदा हो गया? इसकी बुद्धि ठीक करने के लिए दण्ड ही उपयुक्त होगा।' तत्पश्चात् गुरू-जी ने अनेक प्रकार से डांट-डपट कर प्रह्लाद को धमकाया और अर्थ, धर्म एवं काम सम्बन्धी शिक्षाएँ दीं। कुछ काल बाद वे उसे उसकी माँ और पिता हिरण्यकशिपु के पास ले गए। वहाँ बालक प्रह्लाद ने पिता के चरणों में प्रणाम किया। हिरण्यकशिपु

ने आशीर्वाद दिया और दोनों हाथों से उठा, हृदय से लगाकर कहा—'बेटा ! गुरुजी से तुमने जो कुछ शिक्षा प्राप्त की है, उसमें से कोई अच्छी-सी बात हमें सुनाओ ।'

प्रह्लाद ने कहा—'पिताजी ! विष्णु भगवान की भक्ति के नौ भेद हैं : भगवान के गुण-लीला-नाम आदि का श्रवण, उन्हीं का कीर्त्तन, उनके रूप-नाम आदि का स्मरण, उनके चरणों की सेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन । यदि भगवान के [illegible]त भक्ति की जाय तो मैं उसी को उत्तम अध्ययन समझता हूँ ।'

प्रह्लाद की यह बात सुनते ही क्रोध के मारे हिरण्यकशिपु के ओठ फड़कने लगे । उसने गुरुपुत्र से कहा—'अरे नीच ! तूने इस बच्चे को यह कैसी शिक्षा दी ? अवश्य ही तू हमारे शत्रुओं का आश्रित है । संसार में तुझ जैसे दुष्टों की कमी नहीं है ।'

गुरुपुत्र ने कहा—'दैत्यपति ! आपका पुत्र जो कुछ कह रहा है, वह मेरे या और किसी के बहकावे से नहीं, यह तो इसकी स्वाभाविक बुद्धि है । व्यर्थ में हमें आप दोष न दें ।'

प्रह्लाद ने फिर कहा—'पिताजी ! संसार विषय-भोग के पीछे नरक की ओर जा रहा है । गृहासक्त व्यक्तियों की बुद्धि भगवान विष्णु में नहीं लगती । जो विषयों को ही परम इष्ट समझकर मूर्खतावश गड्ढे में गिरने जा रहे हैं, उन्हें यह मालूम नहीं कि हमारे स्वार्थ और परमार्थ भगवान विष्णु ही हैं । उन्हीं की प्राप्ति से हमें समस्त पुरुषार्थ प्राप्त हो सकते हैं । जिनकी बुद्धि भगवान के चरण-कमलों का स्पर्श कर लेती है, उनके जन्म-मृत्यु का सिलसिला सर्वथा नष्ट हो जाता है ।'

हिरण्यकशिपु ने क्रोध से पागल होकर उसे गोद से नीचे पटक दिया । प्रह्लाद की बातों को वह सह नहीं सका । फिर उसने दैत्यों से कहा—'दैत्यो ! इसे यहाँ से बाहर ले जाकर तुरंत

मार डालो। देखो तो सही, जिसने इसके चाचा की हत्या की, यह नीच उसी विष्णु के चरणों की पूजा करता है। अब यह विश्वास के योग्य नहीं है। कोई दूसरा भी यदि औषधि के समान भलाई करे तो वह एक प्रकार से पुत्र ही है; पर यदि अपना पुत्र भी अहित करने लगे तो रोग के समान वह शत्रु है। अपने शरीर के किसी अंग से यदि सारे शरीर की हानि होती हो तो उसे काट डालना चाहिए। यह मेरा अहित करनेवाला है, इसलिए किसी भी उपाय से इसका अंत कर डालो।'

हिरण्यकशिपु की राजाज्ञा से दैत्य 'मारो' 'काटो' आदि चिल्ला-चिल्लाकर प्रह्लाद पर अस्त्र-प्रहार करने लगे। प्रह्लाद शांत बैठे थे और दैत्य उनके मर्मस्थानों में शूल से घाव कर रहे थे। उस समय प्रह्लाद का चित्त परमात्मा में लगा था। इसलिए उनके सारे प्रहार निष्फल हो गये। जब शूलों की मार से प्रह्लाद के शरीर पर कोई असर नहीं हुआ, तब हिरण्यकशिपु को शंका हुई और वह प्रह्लाद को मार डालने के भाँति-भाँति के उपाय सोचने लगा। उसने उन्हें बड़े-बड़े मतवाले हाथियों से कुचलवाया, विषधर सर्पों से डँसवाया, पहाड़ की चोटी पर से नीचे गिरवाया, अन्धेरी कोठरियों में बंद करा दिया और विष पिलाया। बर्फीली जगह, दहकती आग और समुद्र में बारी-बारी से डलवाया और भारी-भारी पत्थरों के नीचे दबवाया; परंतु इनसे वह अपने पुत्र निष्पाप प्रह्लाद का बाल भी बाँका न कर सका। अपनी विवशता देखकर हिरण्यकशिपु को बड़ी चिंता हुई। वह सोचने लगा—'हो-न-हो, इसमें कुछ सामर्थ्य अवश्य है। न तो यह किसी से डरता है और न इसकी मृत्यु ही होती है। इसकी शक्ति की थाह नहीं, अवश्य ही इसके विरोध से मेरी मृत्यु होगी।'

शुक्राचार्य के पुत्र शण्ड और अमर्क ने जब हिरण्यकशिपु को चिन्तित देखा तो उन्होंने एकान्त में जाकर उससे कहा—'स्वामी!

जबतक हमारे पिता शुक्राचार्य नहीं आ जाते तबतक, कहीं यह डरकर भाग न जाय, इसे पाशों से बाँध रखिये। प्रायः ऐसा होता है कि अवस्था की वृद्धि और गुरुजनों की सेवा से बुद्धि सुधर जाया करती है।'

हिरण्यकशिपु ने कहा—'ठीक है। इसे उन धर्मों का उपदेश करना चाहिये, जिनका पालन गृहस्थ नरपति किया करते हैं।'

पुरोहित प्रह्लाद को ले जाकर धर्म, अर्थ और काम—इन पुरुषार्थों की शिक्षा देने लगे। प्रह्लाद वहाँ अत्यन्त नम्र सेवक की भाँति रहते; परन्तु उनकी यह शिक्षा उन्हें अच्छी नहीं लगती। वे परम ज्ञानी थे। बहुधा वे सहपाठी बालकों को अपने पास बुला लेते और मधुर वाणी से हँसते हुए उन्हें उपदेश करने लगते। वे भी अभी बालक ही थे और उनकी बुद्धि अभी दूषित नहीं हो पाई थी; अतः प्रह्लाद के उपदेश को वे मन लगाकर बड़े प्रेम से सुनते और उनके प्रति आदर होने के कारण एकाग्रता से उनकी ओर देखने लगते।

प्रह्लाद उनसे कहते—'मित्रो! संसार में मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। इसी के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पता नहीं कब इस शरीर का अन्त हो जाय! इसलिए बुद्धिमान पुरुष को बुढ़ापे या जवानी के भरोसे न रहकर बचपन से ही भगवत्-प्राप्ति करानेवाले साधनों का अनुष्ठान करना चाहिए। इस मनुष्य-जन्म में भगवान के चरणों की शरण लेना ही जीवन की एकमात्र सार्थकता है। भगवान समस्त प्राणियों के स्वामी और आत्मा हैं। जीव चाहे जिस योनि में रहे, प्रारब्ध के अनुसार, सर्वत्र उसे दुःख ही मिलता है! इसलिए जो सांसारिक सुख के उद्देश्य से कर्म करते हैं, उन्हें भगवान के चरणकमलों की प्राप्ति नहीं होती। हमारे सिर पर अनेक प्रकार के भय सवार रहते हैं। इसलिए इस शरीर के रोगग्रस्त और शोकाकुल होकर

मृत्यु के मुख में जाने के पहले, बुद्धिमान मनुष्य को अपने कल्याण के लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए। मनुष्य की आयु का आधा भाग तो रात में सोते रहने में ही बीत जाता है, बचपन में उसे अपने हित-अनहित का ज्ञान नहीं रहता और कुछ बड़े होने पर, कुमार-अवस्था में, वह खेल-कूद में लगा रहता है। इस प्रकार बीस वर्षों के बीत जाने का तो उसे पता ही नहीं चलता। जब बुढ़ापा शरीर पर काबू कर लेता है, तब अन्त के बीस वर्षों में कुछ करने-धरने की शक्ति ही नहीं रह जाती। बीच की कुछ थोड़ी-सी आयु में कभी न पूरी होनेवाली बड़ी-बड़ी कामनायें, घर का मोह, ममता और आसक्ति जोर मारती रहती है। जीव इन सब में इतना अधिक उलझ-सा जाता है कि कर्तव्याकर्तव्य का उसे कुछ ज्ञान ही नहीं रहता और इस प्रकार बची-खुची आयु भी हाथ से निकल जाती है। ऐसा कौन होगा, जो घर-गृहस्थी में आसक्त रहते हुए भी, इन्द्रियों को वश किये बिना, अपने आपको छुड़ाने का साहस कर सके ? जो स्त्री और भाई-बन्धु के प्रेम में बँध चुका है, उनसे वह कैसे छूट सकता है ? जिसकी भोग-वासनाएं कभी तृप्त नहीं होतीं, जो लोभवश कर्म-पर-कर्म करता हुआ, रेशम के कीड़े की तरह, अपने आप को और भी कठोर बन्धन में जकड़ता जा रहा है, और जिसके मोह की कोई सीमा ही नहीं, वह उनसे किस प्रकार विरक्त होकर उनका त्याग कर सकता है ? यह मेरा कुटुम्ब है, इस भाव से उसमें वह इतना अधिक रम जाता है कि उसी के पालन-पोषण में वह अपनी अमूल्य आयु को गँवा देता है। उसे इतना भी नहीं जान पड़ता कि उसके जीवन का सच्चा उद्देश्य योंही नष्ट हो रहा है। भला, इस प्रमाद की भी कोई सीमा है ? यदि इन कामों में उसे सुख मिले तो भी एक बात है, परन्तु जहाँ-जहाँ वह जाता है, दैहिक, दैविक और भौतिक ताप उसके हृदय को जलाते रहते हैं, फिर भी उसे वैराग्य नहीं होता।

कुटुम्ब की ममता के फेर में पड़कर वह इतना असावधान हो जाता है कि दूसरे का धन चुराने के दोषों को जानता हुआ भी चोरी कर ही बैठता है। जो इस प्रकार अपने कुटुम्बियों के पेट पालने में ही लगा रहता है, कभी भगवद्-भजन नहीं करता, वह विद्वान हो, तो भी उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए तुम लोग इन विषयासक्त दैत्यों का कुसंग छोड़ दो और आदिदेव नारायण की शरण पकड़ लो। भगवान को प्रसन्न करने के लिए बहुत परिश्रम या अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वे समस्त प्राणियों के आत्मा हैं और सर्वत्र सबकी सत्ता के रूप में स्वयं-सिद्ध वस्तु हैं। ब्रह्मा से लेकर तिनके तक समस्त प्राणियों, पंचभूतों, और प्रकृत्ति में एक ही अविनाशी अन्तर्यामी परमात्मा स्थित है। वस्तुतः उनमें एक भी विकल्प नहीं है। वे केवल अनुभवगम्य, आनन्दस्वरूप परमेश्वर ही हैं। इसलिए तुम लोग अपने आसुरी स्वभाव का त्याग कर समस्त प्राणियों पर दया करो, इसीसे भगवान प्रसन्न होते हैं। भगवान के प्रसन्न हो जाने पर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सुलभ नहीं हो जाती? जब हम भगवान के चरणामृत का सेवन और उनके नाम और गुणों का कीर्तन करने में लगे हैं, तब हमें मोक्षपद की भी क्या आवश्यकता? यह निर्मल ज्ञान, जो मैंने तुम लोगों को बतलाया है, उन सबको सुलभ हो सकता है, जिन्होंने भगवान के भक्तों के चरणकमलों की धूलि से अपने आप को नहला लिया है। इस परम ज्ञान को मैंने पहले-पहले देवर्षि नारद के श्रीमुख से सुना था।'

दैत्य-बालकों की इस शंका पर कि नारदजी से आपका किस प्रकार समागम हुआ, प्रह्लाद ने कहा—'जब मेरे पिताजी तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर चले गये, तब देवताओं ने दानवों से युद्ध करने की बहुत बड़ी योजना बनाई। देवताओं की इस भारी तैयारी का पता लगते ही दैत्य-सेनापतियों का साहस जाता रहा।

प्राणभय से वे इधर-उधर भाग गये। देवताओं ने हमारे राजमहल में लूट-खसोट मचा दी और मेरी माता 'कयाधु' को भी बन्दी बना लिया। दैववश देवर्षि नारद उधर से आ निकले। उन्होंने मेरी माँ को उस दयनीय अवस्था में देखकर इन्द्र से कहा—'देवराज! यह सर्वथा निरपराध है। इस सती-साध्वी नारी का तिरस्कार मत करो, इसे तुरंत छोड़ दो।' इन्द्र ने कहा—'इसके गर्भ में दुष्ट दानव-सन्तान है। बालक हो जाने पर उसे मारकर मैं इसे छोड़ दूँगा।' नारदजी ने इन्द्र को आश्वस्त करते हुए कहा—'नहीं, इसके गर्भ में भगवान का परम भक्त एक निष्पाप महात्मा है। तुममें उसे मारने की शक्ति नहीं है।'

तब इन्द्र ने मेरी माता को बंदीगृह से मुक्त कर दिया। देवर्षि नारद मेरी माता को अपने आश्रम में ले गये और उसे समझा-बुझाकर कहा—'बेटी! जबतक तुम्हारा पति तपस्या करके न लौटे, तबतक तुम यहीं मेरे आश्रम में रहो।' मेरी माँ निर्भयतापूर्वक देवर्षि नारद के आश्रम में रहने लगी। जबतक मेरे पिता घोर तपस्या से लौट कर नहीं आये, वह वहीं रही। देवर्षि नारद बड़े दयालु और सर्वसमर्थ हैं। उन्होंने मेरी मां को भागवतधर्म और विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दिया। बहुत समय बीत जाने पर मेरी माता को तो वह ज्ञान स्मरण नहीं रहा; परन्तु देवर्षि की विशेष कृपा से मुझे उसकी याद बनी रही। श्रद्धापूर्वक तुम लोग भी उस ज्ञान को प्राप्त कर सकते हो, श्रद्धा से बालकों की बुद्धि भी शुद्ध हो सकती है।

जिस किसी उपाय से भगवान में स्वाभाविक निष्काम प्रेम हो जाय, वही उपाय श्रेष्ठ है। गुरु की प्रेमपूर्वक सेवा, जो-कुछ मिले प्रेम से भगवान को समर्पित कर देना, हरिभक्ति, महात्माओं का सत्संग, भगवान की आराधना, उनकी कथा-वार्ता में श्रद्धा, प्रभु के गुणों और लीलाओं का कीर्तन, उनके चरण-कमलों का ध्यान

आदि साधनों से स्वभावतः भगवान में प्रेम हो जाता है। भगवान समस्त प्राणियों में स्थित हैं, ऐसी भावना से मनुष्य को यथाशक्ति समस्त प्राणियों की इच्छा पूरी करनी चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर-इन छः भीतरी शत्रुओं को जीत कर जो लोग भगवद्भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, उन्हें भगवान के चरणों में अनन्य प्रेम प्राप्त हो जाता है। इसे ही कोई तो ब्रह्म-सुख और कोई निर्वाण-सुख के रूप में जानते हैं। कर्म में प्रवृत होने के दो ही उद्देश्य होते हैं—सुख पाना और दुःख से छूटना। पर मनुष्य इस लोक में सकाम कर्मों के द्वारा जिस शरीर के लिए सुख चाहता है, वह तो अनित्य और नाशवान है। इसलिए निष्काम भाव से श्रीहरि का ही भजन करना चाहिए। वे मात्र निष्काम भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं।'

प्रह्लाद का यह हितकर प्रवचन सुन लेने के बाद दैत्य-बालकों ने, निर्दोष बुद्धि होने के कारण, उनका उपदेश अच्छी तरह धारण कर लिया। जब गुरुजी ने देखा कि उन सारे बालकों की बुद्धि विष्णु भगवान में ही स्थिर हो रही है; तब वे बहुत ही घबड़ाये। उन्होंने सारी बातें हिरण्यकशिपु को जाकर सुना दीं। प्रह्लाद की इस अनीति को सुन कर उसने अब उन्हें अपने हाथ से ही मार डालने का निश्चय किया और गुरुकुल से वापस बुलवा लिया।

प्रह्लाद बड़ी विनम्रता से पिता के सामने आकर खड़े हो गये। हिरण्यकशिपु स्वभाव से ही अत्यन्त क्रूर था। उसने अपने पुत्र को कठोर वाणी से फटकारते हुए कहा—'मूर्ख ! तू बड़ा उद्दंड हो गया है। तूने बड़ी ढिठाई से मेरी आज्ञा का स्वयं भी उल्लंघन किया है और दूसरे बालकों की बुद्धि भी बिगाड़ रहा है। इसलिए आज ही तुझे यमराज के घर भेजता हूँ। बोल, तूने किसके बल पर मेरी आज्ञा की अवहेलना की है ?' प्रह्लाद

ने बड़ी नम्रता से कहा--'दैत्यराज ! ब्रह्मा से लेकर एक तिनके तक सब छोटे-बड़े, चर-अचर जीवों को परमेश्वर ने ही अपने वश में कर रक्खा है । न केवल मेरे और आपके, बल्कि संसार के सारे बलवानों के बल, केवल वह हैं । वही सर्वशक्तिमान 'काल' हैं तथा समस्त प्राणियों का इन्द्रिय-बल, मनोबल और देहबल भी वही हैं। परमेश्वर ही अपनी शक्तियों के द्वारा इस विश्व की रचना, रक्षा और संहार करता है। वही तीनों गुणों का स्वामी है। आप अपना यह आसुरी स्वभाव छोड़ दीजिये और सबके प्रति समभाव रखिए । इस संसार में अपने वश में न रहनेवाले कुमार्गगामी मन के सिवाय और कोई शत्रु नहीं है। मन में सबके प्रति समता का भाव लाना ही भगवान की सबसे बड़ी पूजा है। जो अपने मन के भीतर रहनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के पहले ही ऐसा मानने लगते हैं कि उन्होंने दसों दिशाओं को जीत लिया है--वे बड़े मूर्ख हैं। हां, जिस ज्ञानी महात्मा ने समस्त प्राणियों के प्रति समता का भाव प्राप्त कर लिया है, उसके भीतर रहनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं, फिर बाहर के शत्रु कैसे रह सकते हैं ?'

हिरण्यकशिपु गरज कर बोला--'रे मन्दबुद्धि ! हद हो गई। स्पष्ट है, अब तू मरना ही चाहता है। दुष्ट ! तूने मेरे सिवा जो किसी और को जगत का स्वामी बतलाया है, सो देखूं तो तेरा वह जगदीश्वर कहां है ! अच्छा, क्या वह सर्वत्र है ? तो वह इस खम्भे में क्यों नहीं दीखता ? मैं अभी-अभी तेरा सिर धड़ से अलग किये देता हूँ। देखता हूँ, तेरा वह सर्वस्व हरि, जिसपर तुझे इतना भरोसा है, तेरी कैसे रक्षा करता है।'

वह महादैत्य अब अपने क्रोध को न रोक सका। उसने हाथ में खड्ग ले लिया और बड़े जोर से एक घूसा उस खंभे पर मारा।

उस खम्भे से एक भयंकर शब्द हुआ। हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को मार डालने के लिए तत्पर ही था कि उस अद्‌भुत शब्द को सुनकर चौकन्ना हो, देखने लगा कि शब्द करनेवाला कौन है! इसी समय, अपने सेवक प्रह्लाद और ब्रह्मा की वाणी सत्य करने और समस्त पदार्थों में अपनी व्यापकता दिखाने के लिए, सभा के भीतर उसी खम्भे से, बड़ा ही अद्‌भुत रूप धारण किये भगवान प्रकट हुए। उनका वह रूप न तो पूरा सिंह का ही था, न पूरे मनुष्य का। वे अत्यधिक भयावने दीखते थे। उनकी डरावनी आँखें और दाढ़ें बड़ी विकराल थीं। तलवार की तरह लपलपाती और छुरे की धार से भी तीखी उनकी जीभ थी। उनके बड़े-बड़े नख आयुध के समान जान पड़ते थे। उनके पास तक फटकने का किसी को साहस नहीं पड़ रहा था।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने उस अद्‌भुत प्राणी को देखा और हाथ में गदा लेकर सिंहनाद करता हुआ वह भगवान नृसिंह पर टूट पड़ा; पर प्रहार करते समय ही, जैसे गरुड़ साँप को पकड़ लेते हैं, वैसे ही भगवान ने गदा सहित उस दैत्य को पकड़ लिया। जिस हिरण्यकशिपु के चमड़े पर वज्र की चोट से भी खरौंच नहीं आई थी, वही अब उनके पंजे से निकलने के लिए छटपटा रहा था। भगवान ने सभा के दरवाजे पर ले जाकर उसे अपनी जाँघों पर गिरा लिया और खेल-खेल में अपने नखों से उसी प्रकार फाड़ डाला, जैसे गरुड़ महाविषधर साँप को चीर डालते हैं। जिस प्रकार पतंगा आग में गिरकर अदृश्य हो जाता है, वैसे ही वह दैत्यराज भगवान के तेज में विलीन हो गया।

युधिष्ठिर! उस समय भगवान नृसिंह के अत्यन्त तेजस्वी और क्रोध से भरे भयंकर चेहरे को देखकर किसी का भी उनके पास जाने का साहस नहीं हुआ। जब स्वर्ग की देवियों को यह शुभ समाचार मिला कि हिरण्यकशिपु भगवान के हाथों मारा

गया, तब उनके मुख खिल उठे। वे बार-बार भगवान की जयध्वनि करने लगीं। इसी समय ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि देवता वहाँ पहुँचे। उन्होंने नृसिंह भगवान की थोड़ी दूर से स्तुति कि —

'हे अनन्त! आपकी शक्ति का कोई अंत नहीं पा सकता। आपके पराक्रम विचित्र और कर्म पवित्र हैं। भगवन्! आपके क्रोध करने का समय तो कल्प के अन्त में आता है। यदि इस तुच्छ दैत्य को मारने के लिए ही आपने क्रोध किया है तो वह भी तो मारा जा चुका। इसका पुत्र आपका शरणागत है। आप अपने इस भक्त बालक की रक्षा कीजिए। पुरुषोत्तम! दैत्यों के आतंक से संकुचित हमारे हृदयकमल को आपने प्रफुल्लित कर दिया है; पर वह भी तो आपका ही निवास-स्थान है? शरणागतवत्सल! इस महान दैत्य ने तप और धर्म का उच्छेद कर देना चाहा था। उनकी रक्षा के लिए आपने यह अवतार लेकर फिर से धर्म और तप का अनुमोदन किया है। समस्त धर्मों के एकमात्र रक्षक आप ही हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं। प्रभो! इस दुष्ट ने अपने योग और तप से हमारी योग-गति को छीन लिया था। यह अपने बल और वीरता के गर्व में चूर था। आपने इसे यज्ञ-पशु की तरह नष्ट कर दिया। प्रभो! आपका यह अवतार संसार के कल्याण के लिए है। सच है, कुमार्ग पर चलनेवाले का भी कभी क्या कल्याण हो सकता है? हम आपके उन चरणकमलों की शरण में हैं, जिनके प्राप्त होते ही जन्म-मृत्यु-रूपी चक्र से छुटकारा मिल जाता है। जब इसने सत्पुरुषों का तिरस्कार किया, तभी आज आपने इस असुराधम को नष्ट कर दिया।'

भगवान के पार्षदों ने कहा—'शरणागतवत्सल! सम्पूर्ण लोकों को शान्ति देनेवाला आपका यह अलौकिक नृसिंह-रूप हमने आज ही देखा है। भगवन्! यह दैत्य आपका वही आज्ञाकारी सेवक था, जिसे सनकादि ने शाप दे दिया था। हम तो समझते

हैं कि आपने कृपा करके इसके उद्धार के लिए इसका वध किया है।'

नारदजी कहते हैं— 'इस प्रकार स्तुति करने के बाद भी जब ब्रह्मा, शंकर आदि देवगण नृसिंह भगवान के क्रोधावेश को शान्त न कर सके और न उसके पास तक ही जा सके, तब देवताओं ने उन्हें शान्त करने के लिए स्वयं लक्ष्मी को भेजा। जब नृसिंह भगवान का यह अद्भुत रूप देखकर वे भी भयवश उनके पास तक न जा सकीं तब ब्रह्माजी ने प्रह्लाद को भेजा। भगवान के परम प्रेमी प्रह्लाद ने धीरे से भगवान के पास जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। नृसिंह भगवान ने देखा कि एक नन्हा-सा बालक चरणों में पड़ा है तो वे द्रवित हो गये। प्रह्लाद को उठाकर उनके सिर पर उन्होंने अपना कर-कमल रख दिया। इससे प्रह्लाद के बचे-खुचे अशुभ संस्कार भी दूर हो गए। प्रह्लाद ने बड़े प्रेम और आनन्द से भगवान के चरणकमलों को अपने हृदय में धारण कर लिया। फिर एकाग्र चित्त से स्तुति करने लगे—

'देवाधिदेव ! ब्रह्मा, शिव आदि देवता और सिद्ध पुरुषों की बुद्धि यद्यपि निरन्तर सत्वगुण में ही स्थित रहती है, फिर भी वे स्तुतियों से आपको सन्तुष्ट नहीं कर सके। मैंने तो घोर असुरकुल में जन्म लिया है। आप मुझसे क्या सन्तुष्ट हो सकते हैं ? मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग ये सभी गुण परम पुरुष भगवान को प्रसन्न करने में सर्वथा समर्थ नहीं होते ; परन्तु भक्ति से तो भगवान गजेन्द्र पर भी सन्तुष्ट हो गये थे। प्रभो ! आप अपने स्वरूप के साक्षात्कार से ही परिपूर्ण हैं। आपको यद्यपि क्षुद्र पुरुषों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी आप भक्तों के संतोष के लिए ही उनकी पूजा स्वीकार कर लेते हैं। आप विविध अवतार ले-लेकर जगत के कल्याण के लिए विविध प्रकार की

लीलाएं करते रहते हैं। दीनबन्धो! मैं भयभीत हूँ तो केवल संसार-चक्र में पिसने से। दयाकर हमें वह साधन बतलाइये, जिससे मैं आपकी अविरल भक्ति पा सकूँ। ऐसा कौन मनुष्य है, जो आपसे अलग रहकर इस संसार-चक्र को पार कर जाय? मैं ब्रह्मलोक की आयु, लक्ष्मी, ऐश्वर्य और इन्द्रिय-भोगों को नहीं चाहता। मुझे तो आप अपने दासों के सान्निध्य में ले चलिये। विषय-भोग की बातें सुनने में ही अच्छी लगती हैं, असल में वे मृगतृष्णा के जल के समान नितान्त असत्य हैं। प्रभो! आपकी यह अपार कृपा है, जो अपना परम प्रसादमय और सर्व सन्तापहारी यह कर-कमल मेरे सिर पर रखा। भगवन्! संसार-रूपी अन्धकूप में मैं भी संगवश गिरने जा रहा था; परन्तु आपने कृपाकर मुझे उबार लिया। जिस समय मेरे पिता ने हाथ में खड्ग लेकर कहा—'मैं तेरा सिर काटता हूँ, यदि कोई ईश्वर है तो तुझे बचा ले'—उस समय आपने ही मेरी रक्षा की, मेरी लाज रखी।

वैकुण्ठनाथ! जीवों की बड़ी दुर्दशा है। पापवासनाओं से कलुषित होने के साथ ही हर्ष, शोक, भय, लोक-परलोक, धन, पुत्र आदि की चिन्ताओं से वे बुरी तरह व्याकुल रहते हैं। आपकी लीला-कथाओं में उन्हें रस ही नहीं मिलता। वे किस प्रकार आपका चिन्तन करें! अच्युत! जीभ मन को स्वादिष्ट वस्तुओं की ओर खींचती है, त्वचा सुकोमल स्पर्श की ओर, कान मधुर स्वर की ओर, नासिका सुगन्ध की ओर और नेत्र सौन्दर्य की ओर खींचते रहते हैं। जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म, अपना-पराया और मित्रता-शत्रुता आदि द्वन्द्वों में पड़े जीव की यह दुर्दशा देखकर दयापूर्वक इस भव-सागर से इसे पार लगा दीजिए। मैं उन प्राणियों के लिए शोक कर रहा हूँ, जो आपके गुण-कीर्तन से विमुख रहकर विषयों का झूठा सुख पाने के लिए अपने सिर पर सारे संसार का भार ढोते रहते हैं। इन भटकते हुए प्राणियों का

आपके सिवा और कोई सहारा भी नहीं दिखाई पड़ता। अज्ञानी मनुष्य बहुत दुःख भोगने पर भी विषयों से अघाते नहीं, इससे उनका नाश ही होता है। पुरुषोत्तम! जो साधन मोक्ष-प्राप्ति के लिए माने गए हैं, वे, जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, उनके लिए जीविका के साधन हैं। आपकी अनन्य सेवा-साधना के बिना आपके चरणकमलों में भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? और बिना भक्ति के आपकी प्राप्ति कैसे होगी? प्रभो! आप तो अपने प्रिय भक्तजनों, परमहंसों के ही सर्वस्व हैं। मैं आपको बारबार नमन करता हूँ।'

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार प्रह्लाद ने बड़े प्रेम से भगवान के गुणों का वर्णन किया। भगवान का क्रोध अब शान्त हो चुका था। उन्होंने बड़े प्रेम और प्रसन्नता से प्रह्लाद से कहा—'आयुष्यमन्! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे माँग लो। मेरे दर्शन से मनुष्य के हृदय में किसी प्रकार की उलझन नहीं रह जाती। मैं सभी मनोरथों को पूर्ण करनेवाला हूँ, इसलिए साधुजन मुझे ही प्रसन्न करने का यत्न करते रहते हैं।'

प्रह्लाद भगवान के अनन्य प्रेमी थे। उन्होंने वरों की इच्छा नहीं की, क्योंकि वर माँगना प्रेमपरा-भक्ति में विघ्न डालना है। अतः भगवान से उन्होंने इस प्रकार कहा—'प्रभो! आपसे जो अपनी कामनाएं पूरी कराना चाहता है वह आपका सच्चा सेवक नहीं है। मैं तो आपका निष्काम सेवक होना चाहता हूँ। यदि आप मुझे मुँह-माँगा वर देना चाहते हैं तो यही वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित न हो। हृदय में कामना अंकुरित होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य ये सबके सब नष्ट हो जाते हैं। जिस समय मनुष्य कामनाओं का परित्याग कर देता है,

उसी समय वह भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। भगवन्! आप सबके हृदय में विराजमान हैं, मैं आप श्रीहरि के चरणों में बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

नृसिंह भगवान ने कहा—'प्रह्लाद! तुम-सरीखे मेरे अनन्य भक्त इस लोक अथवा परलोक की किसी भी वस्तु के लिए कभी कोई कामना नहीं करते। फिर भी तुम इस लोक में भोग स्वीकार करो। तुम अपने हृदय में मुझे देखना, मेरी कथाएँ सुनना, समस्त कर्मों के द्वारा मेरी ही आराधना करना और इस प्रकार अपने प्रारब्ध-कर्म का क्षय कर देना। निष्काम पुण्यकर्मों के द्वारा पाप का नाश करते हुए समय आने पर शरीर का त्याग करके समस्त बन्धनों से मुक्त होकर तुम मेरे समीप आ जाओगे।'

प्रह्लाद ने हाथ जोड़ कर कहा—'महेश्वर! तो मैं आपसे एक वर माँगता हूँ। मेरे पिता ने आपकी महिमा को न जानकर आपकी बड़ी निन्दा की है। यद्यपि दृष्टि पड़ते ही वे पवित्र हो चुके हैं। फिर भी मेरी आपसे प्रार्थना है कि वे दुस्तर दोषों से शुद्ध हो जायं।'

नृसिंह भगवान ने कहा—'प्रह्लाद! तुम्हारे पिता स्वयं ही पवित्र होकर तर गये, क्योंकि तुम-सरीखा कुल को पवित्र करनेवाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ। शान्त, समदर्शी और सदाचार पालन करनेवाले मेरे भक्तजन जहाँ-जहाँ निवस करते हैं, वे स्थान पवित्र हो जाते हैं। मेरे भक्ति-भाव से जिनकी कामनाएँ नष्ट हो गई हैं, वे किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाते। तुम अपने पिता के पद पर आसीन होकर और मुझमें मन लगाकर अपना कर्त्तव्यकर्म करो।' इतना कहकर नृसिंह भगवान अन्तर्धान हो गये।

नारदजी कहते हैं—'युधिष्ठिर! प्रह्लाद ने तब ब्रह्मा, शंकर, प्रजापति और देवताओं को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। शुक्राचार्य आदि मुनियों के साथ ब्रह्माजी प्रह्लाद को दैत्यों का अधिप

बनाकर अपने-अपने लोक को चले गए।

नारदजी का युधिष्ठिर को वर्णाश्रम-धर्म का उपदेश

नारदजी से प्रह्लाद-चरित्र सुन लेने के बाद युधिष्ठिर ने उनसे वर्णाश्रम-धर्म के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की—'देवर्षे! अब मैं वर्ण और आश्रमों के साथ मनुष्यों के सामान्य धर्म का विषय सुनना चाहता हूँ। आप मुझे अनुगृहीत करें।'

नारदजी ने कहा—'युधिष्ठिर! अजन्मा परमेश्वर ही समस्त धर्मों का मूल कारण । जिससे आत्मग्लानि न होकर आत्म-प्रसाद का लाभ हो, वह कर्म ही धर्म का मूल है। धर्म के ये लक्षण शास्त्रों में कहे गए हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचित का विवेक, मन और इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शिता, महज्जनों की सेवा, विषय-भोगों से निवृत्ति, अभिमान का त्याग, मौन, आत्मचिन्तन, दान, सर्वप्राणियों में समभाव, भगवान के नाम, गुण-लीला आदि का श्रवण-कीर्तन, स्मरण, भगवत्सेवा, पूजा और वन्दन, प्रभु के प्रति दास्यभाव और आत्म-निवेदन। इन सबका आचरण ही मनुष्य का परम धर्म है।

धर्मराज! उन ब्राह्मणों को द्विज कहते हैं, जो जन्म और कर्म से शुद्ध हों और उनके लिए यज्ञ, अध्ययन, दान, ब्रह्मचर्य आदि कर्मों के विधान हैं। क्षत्रियों को दान नहीं लेना चाहिए। प्रजा की रक्षा करनेवाले क्षत्रिय का जीवन-निर्वाह, सबसे यथा योग्य कर आदि से प्राप्त धन से होता है। वैश्य को गोरक्षा, कृषि तथा व्यापार के द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिए। शूद्र की जीविका का निर्वाह उसका स्वामी करता है। शम, दम, तप, शौच, संतोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। युद्ध में उत्साह, वीरता, धीरता, तेजीस्वता, मनो-

जय, क्षमा, अनुग्रह और प्रजापालन—ये क्षत्रिय के लक्षण हैं। देवता, गुरु और भगवान में भक्ति, अर्थ, धर्म और काम इन तीनों पुरुषार्थों का रक्षण, आस्तिकता, उद्योगशीलता और व्यावहारिक निपुणता—ये वैश्य के लक्षण हैं। विनम्रता, पवित्रता, अस्तेय, सत्य तथा सबके प्रति निष्कपटभाव तथा सेवा—ये शूद्र के लक्षण हैं।

पति की सेवा, उसके अनुकूल रहना, पति के नियमों की रक्षा करना और पातिव्रत—ये स्त्रियों के उच्चकोटि के धर्म हैं। स्त्री को चाहिए, विनय, संयम, सत्य और प्रिय वचनों से पतिदेव की सेवा करे तथा कार्यों में कुशल और धर्मनिष्ठ रहे।

जो चोरी या अन्य पापकर्म नहीं करते, उन मनुष्यों के धर्म उनके लिए इस लोक और परलोक में भी कल्याणकारी हैं। जो स्वधर्म का पालन करता है, वह कर्मों से भी ऊपर उठकर गुणातीत हो जाता है। चित्त वासनाओं का स्थान है। विषयों का अत्यन्त सेवन करने से स्वयं ही यह उनसे ऊब जाता है। धर्मराज! ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर अपने गुरुदेव के चरणों में सुदृढ़ भक्ति रक्खे तथा सायं-प्रातः ईश्वरोपासना करे। गुरु के अनुशासन में रहकर स्वाध्याय में तल्लीन रहे तथा अपने शील की रक्षा करे। ब्रह्मचर्य के नियमों का कठोरता से पालन करे। ये गुण तो गृहस्थ और संन्यासी के लिए भी उपयुक्त हैं। गृहस्थी आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए भी उसी आश्रम में रहे।

वानप्रस्थ कन्द, मूल और फल आदि से ही जीवन-निर्वाह करे। वह पर्णकुटी बनाकर वन में रहे। विशेष करके प्राकृतिक अवस्था में अनशन भी उसके लिए आवश्यक है। सामर्थ्य हो तो संन्यास ले ले और पृथिवी पर निर्द्वंद्व विचरण करे।

त्याग संन्यासी का मुख्य लक्षण है। उसे चाहिए कि वह

समस्त प्राणियों का हितैषी होकर शान्त और भगवत्परायण रहे और अकेला ही विचरे। वह इस जगत में अपने आत्मा को ब्रह्मस्वरूप देखे तथा मृत्यु से न डरे। वह आजीविका के लिए वशेष प्रयत्न न करे। संसार की ओर से निस्पृह रहे। संन्यासी के लिए किसी आश्रम या धर्म का बंधन नहीं है। इस विषय में महात्मा लोग एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करते हैं। एक बार महान भागवत प्रह्लाद अपने मंत्रियों के साथ विचरण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि कावेरी नदी के किनारे एक मुनि पड़े हुए हैं। प्रह्लाद ने विधिवत् उनकी पूजा कर उनसे पूछा—'भगवन्! आपका शरीर तो उद्योगी और भोगी पुरुषों के समान हृष्ट-पुष्ट है। इसका क्या कारण है?'

वे महर्षि दत्तात्रेय थे। उन्होंने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'प्रह्लाद! तृष्णा कभी पूरी नहीं होती। तृष्णा के ही कारण जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़ता है। इसने कितनी ही योनियों में मुझे डाला। उनमें भटकते-भटकते दैववश यह मनुष्य-योनि मिली है, जो स्वर्ग और मोक्ष का द्वार है। इसमें पुण्य करे तो स्वर्ग और पाप करे तो पशु-पक्षी आदि की योनि और निवृत्त हो जाय तो मोक्ष, और दोनों प्रकार के कर्म किये जायं तो फिर मनुष्य-योनि ही प्राप्त हो सकती है। सांसारिक कर्म दुःख का कारण हैं, अतः मैं इससे अनासक्त हो गया हूँ। सुख ही आत्मा का स्वरूप है। मनुष्य को चाहिए कि जिसके कारण शोक, मोह, भय, क्रोध, रोग, श्रम आदि का शिकार होना पड़ता है, वह उस जीवन की लालसा का त्याग कर दे। इस लोक में मेरे सबसे बड़े गुरू अजगर और मधुमक्खी हैं। उनकी शिक्षा से मुझे वैराग्य और सन्तोष मिला है। मधुमक्खी मधु इकट्ठा करती है; पर दूसरा कोई उसे छीन लेता है। इससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की कि विषय-भोगों से अलग ही रहना ठीक है। मैं अजगर के समान निश्चेष्ट पड़ा

रहता हूँ और दैववश जो कुछ मिल जाता है उसीसे सन्तुष्ट रहता हूँ। न तो मैं किसीकी निन्दा करता हूँ, न स्तुति। मैं केवल परमात्मा से आत्मैक्य या तादात्म्य चाहता हूँ।'

युधिष्ठिर! मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहकर सब कर्म करता हुआ भी उन्हें भगवान के प्रीत्यर्थ समर्पित करदे। जो सुख अपनी आत्मा में रमण करनेवाले सन्तोषी मनुष्य को मिलता है, वह भला उस मनुष्य को कैसे मिल सकता है, जो कामना और लोभ के पीछे इधर-उधर दौड़ता फिरता है? जिसके मन में संतोष है, उसके लिए सदा सर्वत्र सुख-ही-सुख है, दुःख कहीं है ही नहीं। जो संतोषी नहीं है, उसका तेज, विद्या, तप और यश नष्ट हो जाते हैं। यद्यपि भूख और प्यास मिट जाने पर खाने-पीने की कामना चली जाती है तो भी यदि मनुष्य पृथिवी की समस्त दिशाओं को जीत ले, फिर भी उसके लोभ का अन्त नहीं होता। आधिभौतिक दुःख को दया के द्वारा, आधिदैवक वेदना को समाधि के द्वारा, आध्यात्मिक दुःख को योगबल से और निद्रा को सात्विक भोजन, एकान्त स्थान, सत्संग आदि से जीत लेना चाहिए। शास्त्रों के जितने भी यम-नियम-सम्बन्धी आदेश हैं, उनका एकमात्र तात्पर्य यही है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओं को जीत लिया जाय। मनुष्य अपने मन पर विजय पा कर ही संन्यास ग्रहण करे और एकान्त में रहे। वह भिक्षावृत्ति से परिमित भोजन कर, निर्वाह करे।

आठवाँ स्कन्ध

गजेन्द्र-मोक्ष

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन् ! श्रीहरि ने गजेन्द्र को ग्राह से कैसे छुड़ाया था ? यह परम मंगलमय कथा मुझे आप सुनाइए।

शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित ! क्षीरसागर में त्रिकूट नाम का एक सुन्दर पर्वत था। उसकी तराई में महात्मा वरुण का एक सुन्दर 'ऋतुमान' नामक उद्यान था। वह अगणित पुष्प-पल्लवों से सुशोभित था तथा उसके मध्य एक विशाल सरोवर भी था। उस पर्वत के जंगलों में नाना प्रकार के पशु और पक्षी निवास करते थे। वहीं बहुत-सी हथिनियों के साथ एक गजराज भी रहता था। वह बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथियों का सरदार था। एक दिन वह मत्त गजराज कड़ी धूप से व्याकुल होकर उसी सरोवर के किनारे जा पहुँचा। उसमें प्रवेश कर, पहले तो उसने प्यास बुझाई और फिर उसके निर्मल जल में स्नान कर अपनी थकान मिटाई। फिर गृहस्थों की भाँति वह प्रसन्नता से सूँड से जल के फुहारे छोड़-छोड़ कर साथ की हथिनियों और बच्चों को नहलाने लगा। किंतु उस बेचारे को यह पता नहीं था कि तत्काल ही उसके सिर पर एक बहुत बड़ी विपत्ति आनेवाली है।

इस प्रकार जब वह क्रीड़ारत था, उसी समय संयोग से, एक बलवान ग्राह ने क्रोध में भरकर उसका पैर पकड़ लिया। अकस्मात् विपत्ति में पड़ने के कारण उसने शक्तिभर अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया; परन्तु छूट न सका। यह देखकर हाथी-हथिनियों को बड़ा दुःख हुआ। बहुतों ने उसे सहायता पहुँचाकर जल से

बाहर निकाल लेना चाहा ; पर वे असफल रहे। गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े थे। अन्त में गजेन्द्र का शरीर शिथिल पड़ने लगा। बार-बार जल में खींचे जाने से उसके शरीर का बल जाता रहा और वह हतोत्साह हो गया। इधर ग्राह तो जलचर ही ठहरा। उसकी शक्ति बढ़ती ही गई। वह और भी बल लगाकर गजेन्द्र को गहरे पानी की ओर खींचने लगा। गजेन्द्र अब अपने को छुड़ाने में सब तरह से असमर्थ हो गया। थक-हारकर अब वह इस परिणाम पर पहुँचा कि 'यह ग्राह विधाता की फाँसी ही है। इसलिए अब मैं सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र आश्रय भगवान श्रीहरि की शरण लेता हूँ।'

परीक्षित ! काल बली है। यह साँप के समान सबको निगल जाने के लिए वेग से दौड़ता रहता है। इससे अति भयभीत होकर जो भगवान की शरण पकड़ लेता है, प्रभु उसे अवश्य बचा लेते हैं। ऐसा निश्चय कर गजेन्द्र भगवान की स्तुति करने लगा—

'सबके हृदय में स्थित जगत् के एकमात्र स्वामी एवं सृष्टि के मूलकारण भगवान श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूँ। सबके मूल प्रभु मेरी रक्षा करें। जिसके मंगलमय स्वरूप का दर्शन करने के लिए महात्मागण संसार की सभी आसक्तियों का त्याग कर, सबकी भलाई करते हैं तथा वनों में जाकर तपस्या और कठिन व्रतों का पालन करते हैं, वही मुनियों के हृदय-सर्वस्व परमेश्वर मेरे सहायक हों। जिसके न जन्म-कर्म हैं और न नाम-रूप, मैं उन्हीं अनन्त शक्तिवान परमात्मा को नमस्कार करता हूँ। उस स्वयं-प्रकाश और सबके साक्षी परमात्मा को, जिसे विवेकी पुरुष अपना अन्तः-करण शुद्ध करके प्राप्त करते हैं, तथा जो मन, वाणी और चित्त से अगम्य है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ। जैसे समस्त झरने-नदी आदि का अंतिम आश्रय समुद्र है, वैसे समस्त जीव अन्त में आपकी ही शरण ग्रहण करते हैं। परम-करुणामय, आप भक्तों

का कल्याण करने में कभी देर नहीं लगाते। जीवन-मुक्त पुरुष निरंतर आपका चिंतन करते हैं। मैं आप ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्रणाम करता हूं। आपकी शक्ति अनन्त है, आपकी महिमा अपार है, आप शरणागतवत्सल हैं। दीन गज हर प्रकार से आपका शरणागत हूं। प्रभो, मेरी रक्षा कीजिए।'।

परीक्षित! गजेन्द्र की इस हार्दिक प्रार्थना पर सर्वात्मा नारायण तत्काल प्रकट हो गये। उन्होंने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। नारायण को आया देख, गजेन्द्र अपनी सूंड से एक कमल का सुन्दर पुष्प ऊपर उठाकर बोला—'भगवन्! आपको मेरा नमस्कार स्वीकार हो।' भगवान गरुड़ से कूद पड़े और गजेन्द्र के साथ ही ग्राह को भी सरोवर से बाहर खींच, उन्होंने सुदर्शन चक्र से ग्राह का मुख फाड़ डाला और गजेन्द्र को छुड़ा लिया। चक्र का स्पर्श होते ही उस ग्राह को भी तत्क्षण दिव्य शरीर प्राप्त हो गया। यह ग्राह होने के पूर्व 'हू हू' नाम का एक श्रेष्ठ गंधर्व था। देवता के शाप से उसकी यह गति हुई थी। अब भगवत्कृपा से वह पापमुक्त हो गया। उसने सर्वेश्वर श्रीहरि के चरणों में प्रणाम किया और सबके देखते-देखते वह गंधर्व लोक को चला गया। गजेन्द्र भी भगवान का चरण-स्पर्श करते ही, अज्ञान-बन्धन से मुक्त हो, तदाकार हो गया।

गजेंद्र पूर्वजन्म मे इंद्रध्युम्न नाम का एक यशस्वी राजा था। वह भगवान का एक श्रेष्ठ उपासक था। राजा इंद्रध्युम्न राजपाट छोड़कर मलय-पर्वत पर रहने लगा था। उसने जटाएं बढ़ा ली थीं और तपस्वी का वेश धारण कर लिया था। एक दिन वह स्नान के बाद पूजा के समय मौनव्रत लेकर भगवान की आराधना कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से अगस्त्य मुनि अपनी शिष्यमंडली के साथ वहाँ पहुँचे। उन्होंने देखा कि यह प्रजापालन और गृहस्थोचित अतिथि-सेवा आदि धर्म का परित्याग कर तपस्वियों की तरह

एकांत में चुपचाप बैठकर उपासना कर रहा है, इससे उन्होंने क्रुद्ध होकर इंद्रद्युम्न राजा को यह शाप दिया-'राजा गुरुजनों से शिक्षा ग्रहण न कर, परोपकार से निवृत्त होकर मनमानी कर रहा है। यह हाथी के समान जड़-बुद्धि है, अतः इसे हाथी की ही योनि प्राप्त हो।'

परीक्षित! अगस्त्य ऋषि इंद्रद्युम्न को शाप देकर वहाँ से चले गए। राजर्षि ने इसे अपना प्रारब्ध का दण्ड समझकर संतोष मान लिया। शापवश उसे हाथी की योनि प्राप्त हुई। परन्तु भगवान की आराधना का ऐसा प्रभाव है कि हाथी होने पर भी इन्द्रद्युम्न को भगवान का स्मरण बना ही रहा। श्रीहरि ने उसका उद्धार कर उसे अपना पार्षद बना लिया। गजेन्द्र की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान ने उसे यह कहा था—'जो लोग रात के पिछले प्रहर--ब्रह्ममुहूर्त में, एकाग्रचित्त से तुम्हारी की हुई इस स्तुति से मेरा भजन करेंगे, उन्हें मृत्यु के समय इस स्तुति-पाठ से निर्मल बुद्धि मिलेगी।

समुद्र-मन्थन

राजा परीक्षित ने पूछा—'मुनिवर! क्षीरसागर का मन्थन किस प्रकार किया गया था? उसका उद्देश्य और समुद्र से प्राप्त वस्तुओं के नाम कृपाकर आप मुझे सुनाइये।'

शुकदेव ने कहा—'परीक्षित! एक समय असुरों ने देवताओं को पराजित कर दिया था, कारण कि दुर्वासा ऋषि के शाप से देवता श्रीहीन हो गये थे। अपनी यह दुर्दशा देखकर इन्द्र, वरुण आदि देवताओं ने ब्रह्मा को अपनी परिस्थिति का विस्तृत विवरण सुनाया। ब्रह्माजी ने पहले तो पुरुषोत्तम भगवान का स्मरण किया, फिर देवताओं को अश्वासन देते हुए कहा—'देवगण! मैं तथा शंकर और तुम सब अब अविनाशी प्रभु की ही शरण ग्रहण करें। हमारा वे अवश्य ही कल्याण करेंगे।'

ब्रह्माजी देवताओं को साथ लेकर वैकुण्ठधाम गये। वहाँ जाने

पर जब उन्हें कुछ दिखाई नहीं दिया, तब ब्रह्माजी ने एकाग्रमन से भगवान की स्तुति की—'भगवन्! आप निर्विकार, सत्य, अनंत, आदिपुरुष, सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से बसनेवाले, अखण्ड तथा अतर्क्य हैं। वाणी आपका निरूपण नहीं कर सकती। आप सबके आराध्यदेव हैं। हम सब शरणागत आपके चरणों में नमस्कार करते हैं। आप अविनाशी और आनन्दस्वरूप हैं। हम आपकी शरण ग्रहण करते हैं। आप समस्त विश्व के मूल में स्थित किन्तु अव्यक्त हैं, और देश, काल अथवा वस्तु द्वारा आपका पार नहीं पाया जा सकता। आप समस्त जीवों के अन्तर में स्थित रहते हैं। विचारशील पुरुष भक्तियोग द्वारा आपकी ही आराधना करते हैं। श्रुतियाँ कहती हैं कि चन्द्रमा आपका मन और अग्नि आपका मुख है। सूर्य आपके नेत्र हैं, आपके कानों से दिशायें और नाभि से यह आकाश उत्पन्न हुआ है—भगवन्, हमपर आप प्रसन्न हों।'

परीक्षित! जब देवताओं ने सर्वशक्तिमान भगवान की इस प्रकार स्तुति की, तब वे वहाँ प्रकट हो गए। देवताओं ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और शिव एवं ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना करते हुए कहा—'जन्म, स्थिति अथवा प्रलय से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है, जो प्राकृत गुणों से अतीत एवं मोक्षस्वरूप परमानन्द का अनन्त समुद्र है और जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, उन परम ऐश्वर्य-शाली प्रभु को हम लोग बार-बार नमस्कार करते हैं। हम सब लोकपाल जिस उद्देश्य से आपकी शरण में आये हैं, उसे आप कृपाकर पूरा कीजिए। आप सबके साक्षी अन्तर्यामी हैं, अतः आपसे हम अधिक क्या निवेदन करें!'

श्रीहरि ने देवताओं को सलाह देते हुए कहा—'इस समय असुरों पर काल की कृपा है। इसलिए जबतक तुम्हारे अभ्युदय और उन्नति का समय नहीं आ जाता, तबतक के लिए तुम लोग

उनसे सन्धि करलो। कोई बड़ा कार्य करना हो तो शत्रुओं से भी मेल कर लेना चाहिए। सबसे पहले तुम लोग अतिदुर्लभ अमृत निकालने का प्रयत्न करो। पहले क्षीरसागर में औषधियाँ डाल दो और तब मन्दराचल की मथानी और वासुकि नाग की नेती बनाकर तुम लोग मेरी सहायता से समुद्र का मन्थन करो। समुद्र से पहले 'कालकूट विष' निकलेगा, उससे डरना नहीं। और किसी वस्तु के लिए कदापि लोभ मत करना।' देवताओं को यह आदेश देकर भगवान अन्तर्धान हो गये।

तब इन्द्रादि देवता असुरों के राजा बलि के पास गये। बलि ने तीनों लोक जीत लिये थे। इन्द्र ने बड़ी मधुरवाणी से राजा बलि से बात की। समुद्र से अमृत प्राप्त करने की बात दैत्यराज बलि को भी जँच गई। इसलिए देवताओं और असुरों ने आपस में समझौता कर लिया और सब मिलकर अमृत-मन्थन के लिए पूर्ण उद्योग करने लगे। उन्होंने अपनी शक्ति से मन्दराचल को उखाड़ लिया और उसे समुद्र-तट की ओर ले चले। परन्तु मन्दर पर्वत बहुत भारी था और उसे दूर भी ले जाना था, इससे इन्द्र, बलि आदि सभी थककर हतोत्साह हो गये। उनका उत्साह भंग हुआ देखकर गुरुड़ारूढ़ भगवान वहीं प्रकट हो गये। उन्होंने खेल ही खेल में उस पर्वत को उठाकर गरुड़ पर रख लिया और देवों तथा असुरों के साथ समुद्र-तट की यात्रा की। देवों और असुरों ने नागराज वासुकि को, यह वचन देकर कि समुद्र-मन्थन से प्राप्त होनेवाले अमृत में तुम्हारा भी हिस्सा होगा, अपने पक्ष में कर लिया। इसके बाद उन लोगों ने वासुकि नाग को नेती के समान मन्दराचल में लपेटकर समुद्र-मन्थन प्रारम्भ किया। उस समय पहले-पहल अजित भगवान वासुकि के मुख की ओर लग गये। इसलिए देवता भी उधर ही आ जुटे। भगवान की यह चेष्टा दैत्यों को पसन्द नहीं आई। उन्होंने कहा कि 'पूंछ तो साँप का

अशुभ अंग है, हम उसे नहीं पकड़ेंगे।' हमने वेद-शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन किया है, ऊँचे वंश में हमारा जन्म हुआ है और वीरता के बड़े-बड़े काम हमने किये हैं। इसलिए हम देवताओं से किस बात में कम हैं?' यह कहकर वे चुपचाप एक ओर खड़े हो गये। उनकी यह मनोवृत्ति देखकर भगवान ने वासुकि का मुख छोड़ दिया और देवताओं के साथ उसकी पूँछ पकड़ ली। इस प्रकार देव और असुर अमृत-प्राप्ति के लिए, समुद्र-मन्थन करने लगे। जब समुद्र-मन्थन होने लगा, तब भार की अधिकता और नीचे कोई आधार न होने के कारण, मन्दराचल समुद्र में धँसने लगा। भगवान ने देखा कि यह तो 'विघ्नराज' की करतूत है। अतः उन्होंने कच्छप होकर मन्दराचल को अपनी पीठ पर उठा लिया। अब देव और असुर फिर नये उत्साह के साथ समुद्र मथने लगे। अतिघर्षण के कष्ट से नागराज वासुकि के नेत्र, मुख और श्वासों से विष की ज्वाला निकलने लगी। उसके धुएं से असुर निस्तेज हो गये, देवता भी उससे बच न सके।

देव और असुरों के समुद्र-मन्थन करने पर भी जब अमृत न निकला, तब भगवान विष्णु स्वयं मन्थन करने लगे। समुद्र से पहले-पहले 'हालाहल' नाम का अत्यन्त उग्र विष निकला, और वह सब दिशाओं में उड़ने लगा। इस विष से बचने का कोई उपाय न देखकर देव और दानव भयभीत हो, भगवान शिव की शरण में गये और उन्होंने उनकी इस प्रकार स्तुति की—

'देवाधिदेव! आप समस्त प्राणियों के आत्मा और जीवन-दाता हैं। त्रिलोक को भस्म करनेवाले इस उग्र विष से आप हमारी रक्षा कीजिए। सारे जगत को एकमात्र आप ही इससे मुक्त कर सकते हैं। आप शरणागत की पीड़ा हरनेवाले जगद्गुरू हैं। आपने कामदेव, दक्ष, त्रिपुरासुर और अनेक जीवद्रोहियों को नष्ट किया है। प्रलय के समय यह विश्व आपके ही नेत्र से निकली

हुई लपट से भस्म हो जाता है। हम आर्त्तजन आपकी शरण में आये; हमारी आप रक्षा कीजिए।'

परीक्षित! प्रजाजनों का यह महान संकट देखकर देवाधिदेव भगवान शंकर के हृदय में बड़ी व्यथा हुई। अतः उन्होंने अपनी प्रिया सती से कहा—'समुद्र-मन्थन से निकले कालकूट विष के कारण प्रजाजनों पर कितना बड़ा संकट आ पड़ा है! ये बेचारे मेरी शरण में आये हैं, इसलिए मैं इन्हें निर्भय करना चाहता हूं। जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है, उनके जीवन की सफलता इसी में है कि वे दीन-दुखियों की रक्षा करें। सत्पुरुष अपने प्राणों की बलि देकर भी दूसरों की रक्षा करते हैं। मोह-माया में फँस कर प्राणी एक-दूसरे से वैर बाँधे बैठे हैं। इसलिए मैं इस विष को पी जाना चाहता हूँ, जिससे त्रस्त प्रजा का कल्याण हो।'

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित! विश्व के जीवनदाता परम-कृपालु शंकर उस विष को पी जाने के लिए तत्पर हो गये। सती देवी उनका प्रभाव जानती ही थीं, अतः उन्होंने हृदय से उनके इस प्रस्ताव का अनुमोदन दिया। लोक-कल्याण का निश्चय कर भगवान शिव उस तीक्ष्ण विष को प्रसन्न मन से पी गये। काल-कूट विष ने शंकरजी पर भी अपना प्रभाव प्रकट कर दिया, उनका कण्ठ नीला पड़ गया। परोपकारी पुरुष प्रायः दूसरों का संकट टालने के लिए स्वयं दुःख झेलते हैं। भगवान शंकर सबकी कामना पूर्ण करनेवाले हैं। उनका यह कल्याणकारी अद्भुत कर्म सुनकर ब्रह्मा और भगवान विष्णु भी उनकी प्रशंसा करने लगे। भगवान शंकर के विष पी लेनेपर देवताओं और असुरों को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे नये उत्साह से पुनः समुद्र मथने लगे। समुद्र से इस बार कामधेनु प्रकट हुई, जिसे ऋषियों ने आग्रहपूर्वक प्राप्त किया। उसके बाद उच्चैश्रवा नाम का घोड़ा निकला। यह राजा बलि को दे दिया गया। तदनन्तर ऐरावत नाम का हाथी निकला। वह इन्द्र

को दिया गया। फिर कौस्तुभ नाम की पद्मपरागमणि निकली। उस मणि को अजित भगवान ने स्वीकार किया। तदनन्तर कल्प-वृक्ष और अप्सराएँ निकलीं, जिन्हें देव और दानवों ने क्रमशः ले लिया। इनके बाद स्वयं लक्ष्मी प्रकट हुईं, जो विष्णु भगवान की नित्य शक्ति है। देवता, असुर, मनुष्य-सभी ने चाहा कि यह हमें मिल जाय; किंतु लक्ष्मी ने अपने चिर अभीष्ट भगवान को ही वर के रूप में चुना। इसके बाद वारुणी प्रकट हुई। भगवान की अनुमति से दैत्यों ने उसे ले लिया। देवताओं और असुरों ने जब और भी समुद्र-मन्थन किया, तब उसमें से एक अलौकिक पुरुष प्रकट हुआ। उसके हाथों में अमृत-भरा एक कलश था। यही आयुर्वेद का प्रवर्तक पुरुष धन्वन्तरि नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब दैत्यों की दृष्टि उसके ऊपर पड़ी, तब उन्होंने शीघ्रता से उसके हाथ से अमृत का कलश छीन लिया। इससे देवताओं का मन विषाद से भर गया और वे भगवान की शरण में पहुँचे। उनकी दीन दशा देखकर भगवान ने कहा—'देवताओ! तुम लोग उदास मत होओ। मैं तुम्हारा खेद दूर करने की युक्ति करूँगा।'

परीक्षित! होनहार विपरीत होने के कारण शीघ्र ही अमृत-लोलुप दैत्य उसे पीने के लिए आपस में झगड़ने लगे। सभी चाहते थे कि 'पहले में पियूंगा'। परस्पर के प्रेम को तिलांजलि दे, इधर दैत्यों में 'तू-तू मैं-मैं' हो रही थी, उधर भगवान ने अत्यन्त अद्भुत स्त्री का रूप धारण किया। दैत्यों ने इसी बीच देखा कि एक परम सुन्दरी स्त्री उनकी ओर चली आ रही है। उसका त्रिलोक-मोहिनी रूप देख, असुरों ने उनके समीप जाकर कहा—'सुन्दरी! तुम हमारा यह झगड़ा सुलझा दो। तुम न्याय के अनुसार निष्पक्ष भाव से इस अमृत को हम सबमें बाँट दो, जिससे फिर हम लोगों में किसी बात का टंटा न रह जाय।' असुरों के इस प्रकार प्रार्थना करने पर मोहिनी-रूपधारी भगवान

ने उनसे कहा—'आप लोग मुझपर न्याय का भार क्यों डाल रहे हैं ? मैं इसके योग्य नहीं हूँ। विवेकी पुरुष स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों का कभी विश्वास नहीं करते।'

मोहिनी की बात से दैत्यों को और भी दृढ़ विश्वास हो गया कि यह उनका झगड़ा अवश्य मिटा सकती है, अतः उन्होंने अमृत का कलश उसके हाथ में सौंप दिया। भगवान ने भी अमृत का कलश अपने हाथ में लेकर मधुर वाणी से उनसे कहा-'मैं उचित या अनुचित जो भी करूँ, वह सब यदि तुम लोगों को स्वीकार हो तो मैं यह अमृत बाँट सकती हूँ।' दैत्यों ने उनकी बात स्वीकार कर ली और वे सब-के-सब पवित्र होकर कुशासनों पर बैठ गये। भगवान ने यह विचार किया कि असुर तो सदा स्वभाव से ही क्रूर हैं, इनको अमृत पिलाना सर्पों को दूध पिलाने के समान होगा। इसलिए उन्होंने असुरों को अमृत में भाग न देने का ही निश्चय किया। भगवान ने देवों और असुरों की अलग-अलग पंक्तियाँ बना दीं और दोनों को अपने-अपने दलों में बिठा दिया। फिर अमृत का कलश हाथ में लेकर भगवान पहले दैत्यों के निकट चले गये, और उन्हें मीठे वचनों से ही संतोष देकर वे देवताओं को अमृत पिलाने लगे। असुर अपनी प्रतिज्ञा को निभा रहे थे। साथ ही वे एक स्त्री से झगड़ने में अपना अपमान भी समझते थे। इसलिए वे चुपचाप बैठे रहे।

जिस समय भगवान देवताओं को अमृत पिला रहे थे, उसी समय दैत्य राहु देवताओं का वेश बनाकर उनके बीच में आ बैठा। पर ज्योंही वह अमृत पीने लगा, त्योंही चन्द्रमा और सूर्य को उसके छद्मवेश का पता चल गया और उन्होंने तत्क्षण उसकी पोल खोल दी। भगवान ने भी अमृत पिलाते-ही-पिलाते चक्र से उसका सिर काट डाला। उसका धड़ तो गिर गया; पर 'सिर' अमर हो गया। कहते हैं कि वही राहु, वैरभाव के कारण बदला

लेने के लिए चन्द्रमा तथा सूर्य पर आक्रमण किया करता है। जब देवताओं ने अमृत पी लिया, तब समस्त लोकों को जीवनदान देने-वाले भगवान ने दैत्यों के सामने ही मोहिनी-रूप त्यागकर, अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया।

देवासुर-संग्राम

जब दैत्यों ने देखा कि हमारे शत्रुओं को तो यह भारी सफलता मिली। तब ईर्ष्यावश उन्होंने तुरंत उनपर धावा बोल दिया। परन्तु देवगण भगवान की कृपा से अब बलिष्ठ हो गये थे, इसलिए उन्होंने वीरतापूर्वक उनका सामना किया। देवों और दैत्यों का वही घमासान युद्ध 'देवासुर-संग्राम' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी भीषणता का वर्णन नहीं किया जा सकता। देव और दैत्य एक-दूसरे पर नाना प्रकार के शस्त्रों से प्रहार कर रहे थे। उनका यह जीवन-संग्राम था। इसी बीच दैत्यों के सेनापति बलि, मयदानव के बनाये वैहायस नाम के विमान पर आरूढ़ हो गए। बड़े-बड़े सेनापति उन्हें चारों ओर से घेरे हुए थे। असुरों ने देवताओं को युद्ध में अनेक बार परास्त किया था, इसलिए वे भी अपने को कुछ कम नहीं समझते थे। अब दो-दो की जोड़ी में वे विकट युद्ध करने लगे। बलि इन्द्र से, स्वामिकार्तिकेय तारकासुर से, वरुण हेति से और मित्र प्रहेति से भिड़ गए। इसी प्रकार अन्य सेनापतियों की जोड़ियाँ भी लड़ रही थीं। कोई भी पीछे हटने को तैयार न था। फलतः थोड़ी ही देर में रणभूमि रुधिर से सन गई। लड़ाई का मैदान कटे हुए मुण्डों और रुण्डों से पट गया।

राजा बलि ने दस बाण इन्द्र पर, तीन उनके वाहन ऐरावत पर, चार ऐरावत के चार चरण-रक्षकों पर और एक मुख्य महावत पर चलाये। किंतु इंद्र ने उन बाणों को क्षण में ही काट डाला। तब बलि ने अन्तर्धान होकर आसुरी माया द्वारा प्रलयंकारी अग्नि के

समान बड़ी भयानक अग्नि की सृष्टि की। वह अग्नि वायु की सहायता से देव-सेना को धायँ-धायँ जलाने लगी। थोड़ी ही देर में ऐसा जान पड़ा मानो समुद्र में ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं और वह महाप्रवाह देव-सेना को घेरता हुआ उमड़ा आ रहा है। देवताओं ने उस माया का प्रतिकार करने के लिए बहुत कुछ सोचा; परंतु वे विफल रहे। तब उन्होंने भगवान का ध्यान किया। भगवान वहाँ प्रकट हो गए। परमपुरुष के प्रकट होते ही असुरों की माया नष्ट हो गई। जब कालनेमि दैत्य ने देखा कि स्वयं भगवान लड़ाई के मैदान में आ उतरे हैं, तब उसने उनपर अपना त्रिशूल चलाया। भगवान ने तुरंत उस त्रिशूल को पकड़ लिया और उसीसे कालनेमि और उसके वाहन का अंत कर डाला।

इन्द्र ने बलि से लड़ते-लड़ते जब अपना वज्र उठाया तो दैत्यों में हाहाकार मच गया। इन्द्र ने बलि का तिरस्कार करते हुए कहा—'मूर्ख! तू माया की चालों से हमपर विजय प्राप्त करना चाहता है? तुझे पता नहीं कि हम लोग मायापति भगवान के जन हैं, तुम्हारी चालें हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। देख, अभी मैं अपने वज्र से तेरा सिर धड़ से अलग किये देता हूँ।'

बलि ने कहा—'इन्द्र! जो लोग अपने कर्म के अनुसार युद्ध करते हैं, उन्हें जीत-हार, यश-अपयश व मृत्यु मिलती ही है। इसलिए ज्ञानीजन न तो विजय होने पर हर्ष से फूल उठते हैं और न पराजय, अपकीर्ति या मृत्यु से शोकाभिभूत ही होते हैं। तुम लोग इस तत्व से अनभिज्ञ हो। तुम लोग अपने को जय-पराजय आदि का कारण (कर्त्ता) मानते हो, इसलिए महात्माओं की दृष्टि से शोचनीय हो।'

परीक्षित! वीरवर दैत्यराज बलि ने इन्द्र को जब इस प्रकार फटकारा तो वे झेंप गये, और उन्होंने बलि पर वज्र चला दिय उसकी चोट से बलि पृथिवी पर गिर पड़े। बलि का एक मह

हितैषी मित्र जम्भासुर था। वह अपने मित्र के गिर जाने पर बदला लेने के लिए इन्द्र के सामने आ डटा। क्रोध में भरकर इन्द्र ने वज्र से उसका भी सिर काट डाला। देवर्षि नारद से जम्भासुर की मृत्यु का समाचार सुनकर उसके भाई-बन्धु भी तुरन्त रणभूमि में आ पहुँचे। इन्द्र ने उन्हें मार डालने के लिए फिर आक्रमण किया और उस आठ धारवाले पैने वज्र से उनमें मुख्य, 'बल' और 'पाक' दैत्य के सिर काट डाले। अपने भाइयों के मर जाने पर दैत्य नमुचि को भारी शोक हुआ। उसने मारे क्रोध के आपे से बाहर होकर, इंद्र पर एक त्रिशूल चलाया। इंद्र ने अपने बाणों से आकाश में ही उस त्रिशूल के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और नमुचि का सिर काट डालने के उद्देश्य से उसके कण्ठ पर वज्र का प्रहार किया। यद्यपि इंद्र ने बड़े वेग से वज्र चलाया था; परन्तु इससे नमुचि की देह पर एक खरोंच तक नहीं आई। जिस वज्र ने महा-बलि वृत्रासुर को मार डाला था, नमुचि की त्वचा ने उसका तिर-स्कार कर दिया। यह देखकर इंद्र डर गये और सोचने लगे—'त्वष्टा की तपस्या का सार ही वृत्रासुर के रूप में प्रकट हुआ था। उसका भी मैंने इस वज्र से अन्त कर डाला और भी अनेक दैत्य, जो बड़े ही बलवान थे, इसी वज्र से मृत्यु के घाट उतर चुके हैं। क्या कारण है कि अब वही वज्र इस तुच्छ असुर को नहीं मार सका?' इंद्र इस प्रकार चिंतित थे कि उसी समय आकाशवाणी हुई—'यह दानव न तो सूखी वस्तु से मर सकता है, न गीली से। इसे मारने का तुम कुछ और ही उपाय सोचो।' आकाशवाणी को सुनते ही इन्द्र ताड़ गये कि समुद्र का फेन तो सूखा भी है और गीला भी। अतः उन्होंने समुद्र के फेन से ही नमुचि का अन्त कर डाला। इसी प्रकार वायु, अग्नि, वरुण और अन्य देवताओं ने भी अपने अस्त्रशस्त्रों से विपक्षियों का संहार किया।

ब्रह्माजी ने देखा कि दानवों का तो बीज ही नष्ट हुआ जा रहा

है, इसलिए उन्होंने नारद को देवताओं के पास भेजकर उन्हें लड़ने से रोक दिया। देवता देवर्षि की बात मानकर युद्ध से हट-कर अपने-अपने लोकों को चले गए। इधर दैत्य आहत बलि को लेकर अस्ताचल को चले गये। वहाँ शुक्राचार्य ने बलि को और असुरों को अपनी संजीवनी विद्या से पुनः जीवित कर दिया। शुक्राचार्य के उपचार से बलि को चेतना और स्मरण-शक्ति आ गई। बलि समझते थे कि संसार में जीवन-मृत्यु, जय-पराजय, आदि तो होते ही रहते हैं, इसलिए पराजित होने पर भी उन्हें किसी प्रकार का खेद नहीं हुआ।

वामनावतार और महाराजा बलि की कथा

परीक्षित ने पूछा—'भगवान तो स्वयं सबके स्वामी हैं, फिर उन्होंने, एक दीन-हीन की भाँति राजा बलि से तीन पग भूमि क्यों माँगी? और बलि को बाँध क्यों लिया था? मेरे मन में इस बात को जानने का बड़ा कुतूहल है।'

शुकदेवजी ने उत्तर देते हुए कहा—'परीक्षित! जब इन्द्र ने दैत्यराज बलि को पराजित कर, उनकी सम्पत्ति और प्राण भी ले लिये। तब शुक्राचार्य ने अपनी संजीवनी-विद्या से उन्हें पुनः जीवित कर दिया यह तो मैं तुम्हें सुना ही चुका हूँ। शुक्राचार्य के शिष्य महात्मा बलि अपना सर्वस्व उनके चरणों पर समर्पित कर, स्वयं गुरूदेव की सेवा करने लगे। इससे शुक्राचार्य उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उनसे विश्वजित नाम का यज्ञ कराया। इस यज्ञ के फलस्वरूप उस यज्ञकुण्ड से दिव्य रथ, धनुष, कभी न खाली होने वाले दो अक्षय तरकस और दिव्य कवच प्रकट हुए। उनके दादा प्रह्लाद ने उन्हें एक ऐसी माला दी, जिसके फूल कभी कुम्हलाते न थे, शुक्राचार्य ने उन्हें एक शंख दिया। राजा बलि ने कवच धारण कर, धनुष, खड्ग आदि शस्त्र ग्रहण किये

और अपने दादा की दी हुई माला पहनी। अपने साथ समान बल-विभूति वाले अन्यान्य दैत्य-सेनापति और उनकी विशाल आसुरी सेना लेकर उन्होंने इन्द्रपुरी अमरावती पर चढ़ाई कर दी।

इंद्र ने जब देखा कि बलि ने युद्ध की बहुत बड़ी तैयारी की है, तब वे देवताओं को साथ लेकर अपने गुरु बृहस्पति के पास गए और उनसे प्रार्थनापूर्वक कहा—'भगवन् ! मेरे पुराने शत्रु बलि ने इस बार युद्ध की बहुत बड़ी तैयारी करके हमारी अमरावती को घेर लिया है। पता नहीं, किस शक्ति से इसकी इतनी उन्नति हुई है। मालूम होता है कि इस समय बलि को कोई भी किसी प्रकार परास्त नहीं कर सकता। इसे इतनी बड़ी विशाल शक्ति प्राप्त होने के क्या कारण हैं ?'

बृहस्पति ने इंद्र को तब समयानुकूल यह सलाह दी–'इंद्र ! मैं तुम्हारे शत्रु बलि की उन्नति का कारण जानता हूँ। ब्रह्मवादी भृगु-वंशियों ने अपने शिष्य बलि को महान तेज देकर शक्ति का पुंज बना दिया है। सर्वशक्तिमान भगवान को छोड़कर अभी बलि के सामने कोई भी नहीं ठहर सकता है, जैसे कि काल के आगे प्राणी नहीं ठहर सकते। इसलिए इस समय तो तुम लोग भागकर कहीं छिप जाओ और समय की प्रतीक्षा करो। जब तुम्हारे शत्रु के बुरे दिन आयंगे, तब वह स्वयं ही नष्ट हो जायगा।'

देवताओं के छिप जाने पर महाराजा बलि ने अमरावती पर बिना किसी प्रयास के ही अधिकार कर लिया और वे तीनों लोकों के स्वामी बन बैठे। जब बलि विश्वविजयी हो गए, तब भृगुवंशियों ने उनसे सौ अश्वमेध-यज्ञ करवाये। उन यज्ञों के प्रभाव से बलि की कीर्ति दसों दिशाओं में फैल गई।

देवताओं के स्वर्ग से भाग जाने से देवमाता अदिति को बड़ा दुःख हुआ। कश्यप मुनि ने एक दिन उसके दुःख का कारण उससे पूछा—'कल्याणि ! इस समय संसार में धर्म का पालन तो ठीक-

ठीक होता है ? तुम्हें गृहस्थाश्रम में रहकर धर्म, अर्थ और काम के सेवन में किसी प्रकार का विघ्न तो नहीं हो रहा है ? यह भी सम्भव है कि अतिथि आये हों और तुम उनका उचित सम्मान न कर सकी हो। क्या इन्हीं कारणों से तो तुम उदास नहीं हो ? तुम्हारे सभी पुत्र सकुशल तो हैं ?

अदिति ने उन्हें उत्तर दिया—'भगवन् ! जब आप मुझे इस प्रकार धर्म-पालन का उपदेश देते हैं, तब मेरे मन की कौन-सी ऐसी कामना है, जो पूरी न हो जाय ? आप सब सन्तानों के प्रति एक-सा भाव रखते हैं, चाहे वह असुर हो या देवता। दैत्यों ने हमारी सम्पत्ति और रहने का स्थान छीनकर हमें घर से बाहर निकाल दिया है। इसलिए मैं दुःख के समुद्र में डूबी जा रही हूँ। आपसे बढ़कर हमारी भलाई करनेवाला और कोई नहीं है। आप विचार-कर हमारे कल्याण का कोई ऐसा उपाय कीजिये कि मेरे पुत्रों का ऐश्वर्य और सुख पुनः उन्हें प्राप्त हो जाय।'

शुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार अदिति के प्रार्थना करने पर कश्यप प्रजापति कुछ विस्मित-से होकर बोले–'भगवान की माया भी कैसी प्रबल है ! यह सारा जगत स्नेह की डोर से बँधा हुआ है। यहाँ किसी का कोई पति, पुत्र और सम्बंधी नहीं है। मोह ही जीव को नचा रहा है। प्रिये ! तुम भक्तों के दुःख दूर करनेवाले भगवान वासुदेव की आराधना करो। वे बड़े दीनदयालु हैं। अवश्य ही वे तुम्हारी कामनाएं पूरी करेंगे। मेरा दृढ़ निश्चय है कि भगवान की भक्ति कभी व्यर्थ नहीं जाती।'

परीक्षित ! महर्षि कश्यप का उपदेश ग्रहण कर, अदिति ने बड़ी शुचिता और श्रद्धा से भगवान की आराधना की। अदिति की अनन्य आराधना से प्रसन्न होकर भगवान उसके सामने प्रकट हुए। उसने बड़े प्रेम और गद्गद् कण्ठ से, उनकी स्तुति की—'अच्युत ! आपके चरणकमलों का आश्रय लेकर लोग भवसागर से तर जाते हैं।

आपका यश-कीर्तन सुनने और नामोच्चारण मात्र से ही जीव का कल्याण हो जाता है। जो आपकी शरण में आ जाता है, उसकी सारी विपत्तियों को आप दूर कर देते हैं। भगवन्! आप दीनों के स्वामी, विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के मूल कारण तथा विश्व-रूप हैं। आप हमारा कल्याण कीजिए। मैं आपका अभिनन्दन करती हूँ।'

तब भगवान पुरुषोत्तम ने कहा—'देव-माता अदिति! तुम्हारी चिरकाल की अभिलाषा को मैं जानता हूँ। दैत्यों ने तुम्हारे पुत्रों की सारी सम्पत्ति छीन ली है। तुम चाहती हो कि युद्ध में तुम्हारे पुत्र असुरों को जीतकर विजय-लक्ष्मी प्राप्त करें। परन्तु देवि! वे अभी जीते नहीं जा सकते, क्योंकि समय अभी उनके अनुकूल है। फिर भी तुम्हारी इस आराधना से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इसलिए मैं तुम्हारा पुत्र होकर तुम्हारी भयत्रस्त संतान की रक्षा करूँगा।'

कुछ समय बाद माता अदिति के गर्भ से भगवान ने जन्म लिया। भगवान पुरुषोत्तम के इस अवतार को देखकर अदिति के आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। भगवान का वामन ब्रह्मचारी के रूप में दर्शन कर, ऋषि-मुनियों को भी भारी आनन्द हुआ। जब उनका उपनयन संस्कार होने लगा तब पृथिवी ने कृष्ण-मृग का चर्म, चन्द्रमा ने दण्ड, माता अदिति ने कोपीन और देवताओं ने छत्र दिया। कुबेर ने उन्हें भिक्षा का पात्र और स्वयं भगवती उमा ने भिक्षा दी। इस प्रकार सब लोगों ने बटु-वेष-धारी भगवान का विधिवत् सम्मान किया।

परीक्षित! उसी समय नर्मदा नदी के तट पर भृगुकच्छ नामक एक रमणीक स्थान पर राजा बलि अनेक अश्वमेध यज्ञ कर रहा था। यह सुनकर वामन भगवान वहां पहुँचे। उस समय उनकी कमर में मुँज की मेखला, गले में यज्ञोपवीत, बगल में मृगचर्म और सिर पर जटाजूट शोभा दे रहे थे। इस तेजस्वी

ब्रह्मचारी ने जब बलि के यज्ञमंडप में प्रवेश किया, तब सभी भृगुवंशी ब्राह्मणों ने उठकर उसका अभिवादन किया। उसे देखकर बलि को भी बड़ा आनन्द हुआ। उसने वामन ब्रह्मचारी को एक सुन्दर आसन दिया और स्वागत-सत्कार से उनके पाँव पखारे और पूजा की। फिर उन्होंने भगवान वामन से कहा—

'ब्राह्मणकुमार! आपका स्वागत है। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? ऐसा जान पड़ता है कि बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों का तप ही स्वयं मूर्तिमान होकर आपके रूप में मेरे सामने खड़ा है। आज आप मेरे घर पधारे, इससे मेरा वंश पवित्र हो गया और मेरा यज्ञ भी सफल हो गया। आपके पाँव पखारने से मेरे सारे पाप धुल गये। विधिपूर्वक यज्ञ करने से जो फल मिलता, वह अनायास ही मुझे मिल गया है। ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ चाहते हैं। सो आप वह मुझसे निस्संकोच माँग लीजिए।'

भगवान वामन ने बड़ी प्रसन्नता से राजा बलि के वचनों का अभिनन्दन करते हुए कहा—'राजन्! आपने जो कुछ कहा, वह आपकी कुल-परम्परा के अनुरूप, धर्म-युक्त, यश को बढ़ानेवाला और अत्यन्त मधुर है। आकाश में चन्द्र के समान आपके कुल में महाभागवत प्रतिष्ठित हैं। आपके पिता प्रह्लादनन्दन राजा विरोचन महान ब्राह्मण-भक्त थे। यहां तक कि देवताओं ने ब्राह्मणों का वेश बनाकर उनसे उनकी आयु तक का दान माँगा और उन्होंने इस छल को समझकर भी वह दान उन्हें दे डाला। आप भी उसी धर्म का आचरण करते हैं, जिसका पालन शुक्राचार्य आदि तपस्वी ब्राह्मणों, आपके पूर्वज प्रह्लाद और दूसरे यशस्वी वीरों ने किया है। महाराज! मैं तो आपसे केवल थोड़ी-सी भूमि, अपने पैरों से तीन डग मात्र माँगने आया हूं। मैं आपसे इससे अधिक कुछ भी नहीं चाहता। विवेकी मनुष्य को केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार ही दान लेना चाहिए। इससे वह प्रतिग्रह-रूपी पाप से बच जाता है।'

राजा बलि ने कहा—'ब्राह्मणकुमार ! आपकी बातें तो वृद्धों की जैसी हैं ; परन्तु बुद्धि अभी बच्चों की सी ही है। इसीसे अपनी लाभ-हानि नहीं समझ रहे हैं। मैं आज तीनों लोकों का अधिपति हूँ और द्वीप-के-द्वीप दान दे सकता हूँ। अतः अपनी जीविका चलाने के लिए आपको जितनी भूमि की आवश्यकता हो, मुझसे माँग लें।

भगवान ने कहा—'राजन् ! संसार के सारे ही विषय मनुष्य की सब कामना को भी पूर्ण नहीं कर सकते, यदि वह संतोषी न हो। जो तीन पग भूमि से संतोष नहीं कर लेता, उसे एक द्वीप भी दे दिया जाय तो भी वह संतुष्ट होने का नहीं। उसके मन में सातों द्वीपों को भी पाने की इच्छा बनी रहेगी। पृथु आदि राजा सातों द्वीपों के अधिपति होने पर भी तृष्णा का पार नहीं पा सके। जो कुछ मिल जाय, उसीसे संतुष्ट रहने वाला मनुष्य अपना जीवन सुख से व्यतीत करता है। परन्तु इन्द्रियों को वश में न रखनेवाला तीनों लोकों का राज्य पाने पर भी दुखी ही रहता है, क्योंकि अन्तर में असंतोष की आग सदा धधकती रहती है। इसलिए मैं तीन पग भूमि से अधिक नहीं लूँगा। संग्रह उतना ही करना चाहिये, जितने की आवश्यकता हो।'

राजा बलि इस बाल-बुद्धि पर हँस पड़े। उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, जितनी इच्छा हो उतनी ही ले लीजिये। तीन पग भूमि का संकल्प करने के लिए उन्होंने जलपात्र उठाया। पर शुक्राचार्य ताड़ गए। उन्होंने राजा बलि को पृथिवी का दान देने को तत्पर देखकर कहा—

'राजन् ! तुमने यह अनर्थ न जानकर भी कि 'यह वामन ब्रह्मचारी मेरा सबकुछ छीन लेगा' इन्हें दान देने का संकल्प कर डाला है। यह तो दैत्यों पर बहुत बड़ा अन्याय होने जा रहा है। इसे मैं ठीक नहीं समझता। स्वयं भगवान ही अपनी योग-माया से इस ब्रह्मचारी के रूप में बैठे हुए हैं। यह बालक सब-

कुछ तुमसे छीनकर इन्द्र को दे देगा। यह विश्वरूप है, इसलिए तीन पग में तो सारे लोकों को नाप लेगा। जब तुम अपना सर्वस्व ही दे डालोगे तो तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा ? यह छद्मवेशी विष्णु एक पग में पृथिवी और दूसरे पग में समस्त लोकों को नाप लेने वाला है। इसके विराट् शरीर से आकाश भर जायगा। तब इसका तीसरा पग कहाँ जायगा ? तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकोगे। तब तुम्हें गिरना पड़ेगा। विद्वान लोग उस दान की प्रशंसा नहीं करते, जिसके बाद जीवन-निर्वाह के लिए कुछ बचे ही नहीं। जो मनुष्य अपने धन को धर्म, यश, अतिवृद्धि, भोग और स्वजनों के लिए पाँच भागों में बाँट देता है, वही इस लोक और परलोक में सुख पाता है। यदि तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा टूटने की चिन्ता हो, तो मैं इस विषय में ऋग्वेद की श्रुतियों का आशय सुनाता हूँ— 'किसी को कुछ देने की बात स्वीकार कर लेना सत्य है और अस्वीकार कर देना असत्य। यह शरीर मानो एक वृक्ष है, सत्य जिसका फल-फूल है। परन्तु यदि वृक्ष ही न रहे तो फल-फूल कहाँ से होंगे ? हास-परिहास में, जीविका की रक्षा के लिए, प्राणों पर संकट आने पर, गौ और ब्राह्मण के भले के लिए तथा किसी को मृत्यु से बचाने के लिए असत्य भाषण भी अधिक निन्दनीय नहीं।"

राजा बलि ने शुक्राचार्य से कहा—'भगवन्! आपका यह कहना सत्य है। गृहस्थाश्रम में रहनेवालों के लिए वही धर्म है, जिससे अर्थ, काम, और यश के उपार्जन में किसी प्रकार की बाधा न आये। परन्तु गुरुदेव! मैं प्रह्लादजी का पौत्र हूँ और एक बार देने का संकल्प कर चुका हूँ। अब मैं लोभ में पड़कर कैसे कहूँ कि मैं नहीं दूँगा। वेदों ने कहा है कि असत्य से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। मैं सब कुछ सहने में समर्थ हूँ; परन्तु झूठ मुझसे नहीं सहा जाता। मैं दरिद्रता, राज्य के नाश और मृत्यु से भी उतना नहीं डरता, जितना कि प्रतिज्ञा करके उसे भंग करने से। इस

संसार में मर जाने के बाद जो-जो वस्तुएं साथ छोड़ देती हैं, यदि उनके द्वारा दान से किसी को भी सन्तुष्ट न किया जा सका तो उनके प्राप्त करने का फिर लाभ ही क्या ? दधीचि, शिवि आदि महापुरुषों ने अपने प्राणों का दान देकर भी प्राणियों की भलाई की है। उनका यश आज भी पृथिवी पर ज्यों-का-त्यों बना है। संसार में ऐसे लोग तो बहुत हैं, जो युद्धों में अपने प्राणों को होम देते हैं ; किन्तु श्रद्धा के साथ धन-संपत्ति दान करनेवाले लोग बिरले ही हैं। गुरुदेव ! मैं इस ब्रह्मचारी की इच्छा अवश्य पूरी करूँगा और इसकी इच्छानुसार ही इसे भूमि-दान दूँगा। यदि यह पुण्यश्लोक भगवान विष्णु ही हैं तो यह शुभ अवसर खोना नहीं चाहूँगा, क्योंकि यह तो मुझे मारकर भी पृथिवी छीन सकते हैं।'

जब शुक्राचार्य ने देखा कि मेरा यह शिष्य मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है, तब उन्होंने राजा बलि को शाप दे दिया— 'मूर्ख ! तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिए शीघ्र ही तू अपनी राज्य-लक्ष्मी खो बैठेगा।' फिर भी महात्मा बलि सत्य से नहीं डिगे। उन्होंने ब्रह्मचारी वामन की विधिपूर्वक पूजा की और पत्नी विन्ध्याचली के साथ तीन पग भूमि का संकल्प कर दिया। उन दोनों ने भगवान के युगलचरण पखारे और उनके चरणों का वह विश्वपावन जल अपने सिर पर चढ़ाया। पूजा अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि एक बड़ी अद्भुत घटना घटी। अनन्त का वह वामन रूप बढ़ने लगा। यहाँ तक बढ़ा कि सारा ब्रह्माण्ड उसी में समा गया और आचार्य और सदस्यों के साथ बलि ने भी भगवान के उस शरीर में सम्पूर्ण जगत और सभी चराचर प्राणियों को वर्तमान देखा। इस सर्वग्राही रूप में सम्पूर्ण जगत को देखकर दैत्य भयभीत हो गए। भगवान ने एक पग से पृथिवी को और दूसरे पग से समस्त लोकों को नाप लिया। शरीर और

भुजाओं से आकाश और दिशाओं को भर दिया। तीसरा पैर रखने के लिए बलि के पास कोई जगह ही नहीं बची।

भगवान ने बलि से कहा—'दानवश्रेष्ठ! तुमने मुझे तीन पग पृथिवी देने का संकल्प किया था। अब तीसरा पग मैं कहाँ रक्खूं? तुम यदि अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकोगे तो तुम्हें नरक में जाना होगा। जो देने की प्रतिज्ञा करके मुकर जाता है, उसके सारे मनोरथ व्यर्थ जाते हैं।'

दैत्यराज बलि ने उत्तर दिया—'देवाधिदेव। क्या आप मेरी बात को असत्य समझते हैं? मैं उसे अभी सत्य करके दिखाता हूँ। आप कृपाकर अपना तीसरा पग मेरे सिर पर रख दें। मुझे नरक में जाने अथवा राज्य-च्युत होने का भय नहीं। मैं बाँधे जाने या अपार दुःख में पड़ने से भी नहीं डरता; किन्तु मैं डरता हूँ तो केवल अपनी अपकीर्ति से। अपने पूज्य गुरुजनों द्वारा दिया हुआ दण्ड तो अत्यन्त वांछनीय है। आप छिपे रूप से असुरों को हितकारी शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हमारे परम गुरू हैं। जब हम धन, बल और राजलक्ष्मी के मद से अन्धे हो जाते हैं, तब उन वस्तुओं को आप हमसे छीनकर हमें ज्ञान-चक्षु प्रदान करते हैं। मेरे पितामह प्रह्लादजी की कीर्ति जगत में प्रसिद्ध है। वे आपके भक्तों में श्रेष्ठ माने गये। मेरे प्रपितामह हिरण्य-कशिपु ने आपसे वैर रखने पर भी अपने आपको आपपर निछा-वर कर दिया था। यद्यपि आप इस विचार से मेरे भी शत्रु हैं, फिर भी विधाता ने मुझे आपकी शरण में पहुँचा दिया है। राज-लक्ष्मी मनुष्य की बुद्धि को जड़ बना देती है। वह यह नहीं समझ पाता कि मेरा यह जीवन काल के मुख में पड़ा हुआ है। आपने मुझे ऐश्वर्य-हीन कर मेरा भला ही किया है।'

राजा बलि इस प्रकार कह ही रहे थे कि प्रह्लाद वहाँ आ गये। राजा बलि इस समय वरुण-पाश से बँधे हुए थे। इसलिए

पितामह की वे यथाविधि पूजा न कर सके, उन्होंने केवल सिर झुका-कर ही उन्हें नमस्कार किया। प्रह्लाद ने भक्तवत्सल भगवान को वहाँ विराजमान देखा। प्रेम के अतिरेक से उनकी आँखों में आँसू छलक आये और भगवान से उन्होंने कहा—'प्रभो! आपने ही बलि को इन्द्रपद दिया था, आज आपने ही उसे छीन लिया है। आपका देना जैसा सुन्दर है, वैसा ही लेना भी। आत्मा को मोहित कर लेनेवाली राजलक्ष्मी से इसे अलग कर, इसपर आपने भारी अनुग्रह किया है। लक्ष्मी के मद से तो बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं, फिर इसकी तो गिनती ही क्या ?,

प्रह्लादजी हाथ जोड़कर खड़े थे। उनके सामने ही बलि की परमसाध्वी पत्नी विन्ध्याचली ने, अपने पति को बँधा हुआ देख, भयभीत होकर भगवान के चरणों में प्रणाम किया और कहने लगी—'प्रभो! आपने अपनी लीला के लिए ही इस ब्रह्माण्ड को रचा है। दुर्बुद्धिजन ही अपने को इसका स्वामी मानते हैं। जब आप ही इसके कर्ता, भर्ता और संहर्त्ता हैं, तब अपने आपको कर्त्ता समझनेवाले हम आपको क्या दे सकते हैं ?'

ब्रह्माजी भी वहाँ आगये थे। उन्होंने कहा—'प्रभो! अब आप इसे छोड़ दें। आपने इसका सर्वस्व ले लिया है। ऐसा करते समय भी इसकी बुद्धि स्थिर रही है और इसने धैर्य नहीं छोड़ा। अतः अब यह दण्ड का पात्र नहीं है। प्रभो! जो मनुष्य सच्चे हृदय से आपके चरणों की पत्रपुष्पों से भी पूजा करता है, उसे भी उत्तम गति मिलती है। फिर बलि ने तो बड़ी प्रसन्नता से आपको तीनों लोकों का दान किया है, इसलिए यह दण्ड और दुःख का भाजन कैसे हो सकता है ?'

भगवान ने कहा—'ब्रह्मा! मैं जिसपर अनुग्रह करता हूँ, उसके धन-संपत्ति और राजलक्ष्मी को छीन लिया करता हूँ। प्रायः मनुष्य इनके मद में आकर मेरा और मेरी प्रजा का तिरस्कार करने

लगता है। ऐश्वर्य मिलने पर यदि अभिमान न हो जाय तो मेरी बड़ी कृपा समझनी चाहिए। कुलीनता, ऐश्वर्य आदि में मनुष्य अभिमानी होकर अपना अकल्याण कर बैठता है; परन्तु मेरा शरणागत इन वस्तुओं से मोहित नहीं होता। बलि दानव और दैत्य, दोनों ही वंशों में अग्रगण्य और उनकी कीर्ति को बढ़ानेवाला है। इसने उस माया को जीत लिया है, जिसे जीतना अत्यन्त कठिन इतना दुःख भोगने पर भी यह विचलित नहीं हुआ। इस दृढ़व्रती सत्यवादी ने अपनी प्रतिज्ञा को, अपने धर्म को नहीं छोड़ा। अतः मैं इसे वह स्थान देता हूँ, जो बड़े-बड़े देवताओं को भी दुर्लभ है। यह उस सुतललोक में रहे, जहाँ किसी को शारीरिक-मानसिक क्लेश नहीं होता और न शत्रुओं से पराजय या किसी प्रकार की बाधाओं का सामना ही करना पड़ता है। बलि! अब तुम अपने बन्धु-बान्धवों के साथ सुतललोक में चले जाओ। जो तुम्हारी आज्ञा का वहाँ उल्लंघन करेगा, मेरा चक्र उसका नाश कर देगा। स्वयं मैं वहाँ तुम्हारी और तुम्हारे अनुचरों की सब प्रकार से रक्षा करूँगा। वीर बलि! तुम मुझे सदा अपने पास ही देखोगे। दानवों और दैत्यों के संसर्ग से तुममें जो-कुछ असुरभाव है, वह मेरे प्रभाव से नष्ट हो जायगा।'

भगवान के इस परम अनुग्रह को देखकर दैत्यराज के नेत्रों में प्रेम के आँसू छलक आये। वे हाथ जोड़कर गद्गद् वाणी से कहने लगे—'प्रभो! मैंने तो आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, केवल प्रणाम करने का प्रयत्न भर किया है। उसीसे मुझे वह फल मिला, जो आपके शरणागत भक्तों को प्राप्त होता है। बड़े-बड़े लोकपालों पर भी ऐसी कृपा आपने कभी नहीं की।'

परीक्षित! महाराजा बलि वरुण-पाश से मुक्त हो गए और बड़ी प्रसन्नता से असुरों के साथ सुतललोक को चल दिये। वामन भगवान ने बलि से स्वर्ग का राज्य लेकर इन्द्र को दे दिया और

अदिति की कामना पूरी कर दी। प्रह्लाद ने देखा कि मेरे वंश-धर पौत्र राजा बलि बन्धन से छूट गए और उन्हें भगवान का कृपा-प्रसाद प्राप्त हो गया तब उन्होंने बड़े भक्तिभाव से भगवान की स्तुति की—उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान ने उनसे कहा—'प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भी सुतललोक में चले जाओ और वहाँ अपने पौत्र बलि के साथ आनन्दपूर्वक रहो। वहाँ तुम मुझे नित्य ही हाथ में गदा लिये खड़ा देखोगे।'

मत्स्यावतार

शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित! महर्षि वसिष्ठ ने कहा है कि ऐसा पुरुष न कभी हुआ, न है और न होगा, जो परमेश्वर की महिमा का अंत पा सके। यों तो भगवान सबके एकसमान स्वामी हैं, फिर भी वे गो, ब्राह्मण, देव, साधु, वेद और धर्म की रक्षा के लिए अनेक शरीर धारण किया करते हैं। पिछले कल्प के अन्त में ब्रह्मा की असावधानी से वेद खो गये और हयग्रीव नामक दैत्य ने उन्हें चुरा लिया। भगवान ने वेद-चोर हयग्रीव को मृत्यु-दण्ड देने के लिए मत्स्यावतार लिया।

उस समय सत्यव्रत नाम का एक राजा तपस्या कर रहा था। वही सत्यव्रत इस कल्प में सूर्य के पुत्र श्राद्धदेव के नाम से विख्यात हुआ। एक दिन कृतमाला नदी में तर्पण करते समय उसकी अंजलि के जल में एक छोटी-सी मछली आ गई। उसे उसने फिर से जल में डाल दिया। उसने राजा सत्यव्रत से कहा-'राजन्! आप बड़े दीनदयालु हैं। जल में रहनेवाले जीव अपनी जातिवालों को भी खा जाते हैं। मैं उनके भय से अत्यन्त व्याकुल हो रही हूँ। आप मुझे फिर इस नदी के जल में ही क्यों छोड़ रहे हैं?' उन्होंने उस मछली को अपने पात्र के जल में रख लिया, और अपने आश्रम पर ले आये। वहाँ एक रात में ही वह मछली

इतनी बढ़ गयी कि अब कमण्डल में उसके लिए स्थान ही न रहा। तब उसने राजा से कहा—मेरे लिए कोई बड़ा-सा स्थान बता दें, जहां मैं सुखपूर्वक रह सकूँ। राजा ने तब उसे एक मटके में, फिर सरोवर में और अन्त में समुद्र में डाल दिया।

समुद्र में डाल देने के बाद राजा ने उससे कहा—'मत्स्य का रूप धारणकर मुझे मोहित करनेवाले आप कौन हैं? आपने एक ही दिन में सरोवर को भी क्षुद्र कर दिखाया। आजतक ऐसी शक्ति रखनेवाला जलचर जीव न तो मैंने कभी देखा, न सुना। अवश्य ही आप साक्षात सर्वशक्तिमान श्रीहरि हैं। मूढ़ जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही आपने जलचर का यह रूप धारण किया है। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने यह रूप किस उद्देश्य से ग्रहण किया है?'

भगवान ने कहा—'सत्यव्रत! आज से सातवें दिन पृथिवी समुद्र में डूब जायेगी। उस समय मेरी प्रेरणा से तुम्हारे पास एक बहुत बड़ी नौका आयगी। तुम समस्त प्रकार के बीजों को लेकर सप्त ऋषियों के साथ उस नौका पर चढ़ जाना। उस समय सब ओर एक सागर-ही-सागर लहराता होगा। मैं इसी रूप में यहाँ आकर तुम्हें उपदेश दूँगा। तब तुम मेरी वास्तविक महिमा और परम तत्त्व को ठीक-ठीक जान सकोगे।'

भगवान राजा सत्यव्रत को यह आदेश देकर अन्तर्धान हो गये। राजा सत्यव्रत उस समय की प्रतीक्षा करते हुए भगवान के चरणों का निरन्तर चिन्तन करने लगे। वह प्रलय-काल भी आ पहुँचा। राजा ने देखा कि समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर बढ़ा आ रहा है और प्रलयकाल के भयंकर मेघ घोर वर्षा करने लगे हैं। देखते-ही-देखते सारी पृथिवी डूबने लगी। इतने में राजा ने देखा कि वह नाव भी आ पहुँची। वे अब धान्य और दूसरे तमाम बीजों को लेकर सप्त ऋषियों के साथ उसपर सवार हो गये। सबने

एकाग्रचित्त से भगवान का ध्यान किया। उसी समय मत्स्य के रूप में भगवान प्रकट हुए। उन्हें देखकर राजा सत्यव्रत ने उनकी स्तुति की—'प्रभो! संसार के जीवों का आत्मज्ञान अविद्या से ढक गया है। इसी कारण वे संसार के अनेकों क्लेशों से पीड़ित हो रहे हैं, पर जो आपकी शरण में पहुँच जाते हैं, वे आपको प्राप्त कर लेते हैं। बंधन से छुड़ाकर मोक्ष देनेवाले आप ही हैं। यह अज्ञानी जीव अपने ही कर्मों में बँधा हुआ है। यह सुख की इच्छा से दुःखप्रद कर्म करता रहता है। जब यह आपकी सेवा-साधना से अपना अज्ञान त्याग देता है, तभी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। आप हमारे परमगुरू हैं। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ।'

शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित! जब राजा सत्यव्रत ने इस प्रकार प्रार्थना की, तब मत्स्यरूपधारी पुरुषोत्तम भगवान ने उन्हें आत्मतत्व का उपदेश किया। इसके बाद जब प्रलय का अन्त हो गया, तब भगवान ने हयग्रीव असुर को मारकर उससे वेद छीन लिये और ब्रह्माजी को दे दिये।

नवम स्कन्ध

राजा शर्याति और अम्बरीष की कथा

राजा परीक्षित ने पूछा—'भगवन् ! आपने चन्द्रवंश के अनेक यशस्वी राजाओं व भगवद्भक्तों की निर्मल कथा हमें सुनाई। अब कृपाकर वैवस्वत मनुवंश के पवित्रकीर्ति महापुरुषों का वर्णन कीजिए। मुझे उनके विषय में जानने की बड़ी इच्छा है।'

शुकदेवजी ने कहा—'परीक्षित ! ऐसे तो उनके वंश में बहुत से राजा हो चुके हैं; पर उनमें से मुख्य पुरुषों के ही मैं तुम्हें चरित्र सुनाता हूँ । सबसे पहले भक्तवर राजा अम्बरीष की पुण्यकथा सुनो।'

राजा अम्बरीष को पृथिवी का अनुपम ऐश्वर्य प्राप्त था। फिर भी वे उसे स्वप्न की जैसी संपदा मानते थे, अपने चित्त को उन्होंने श्रीहरि की मंगलमयी कथा सुनने में लगा रखा था। अपने सारे कर्म उन्होंने यज्ञपुरुष भगवान के चरणों पर समर्पित कर दिए थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान ने उनकी रक्षा के लिए सुदर्शन चक्र को नियुक्त कर दिया था। उनकी प्रजा भी भगवान के चरित्रों का श्रवण और गायन करती रहती थी। उनकी पत्नी भी उन्हीं के समान धर्मशील और भक्ति-परायण थी।

एक बार राजा अम्बरीष ने अपनी पत्नी के साथ भगवान की आराधना करने के लिए एक वर्ष तक एकादशी-व्रत का अनुष्ठान किया। कार्तिक महीने में व्रत की समाप्ति होने पर उन्होंने भगवान की पूजा की। फिर ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन्होंने उन्हें गौएं दान दीं। जब राजा ने व्रत के पारण करने की तैयार

की तो उसी समय दुर्वासा मुनि वहाँ पहुँचे। अम्बरीष ने उनके चरणों में प्रणाम कर, उनसे भोजन करने के लिए प्रार्थना की। दुर्वासा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर यमुना-स्नान करने चले गए। पर इधर द्वादशी केवल घड़ी भर शेष रह गई थी। त्रयोदशी में पारण करना वर्जित था। अतः अम्बरीष ने धर्मसंकट में पड़कर धर्मज्ञ पंडितों के साथ परामर्श किया और पूछा कि ब्राह्मण अतिथि को बिना भोजन कराये स्वयं जीम लेने तथा द्वादशी रहते पारण न करने के दोषों में मुझे कौनसा काम करना चाहिये, जिससे मुझे पाप न लगे। पंडितों ने उत्तर दिया—'धर्मशास्त्र में ऐसा कहा गया है कि जल पी लेना भोजन करना है और नहीं भी। इसलिए इस समय आप केवल जल से पारण कर लें।' भगवान का ध्यान करते हुए राजर्षि अम्बरीष ने जल पी लिया और भोजन के लिए वे दुर्वासा के लौटने की प्रतीक्षा करने लगे।

दुर्वासाजी जब स्नान-संध्यादि कर्मों से निवृत्त होकर लौटे, तब राजा ने उनका यथोचित अभिवादन किया; पर दुर्वासा ने अनुमान से ही समझ लिया कि राजा ने भोजन कर लिया है। वे क्रोध से काँपने लगे और हाथ जोड़े सामने खड़े अम्बरीष को डाँटते हुए उन्होंने कहा—'तू राज्य के मद में मतवाला हो रहा है। भगवान की भक्ति तुझे छू तक नहीं गई। तूने अतिथि-सत्कार करने के लिए मुझे निमंत्रण दिया; परन्तु मुझे खिलाये बिना ही स्वयं खा लिया देख, तुझे मैं अभी इसका फल चखाता हूँ।'

अत्यन्त क्रुद्ध दुर्वासा ने अपनी एक जटा उखाड़कर उससे अम्बरीष को मार डालने के लिए कृत्या को उत्पन्न किया। प्रकट होते ही कृत्या हाथ में तलवार लेकर उसपर टूट पड़ी; पर राजा अम्बरीष इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनका रक्षक सुदर्शन चक्र भगवान की प्रेरणा से कृत्या को नष्ट कर दुर्वासा की ओर बढ़ा। दुर्वासा प्राण बचाने के लिए वहाँ से भागे। चक्र भी

उनके पीछे-पीछे ही रहा। स्वर्ग,आकाश, पृथिवी-जहाँ भी वे गये, चक्र को उन्होंने अपने पीछे ही लगे देखा। ब्रह्मा और शंकर के पास गए और उनसे इस चक्र से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की।

ब्रह्मा और भगवान शंकर ने उनसे कहा—'भगवान के भक्त के द्रोही को बचाने में हम भी असमर्थ हैं। यह चक्र विश्वेश्वर का शस्त्र है, सो तुम उन्हीं की शरण में जाओ।' दुर्वासा भगवान की शरण में गए और उनसे कहने लगे—'हे अनन्त! मैं अपराधी हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिए। मैंने आपके भक्त का अपराध किया है, आप इस विपत्ति से मुझे बचाइये।'

भगवान ने उनसे कहा—'दुर्वासा! मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ, क्योंकि मैं ही उनका एकमात्र आश्रय हूँ। जिसका अनिष्ट करने से आपको इस विपत्ति में पड़ना पड़ा है, आप उसीके पास जाइए। निरपराध साधुओं का अनिष्ट करने के प्रयत्न से अनिष्ट करनेवाले का ही असंगल होता है।'

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित! जब भगवान ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब दुर्वासा लौटकर राजा अम्बरीष के पास आये और उनके पैर पकड़ लिये। राजा अम्बरीष ने सुदर्शन चक्र की स्तुति करते हुए कहा—'सुदर्शन! आप अग्नि-स्वरूप हैं। आप ही परम समर्थ सूर्य और समस्त नक्षत्रमण्डल के अधिपत चंद्रमा भी हैं। आपको मेरा नमस्कार है। आप परमात्मा के श्रेष्ठ तेज हैं और असुरों को भस्म करने के लिए साक्षात अग्नि हैं। आपको कोई जीत नहीं सकता। हमारे कुल के भाग्योदय के लिए कृपाकर आप महर्षि दुर्वासा का कल्याण कीजिए।'

राजा अम्बरीष के इस प्रकार वन्दना और प्रार्थना करने पर चक्र शान्त हो गया और दुर्वासा उसके तेज से मुक्त हो गए। अब वे राजा अम्बरीष की इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—'धन्य है। आज मैंने भगवान के भक्तों का प्रभाव देखा। राजन्! मैंने

आपका अपराध किया है, फिर भी आप मेरी मंगलकामना ही कर रहे हैं। जिनका हृदय उदार और करुणाभाव से परिपूर्ण है, भला वे महात्मा किस वस्तु का परित्याग नहीं कर सकते ? आपने मेरे ऊपर महान अनुग्रह कर, मेरे प्राणों की रक्षा की, आपका कल्याण हो।'

परीक्षित ! जबसे दुर्वासा भागे थे, तबसे अबतक राजा अम्बरीष ने भोजन नहीं किया था। वे उनके लौटने की राह देख रहे थे। उन्होंने दुर्वासा के चरण पकड़ लिये और उन्हें प्रसन्न करके भोजन कराया। दुर्वासा बहुत सन्तुष्ट होकर राजा अम्बरीष के गुणों की प्रशंसा करते हुए ब्रह्मलोक को चले गए।

अपने कारण दुर्वासा का विपत्ति में पड़ना और फिर अपनी ही प्रार्थना से उनका छूटना--इन दोनों बातों को अम्बरीष ने अपने द्वारा होने पर भी, भगवान की ही महिमा समझा। कुछ काल बाद पुत्रों को राज्य देकर राजा अम्बरीष तप करने वन में चले गए, और वहाँ भगवान में मन लगाकर मोहासक्ति से मुक्त हो गए।

महाराजा सगर के पुत्रों की कथा एवं गंगावतरण

परीक्षित, राजा सत्यव्रत के वंश में सगर नाम के एक बड़े यशस्वी राजा हुए। उन्होंने एक बार अश्वमेध-यज्ञ किया। उनके यज्ञ में जो घोड़ा छोड़ा गया था, उसे इन्द्र ने चुरा लिया। जब सगर के पुत्र उस घोड़े को खोजने निकले तो उन्होंने उसे कपिलमुनि के आश्रम के पास देखा और उन्हें ही चोर समझकर उनका तिरस्कार कर डाला। महात्मा कपिल का तिरस्कार करने से वे उसी क्षण स्वतः जलकर भस्म हो गये।

सगर की दूसरी पत्नी का नाम केशिनी था। उसके असमंजस नाम का पुत्र हुआ। असमंजस के पुत्र का नाम अंशुमान था। वे अपने दादा सगर की सेवा में सदा तत्पर रहते थे। अपने

चाचाओं की कोई खबर न पाकर, राजा की आज्ञा से अंशुमान घोड़े को ढूँढ़ने के लिए निकले। एक स्थान पर उन्होंने अपने चाचाओं के भस्म के ढेर के पास ही उस घोड़े व महर्षि कपिल को बैठे देखा। अंशुमान ने महर्षि को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की—

"भगवन्, आपकी महिमा अपार है। संसार के शरीरधारी आपकी माया से मोहित हो रहे हैं। वे बाहर की वस्तुओं को तो देखते हैं; पर अपने ही हृदय में स्थित आपको नहीं देख सकते। आप एकरस हैं, ज्ञानधन हैं। परम ज्ञान का उपदेश करने के लिए ही आपने यह शरीर धारण किया है, मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

भगवान कपिल ने तब अंशुमान से कहा—'बेटा! यह घोड़ा तुम्हारे पितामह का यज्ञपशु है, इसे तुम ले जाओ। तुम्हारे भस्मीभूत चाचाओं का उद्धार केवल गंगाजल से ही हो सकता है।

अंशुमान उन्हें प्रसन्न कर घोड़े को अपनी राजधानी में ले आये। राजा सगर ने उस यज्ञपशु से यज्ञ समाप्त किया। इसके बाद वे, अंशुमान् को राज्य का भार सौंप कर परमार्थ-चिन्तन में लग गये।

परीक्षित! अंशुमान ने गंगाजी को लाने की कामना से बहुत वर्षों तक तपस्या की; पर वे सफल नहीं हुए। उनके बाद उनके पुत्र दिलीप ने भी वैसी ही तपस्या की; पर वे भी असफल रहे। किन्तु दिलीप के पुत्र भगीरथ की कठोर तपस्या से प्रसन्न हो, गंगाजी ने प्रकट होकर उनसे वर माँगने को कहा। राजा भगीरथ ने बड़ी नम्रता से याचना की—'माता! आप मृत्युलोक में जीवों को पवित्र करने के लिए पधारिये।'

गंगाजी ने उनसे कहा—'भगीरथ! जिस समय स्वर्ग से पृथिवी पर उतरूँ, उस समय मेरे वेग को धारण करनेवाला भी तो

कोई होना चाहिए, नहीं तो पृथिवी को फोड़कर मैं रसातल में चली जाऊँगी। फिर पृथिवी पर लोग मेरे जल में अपने पाप धोयेंगे, मैं उन पापों से कहीं अपवित्र न हो जाऊँ ?'

इसपर भगीरथ ने कहा—'माता ! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति आदि की कामना त्याग दी है, जो संसार से विरत होकर भगवद्-भजन में ही निरन्तर लगे रहते हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ तथा लोक-पावन परोपकारी सत्पुरुष हैं—वे अपने अंग-स्पर्श से आपके भी पापों को नष्ट कर देंगे और भगवान शंकर आपके वेग को धारण कर लेंगे।'

राजा भगीरथ ने भगवान शंकर को तपस्या से प्रसन्न किया और उन्होंने भी भगीरथ का प्रस्ताव मान कर गंगा को अपने सिर पर धारण कर लिया। राजा भगीरथ आगे-आगे चल रहे थे और उनके पीछे सबको पवित्र करती हुई गंगाजी जा रही थीं। गंगासागर के संगम पर पहुँच कर उन्होंने सगर के जले हुए पुत्रों को अपने जल से पवित्र कर दिया। वे गंगाजल के स्पर्श-मात्र से सद्गति पा गये।

भगीरथ के वंश में ही राजा सौदास (कल्माषपाद) हुये। उन्हें कोई सन्तान न थी। भगवान के वे परम भक्त थे; पर किसी कारण से महर्षि वसिष्ठ ने उन्हें बारह वर्षों तक राक्षस हो जाने का शाप दे दिया था।

बारह वर्ष बीत जाने पर जब सौदास शापमुक्त हो गये तब उन्होंने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अपने को भगवद्-भक्ति में लगा दिया।

रामावतार

परीक्षित ! इन्हींके वंश में 'अज' के पुत्र महाराजा दशरथ हुए। देवताओं की प्रार्थना पर साक्षात भगवान श्रीहरि अपने

अंशों से इन्हीं दशरथ के यहाँ राम, लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न के रूप में अवतीर्ण हुए। विश्वामित्र के यज्ञ के समय राम और लक्ष्मण ने सुबाहु आदि राक्षसों का संहार किया था। लक्ष्मी ही सीता के नाम से राजा जनक के यहाँ जनकपुर में अवतीर्ण हुई थीं। भगवान राम ने उनके स्वयंवर में राजा जनक की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए शिव का धनुष तोड़ कर उन्हें वरण किया। अयोध्या लौटते समय मार्ग में उनकी परशुराम से भेंट हुई। परशुराम ने पृथिवी को अनेक बार राजवंश से रहित कर दिया था; पर भगवान राम ने उनके इस गर्व को नष्ट कर दिया।

इसके बाद विमाता कैकेयी द्वारा दशरथ से माँगे हुए वर को सत्य करने के लिए श्रीराम ने चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया; किंतु कैकेयी-नन्दन भरत ने राज्य स्वीकार नहीं किया। श्रीराम की चरण-पादुकाओं को सिंहासन पर आसीन करके वे नंदिग्राम में तप करने लगे।

रावण की बहन शूर्पणखा की बुद्धि कलुषित होने के कारण भगवान राम ने उसे विरूप कर दिया और खर-दूषण, त्रिशिरा आदि उसके भाइयों को भी रण में मार डाला। रावण ने सीताजी के रूप-गुण आदि की बातें सुनकर मारीच को मृगवेश में उनकी पर्णकुटी के पास भेजा। वह श्रीराम को छल से दूर ले गया; पर अन्त में उन्होंने उसे मार डाला। भगवान राम और लक्ष्मण के मृग के पीछे कुटी से दूर निकल जाने के कारण नीच रावण को अवसर मिला और उसने सीताजी का हरण कर लिया।

सीताजी की खोज में दुखी श्रीराम अपने अनुज लक्ष्मण के साथ वन-वन में भटके। इसी बीच उन्होंने गृद्धराज जटायु का दाह-संस्कार, सुग्रीव आदि वानरों से मित्रता और बाली का वध आदि कार्य भी किए। हनुमान द्वारा उन्होंने सीताजी का पता लगवाया और मनुष्य की-सी लीला करते हुए बन्दरों की सेना

के साथ समुद्र-तट पर पहुँचे। वहाँ भगवान राम की प्रार्थना का जब समुद्र पर कोई प्रभाव न पड़ा तब उन्होंने उसपर अपनी कोप-दृष्टि डाली। इससे भयभीत हो, समुद्र शरीर-धारण कर भगवान राम के चरणकमलों की शरण में आया और उसने इस प्रकार उनकी प्रार्थना की—

'अनन्त! मैं आपके वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सका था कि आप ही समस्त जगत के एकमात्र स्वामी हैं। अब आप मुझ-पर इच्छानुसार पुल बाँधकर बन्दरों की सेनासहित पार हो जाइये, इससे आपके महान यश का भी विस्तार होगा।'

भगवान श्रीरामचद्रजी ने पर्वतों के शिखरों से समुद्र पर पुल बांधा और सुग्रीव, नील, हनुमान आदि वीरों के साथ वानर-सेना ने लंका में प्रवेश किया। जब वानरराज सुग्रीव की सेना ने लंका को घेर लिया, तब राक्षसराज रावण ने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक, प्रहस्त, अतिकाय, विकम्पन, मेघनाद और कुम्भकर्ण आदि महान योद्धाओं को उनसे युद्ध करने के लिए भेजा। राक्षसों की वह विशाल सेना अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित और अजेय थी। पर भगवान श्रीराम ने सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान, गंध-मादन, नील, अंगद, जाम्बवान आदि वीरों के साथ उनका सामना किया और राक्षसों की उस चतुरंगिणी सेना का घोर संहार प्रारम्भ कर दिया। अपनी सेना का नाश होता हुआ देख-कर रावण श्रीराम पर अपने तीक्ष्ण बाणों से प्रहार करने लगा; परन्तु उन्होंने अपने बाणों से उसका हृदय विदीर्ण कर दिया और वह निष्प्राण होकर रथ पर से गिर गया।

तदनन्तर राक्षसियां महारानी मन्दोदरी के साथ रोती हुईं, रण-भूमि में आईं और विलाप करती हुईं रावण के पराक्रम का इस प्रकार बखान करने लगीं—'नाथ! एक दिन वह था, जब आपके भय से समस्त लोकों में त्राहि-त्राहि मच जाती थी। आप सब

प्रकार सम्पन्न थे। पर सती सीता को हर लाने के कारण ही आपकी यह दशा हुई, और आपकी यही भूल राक्षस-कुल की दुर्दशा का कारण बनी। हाय! आपका शरीर आज गिद्धों का आहार बन रहा है।'

परीक्षित! कोशलाधीश श्रीरामचन्द्र की आज्ञा से विभीषण ने अपने स्वजन-सम्बन्धियों की अंत्येष्टि-क्रिया की। अशोक-वाटिका में सीताजी विरह-व्यथा से अत्यन्त खिन्न हो रही थीं। उन्हें उस दीन अवस्था में देखकर भगवान राम का हृदय करुणा से भर आया। भगवान राम का पुनः दर्शन पा लेने से सीताजी का मुखकमल खिल उठा। वे आनन्दविभोर हो गईं। तत्पश्चात् भगवान राम ने विभीषण को लंकापुरी का राज्य देकर सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमान के साथ पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो, अयोध्या की यात्रा की।

जब भरतजी ने सुना कि मेरे बड़े भाई भगवान श्रीरामचन्द्र अयोध्या आ रहे हैं, तब वे पुरवासियों, मंत्रियों और पुरोहितों के साथ उनकी अगवानी के लिए चल पड़े। उस समय ब्राह्मण वेद-मंत्रों का उच्चारण कर रहे थे, ध्वजा-पताकायें फहरा रही थीं और सजे-सजाये रथ, घोड़े और सैनिक साथ चल रहे थे। भगवान राम को देखते ही भरत उनके चरणों पर गिर पड़े। श्रीराम ने उन्हें उठाकर गले से लगा लिया। सीता और लक्ष्मण के सहित श्रीराम ने गुरुजनों को प्रणाम किया। सारी प्रजा बड़े प्रेम से पुष्पों की वर्षा करती हुई आनन्द से विभोर हुई। भगवान ने अपनी माता कौशल्या तथा अन्य माताओं का यथायोग्य सत्कार किया, तथा सीताजी और लक्ष्मणजी ने भी उनके पाँव छुए। जैसे मृतकों में प्राण का संचार हो जाने से घरवाले हर्षित हो उठते हैं, वैसे ही माताएँ अपने पुत्रों के आगमन से प्रसन्न हो उठीं। इसके बाद गुरु वसिष्ठ ने भगवान श्रीराम को राजसिंहासन पर बैठाया

और वे पिता के समान प्रजा का पालन करने लगे।

• परीक्षित ! कुछ काल बाद लोकापवाद के कारण श्रीराम ने सीताजी का परित्याग कर दिया। वे अब महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाकर रहने लगीं। सीताजी के लव और कुश नाम के दो यमज पुत्र हुए। वाल्मीकि मुनि ने उनके जातकर्मादि संस्कार किए। लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के भी, प्रत्येक के दो-दो पुत्र हुए। कुछ काल बाद निर्वासिता सीताजी अपने पुत्रों को वाल्मीकिजी को सौंपकर स्वयं श्रीराम के चरणकमलों का ध्यान करती हुई परलोक सिधार गईं। लीला-संवरण का समय आ जाने पर भगवान श्रीराम भी अपने स्वयंप्रकाश परमज्योतिर्मय रूप में विलीन हो गए।

परीक्षित ! महाराज इक्ष्वाकु के वंशधर तथा चन्द्रवंश के अनेक राजाओं ने बहुत दिनों तक पृथिवी का शासन किया। पर शनैः-शनैः विषय-वासना में फँसकर वे कर्तव्यच्युत हो गए। इसी समय भगवान के कलावतार परशुराम धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। जिन्होंने भी परशुरामजी का मोहवश अपराध किया, वे उनके हाथों घोर दण्ड के भागी हुए।

सहस्रबाहु तथा परशुराम

परीक्षित ! हैहयवंश का अधिपति अर्जुन एक श्रेष्ठ क्षत्रिय था। उसने अपनी सेवा से भगवान दत्तात्रेय को प्रसन्न कर, उनसे एक सहस्र भुजाएं तथा किसी भी शत्रु द्वारा युद्ध में पराजित न हो सकने के ये दो वर प्राप्त कर लिये थे। उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। एक बार वह गले में वैजयन्ती माला पहने नर्मदा नदी में जल-विहार कर रहा था। उस समय कौतुक में ही उसने अपनी भुजाओं से नदी का प्रवाह रोक दिया। दशमुख रावण अपने आपको बहुत बड़ा वीर मानता था, इसलिए सहस्रार्जुन का यह

पराक्रम उसे सहन नहीं हुआ। सहस्रबाहु के पास जाकर वह उसे भला-बुरा कहने लगा। इसपर सहस्रबाहु ने उसे बिना किसी प्रयास के बंदी बना लिया; पर महर्षि पुलस्त्य के आग्रह पर उसे उसने कारागृह से छोड़ दिया।

एक दिन दैववशात् सहस्रबाहु जमदग्नि ऋषि के आश्रम पर गया आश्रम में एक कामधेनु रहती थी। उसके प्रताप से ऋषि ने हैहयाधिपति का समुचित स्वागत-सत्कार किया। कामधेनु का यह प्रताप देखकर उसने उसे अपनी राजधानी को ले चलने के लिए सेवकों को आज्ञा दी, और वे उसे लेकर चल भी दिये आश्रम पहुँचने पर परशुरामजी को उसकी इस दुष्टता का हाल मालूम हुआ। क्रुद्ध होकर वे उसके पीछे अपना भयंकर फरसा (कुठार) लेकर चल पड़े। सहस्रबाहु अर्जुन ने देखा कि ऋषिपुत्र परशुराम बड़े वेग से उसकी ओर झपटे चले आ रहे हैं, तब उसने अनेक आयुधों से सुसज्जित अपनी सेना को उन्हें रोकने की आज्ञा दी। परन्तु परशुरामजी ने अकेले ही उस सारी सेना को नष्ट कर दिया। अपने सैनिकों को विनष्ट हुआ देखकर सहस्रबाहु अर्जुन स्वयं ही युद्ध करने के लिए उनके सामने आ डटे। अपनी हजार भुजाओं से एकसाथ ही पाँच सौ बाण परशुरामजी पर उसने छोड़े; पर उन्होंने अपने एक धनुष से ही उन्हें काट डाला। अब अर्जुन एक पेड़ को उखाड़ कर उनपर झपटा; पर परशुरामजी ने अपने तीक्ष्ण कुठार से उसकी भुजाओं को काट डाला और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। इसके बाद उन्होंने कामधेनु को अपने आश्रम में लाकर उसे अपने पिताजी को सौंप दिया और सारा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया।

सब कुछ सुन लेने पर जमदग्नि मुनि ने पुत्र से कहा—'परशुराम! तुम बड़े वीर हो; पर नरदेव का व्यर्थ ही वध कर तुमने घोर पाप किया है। हम ब्राह्मण क्षमा के प्रभाव से ही संसार में

पूजनीय हैं। ब्रह्माजी ने भी क्षमा के बल से ही ब्रह्मपद को प्राप्त किया है। सर्वशक्तिमान भगवान श्रीहरि भी क्षमाशीलों पर ही प्रसन्न होते हैं। सार्वभौम राजा का वध ब्राह्मण की हत्या से भी बढ़कर है। अतः अब तुम तीर्थों में जाकर अपने पाप का प्रायश्चित्त करो।' परीक्षित ! पिता की यह आज्ञा परशुराम ने शिरोधार्य की और एक वर्ष तक तीर्थ-यात्रा करने के पश्चात् वे आश्रम में लौट आये।

एक दिन परशुरामजी की माता रेणुका, गंगातट पर स्नान करने गयी थीं। वहाँ नदी-तट की शोभा देखने में वे इस बात को भूल गईं कि पतिदेव के हवन का समय हो गया है। स्मरण आते ही वे आश्रम को शीघ्रता से लौट आईं; पर समय बीत चुका था। महर्षि जमदग्नि के शाप से भयभीत हो, जल का कलश रख, वह हाथ जोड़कर उनके सामने जा खड़ी हुईं। पर मुनि ने क्रोध से अभिभूत होकर अपने पुत्रों को उन्हें मार डालने की आज्ञा दे दी। इस आज्ञा का उनके और किसी पुत्र ने पालन नहीं किया; पर परशुरामजी ने अपने पिता की बात मानकर माता के साथ ही अपने अवज्ञाकारी भाइयों को भी मार डाला। वे अपने पिताजी के योग और तपस्या का प्रभाव जानते थे। पर उनके इस काम से महर्षि जमदग्नि ने जब प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा, तब परशुरामजी ने अपनी माता और भाइयों के पुनः जीवित हो जाने का ही वर माँगा और यह भी माँगा कि उन्हें उनके हाथों मारे जाने की बात याद न रहे। उनके ऐसा वर माँगते ही सबके सब सकुशल हो, उठ बैठे।

सहस्रबाहु के लड़कों को अपने पिता के वध की याद क्षण-भर को भी चैन नहीं लेने देती थी। एक दिन परशुरामजी अपने भाइयों के साथ आश्रम से कुछ दूर गये हुए थे। अवसर पाकर बदला लेने के लिए सहस्रबाहु के लड़के आश्रम में जा धमके।

उस समय महर्षि जमदग्नि अग्निशाला में बैठे परमेश्वर का ध्यान कर रहे थे। उन पापियों ने उसी समय उन्हें मार डाला। सती रेणुका शोकातुर हो विलाप करने लगी। परशुरामजी दूर से ही माता का करुणक्रन्दन सुनकर तुरंत आश्रम को लौट आये। वहां पिता की निर्मम हत्या देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ तथा अत्यंत क्रोध भी आया। उन्होंने पिता का मृत शरीर भाइयों को सौंप, फरसा उठा लिया और माहिष्मती नगरी में जाकर सहस्रबाहु के पुत्रों को एक-एक कर मार डाला। तत्पश्चात् अपने पिता के वध को निमित्त बनाकर उन्होंने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रियहीन किया।

परीक्षित! अब मैं तुम्हें गाधि-पुत्र विश्वामित्र के वंशजों की कथा सुनाता हूँ। विश्वामित्र ने अपने तपोबल के प्रभाव से क्षत्रियत्व का परित्याग कर ब्रह्मतेज को प्राप्त कर लिया था। इन्हींके वंश में नहुष नाम का एक राजा हुआ। नहुष के छह पुत्र थे। उनमें से बड़े पुत्र 'यति' को नहुष राज्य देना चाहता था; परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। तब राज-सिंहासन पर उसका छोटा भाई ययाति बैठा। इसी नहुष ने इन्द्रपद प्राप्त किया था; पर पीछे ऋषियों ने इसे इन्द्रपद से गिरा दिया। ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को पत्नीरूप में स्वीकार किया था। ब्राह्मण-कन्या देवयानी को पत्नी-रूप में ग्रहण करने की कथा इस प्रकार है—

शर्मिष्ठा एक दिन अपनी गुरुपुत्री देवयानी और अन्य सखियों के साथ उद्यान में घूम रही थी। उद्यान में एक सुन्दर सरोवर भी था। वे सब उसमें जलक्रीड़ा करने लगीं। सरोवर से निकलने पर भूल से शर्मिष्ठा ने देवयानी के वस्त्र पहन लिये। इसपर देवयानी क्रोध से आग-बबूला हो गई और उसने उसे बहुत बुरा-भला कहा। शर्मिष्ठा भी क्रोध से तिलमिला उठी और देवयानी को पास के एक कुएँ में ढकेल कर वहाँ से चली गई। संयोगवश राजा ययाति

शिकार खेलते उधर ही आ निकले। उन्होंने कुएँ में गिरी देवयानी को देखा और पकड़कर उसे बाहर निकाल दिया। बाहर आने पर देवयानी ने ययाति से कहा—राजन्! कुएँ में गिर जाने पर मुझे आपका अचानक दर्शन होना और आपके द्वारा मेरा हाथ पकड़कर निकाला जाना भगवान का ही जोड़ा हुआ सम्बन्ध समझना चाहिए। पूर्व में मैंने बृहस्पति के पुत्र कच को शाप दे दिया था और इसपर उसने भी मुझे शाप दे दिया कि कोई ब्राह्मण-कुमार मेरा पाणिग्रहण नहीं कर सकेगा। ययाति को यह सम्बन्ध अभीष्ट तो नहीं था; परन्तु उसने देवयानी की यह बात मान ली।

देवयानी ने अपने पिता शुक्राचार्य को वह सब हाल सुनाया जो शर्मिष्ठा ने उसके साथ किया था। शर्मिष्ठा के व्यवहार से शुक्राचार्य को भी दुःख हुआ और देवयानी के साथ वे नगर से बाहर निकल पड़े। दैत्यराज वृषपर्वा शाप दे देने के भय से गुरु शुक्राचार्य को प्रसन्न करने के लिए उनके पास जाकर उनके चरणों में गिर पड़ा। इससे शुक्राचार्य का क्षणिक क्रोध तो शांत हो गया; पर उन्होंने वृषपर्वा को देवयानी की इच्छा पूरी करने को कहा। जब उसने उनकी यह आज्ञा स्वीकार कर ली तब देवयानी ने कहा—'मैं जहाँ कहीं भी ब्याही जाऊँ, शर्मिष्ठा मेरी सेवा के लिए वहीं जाय।'

शर्मिष्ठा ने परिवार पर संकट उपस्थित देखकर देवयानी की यह बात मान ली और सहेलियों-सहित उसकी सेवा करने लगी। शुक्राचार्य ने देवयानी का विवाह राजा ययाति के साथ कर दिया और दासी के रूप में शर्मिष्ठा को भी दे दिया। ययाति से देवयानी के दो और शर्मिष्ठा के तीन पुत्र हुए। जब देवयानी को यह बात मालूम हुई, तब वह मारे क्रोध के पिता के घर चली गई। ययाति ने उसे बहुत मनाने की चेष्टा की; पर वह मानी नहीं। शुक्राचार्य ने यह सुनकर कि ययाति ने शर्मिष्ठा को भी अपनी पत्नी

बना लिया, क्रोध से ययाति को शाप दे दिया—'तू कपटी है; जा तेरे शरीर में शीघ्र बुढ़ापा आ जाय।' पर जब ययाति ने उनकी शरण में आकर कहा कि आपके इस शाप से तो आपकी पुत्री का ही अनिष्ट होगा, तब उन्होंने शाप की भीषणता को समझकर यह कहा कि 'यदि अपनी इच्छा से कोई तुझे अपनी जवानी दे दे तो तेरा बुढ़ापा मिट जायगा।'

ययाति ने पहले अपने बड़े पुत्र यदु से उसकी जवानी माँगी; पर पिता की आज्ञा को उसने स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार और भी सब पुत्रों ने पिता के इस प्रस्ताव की अवहेलना कर दी। पर अन्त में जब उन्होंने अपने कनिष्ठ पुत्र 'पूरु' से यही याचना की तब पूरु ने प्रसन्नता से उत्तर दिया—'पिता की कृपा से मनुष्य को परमपद की प्राप्ति हो सकती है। पुत्र का शरीर भी तो पिता का ही दिया होता है। ऐसी दशा में ऐसा कौन है, जो पिता के उपकारों का बदला चुका सके? उत्तम पुत्र तो वही है, जो पिता के मन की बात बिना कहे ही पूरी कर दे। कहने पर श्रद्धापूर्वक आज्ञा-पालन करनेवाले पुत्र को मध्यम कहते हैं। जो आज्ञा पाकर अश्रद्धा से उसका पालन करता है, वह अधम है; पर जो पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता, उसे पुत्र कहना ही भूल है।' उसने अपना यौवन पिता को दे दिया और उनका बुढ़ापा स्वयं स्वीकार कर लिया।

राजा ययाति ने यज्ञपुरुष श्रीहरि की अनेक यज्ञों से आराधना की। तथापि उन्हें विषय-भोगों से तृप्ति न हो सकी। एक दिन जब अपने इस अधःपतन पर ययाति ने सोचा तब उन्हें वैराग्य हुआ और उन्होंने देवयानी से कहा कि मेरे ही समान विषयी पुरुषों के सम्बन्ध में जितेन्द्रिय महात्मा विचार किया करते हैं कि 'ऐसों का कल्याण कैसे होगा!' पृथिवी में जितने भी धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सब मिलकर भी विषयी मनुष्य के मन

को संतुष्ट नहीं कर सकते। विषयों के भोगने से वासना कभी शांत नहीं होती। जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तु के साथ राग-द्वेष का भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है और उसके लिए सभी अवस्थायें सुखमय बन जाती हैं। तृष्णा से ही सारे दुःख उत्पन्न होते हैं। मन्दबुद्धि लोग बड़ी कठिनाई से तृष्णा त्याग कर पाते हैं। यद्यपि शरीर बूढ़ा हो जाता है; पर तृष्णा नित्य तरुण ही होती जाती है। जो अपना कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र ही इसका त्याग कर देना चाहिए। इसलिए अब मैं तृष्णा का परित्याग कर अपना अन्तःकरण परमात्मा को समर्पित कर सुख-दुःख अहंकारादि से मुक्त हो वन में विचरूँगा। भोग असत् है, उसके चिन्तन से ही तृष्णा बढ़ती है और अशान्तिमय जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़कर मनुष्य का भोग से नाश ही हो जाता है। इस रहस्य को जानकर विषय-भोगों से अलग रहने-वाला ही आत्मज्ञानी है।'

ययाति ने अपने पुत्र पूरु की जवानी उसे लौटा दी और अपना बुढ़ापा ले लिया। अपने पुत्रों को राज्य बाँटकर वे वन को चले गये और समस्त आसक्तियों को त्यागकर परमात्मा में लीन हो गए। तपस्या के प्रभाव से उन्होंने वह गति प्राप्त की, जो बड़े-बड़े महात्माओं को ही मिलती है।

पति के उपदेश से देवयानी को भी ज्ञान हो गया। वह भी स्वजन-सम्बन्धियों के मिलन को अब प्याऊ पर एकत्रित पथिकों-जैसा ही समझने लगी। यह सब उसे अब भगवान की माया का स्वप्न-सरीखा खेल भासित होने लगा। देवयानी ने भी आसक्तियों को त्याग कर अपने मन को भगवान में तन्मय कर परमगति को प्राप्त कर लिया।

राजा दुष्यन्त और शकुन्तला

परीक्षित! अब मैं तुम्हें राजा पूरु के वंश का वर्णन सुनाता

हूँ। तुम्हारा जन्म इसी वंश में हुआ है। पूरु के पुत्र जनमेजय हुए। इसी जनमेजय के वंश में महाराजा दुष्यन्त का जन्म हुआ था। एक बार दुष्यन्त वन में शिकार खेलने गए। वहाँ वे महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचे। उस आश्रम में देवमाया के समान एक सुन्दरी कन्या घूम रही थी। उसका नाम शकुन्तला था। दुष्यंत ने मधुर वाणी से उससे पूछा—'देवि! तुम कौन हो और किस-की पुत्री हो? क्या तुम क्षत्रियकन्या हो?' उसने उत्तर दिया—'राजन्! आपका कहना सत्य है। मैं विश्वामित्र की पुत्री हूँ। मेरा पालन-पोषण महर्षि कण्व के आश्रम में हुआ है।'

शकुन्तला की स्वीकृति से दुष्यन्त ने धर्मानुसार उससे गन्धर्व-रीति से विवाह किया और दूसरे ही दिन वे राजधानी को लौट आये। समय आने पर कण्व ऋषि के आश्रम में ही शकुन्तला के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कण्व मुनि ने वन में ही इस राजकुमार के जातकर्मादि-संस्कार किए। बालक भरत बचपन से ही इतना बलवान था कि बड़े-बड़े सिंहों को भी बलपूर्वक बाँध वह उनसे खेला करता था। कुछ समय बाद उसे साथ लेकर शकुन्तला अपने पति के पास गयी; पर दुष्यन्त ने भ्रमवश अपनी निर्दोष पत्नी और पुत्र को स्वीकार नहीं किया।

दुष्यन्त की मृत्यु के बाद यही बालक भरत चक्रवर्ती सम्राट् हुआ और आज भी संसार में उसकी महिमा का गान किया जाता है। भरत बड़े शक्तिशाली राजा थे। उन्होंने अनेक अश्वमेध-यज्ञ किये, जिनसे उन्हें लोक-यश और अंत में भगवान की भी प्राप्ति हुई।

राजा रन्तिदेव के दान की परीक्षा

परीक्षित। भरत के पुत्र न था, इसलिए भरद्वाज उनके दत्तक पुत्र हुए। इन्हीं के वंश में सुप्रख्यात रन्तिदेव का जन्म हुआ।

रन्तिदेव प्रारब्धानुसार मिली हुई वस्तु का ही उपभोग करते और उसीमें से औरों को भी देकर, अपने परिवार का निर्वाह करते थे। वे संग्रह, विग्रह, ममता आदि से अनासक्त रहते थे। एक बार उन्हें लगातार कई दिन भोजन के बिना बीत गए और पानी भी पीने [illegible] मला। ऐसे में एक दिन प्रातःकाल उन्हें कुछ भोजन और जल मिला। तब उनका परिवार बड़े संकट में था। भूख और प्यास के मारे वे मृतप्राय हो रहे थे। पर ज्योंहीं उन्होंने भोजन करना चाहा कि एक ब्राह्मण अतिथि-रूप में वहाँ आ गया।

रन्तिदेव ने बड़ी श्रद्धा से अपने उस भोजन में से पहले उस ब्राह्मण को भोजन कराया। जब ब्राह्मण भोजन करके चला गया, तब शेष अन्न को बाँटकर ज्योंही वे भोजन करने को तैयार हुए कि एक और अतिथि आ गया। रंतिदेव ने भगवान का स्मरण कर उस बचे हुए अन्न में से भी उस अतिथि को खिला दिया। जब भोजन करके दूसरा अतिथि भी चला गया, तब कुछ कुत्तों को लिए एक तीसरा अतिथि भी आ पहुँचा। उसने उनसे कहा—'राजन्! मैं और मेरे ये कुत्ते बड़े भूखे हैं। हमें कुछ खाने को दीजिये।' रन्तिदेव ने अत्यन्त आदरभाव से, जो कुछ अन्न बच रहा था वह सबका सब उसे दे दिया। अब केवल जल ही बच रहा। वे उसे आपस में बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक और अतिथि आ पहुँचा और उसने उनसे वह जल पीने को माँगा। वह प्यास से इतना व्याकुल था कि बोलने में भी उसे कष्ट हो रहा था। उसकी सकरुण वाणी सुनकर रन्तिदेव दयाभाव से अत्यन्त सन्तप्त हो उठे। उन्होंने कहा—'न मैं भगवान से साम्राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग और न मोक्ष ही। मेरी तो यही कामना है कि सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में बैठकर उनका सारा दुःख मैं ही झेलूँ, जिससे और किसी को दुःख न हो। यह प्राणी जल पीना चाहता है और जल देने से ही इसकी रक्षा होगी। मेरी भूख-प्यास की पीड़ा अब

जाती रही और मैं सुखी हो गया हूँ।' यह कहकर वह बचा जल भी उन्होंने उसे दे दिया। जल के बिना वे स्वयं संतप्त हो रहे थे; पर उनका हृदय इतना कोमल और विशाल था कि इस पुण्य कार्य से वे अपने को रोक न सके। उनके असीम धैर्य था।

परीक्षित। ये चारों अतिथि असल में भगवान की रची हुई माया के ही विभिन्न रूप थे। रन्तिदेव की परीक्षा पूरी हो जाने पर भगवान उनके सामने प्रकट हो गए। रन्तिदेव ने प्रभु के चरणों में प्रणाम किया। भगवान की कृपा से वे आसक्ति और स्पृहा से रहित हो गए और उन्होंने अपने मन को भगवान वासुदेव में तन्मय कर दिया। रन्तिदेव के अनुयायी भी उनके प्रभाव से योगारूढ़ हो गए।

इन्हीं रन्तिदेव के वंशजों में पृषत् के पुत्र द्रुपद हुए थे। द्रुपद के द्रौपदी नाम की पुत्री और धृष्टद्युम्न आदि कई पुत्र हुए। इनके वंश के राजा पांचाल कहलाये।

परीक्षित। अब मैं तुम्हारे पूर्वजों का वंश सुनाता हूँ। तुम्हारे पूर्वज राजा प्रतीप के तीन पुत्र देवापि, शन्तनु और बाह्लीक थे। इनमें शन्तनु राजा हुए। शन्तनु के छोटे भाई बाह्लीक का पुत्र सोमदत्त हुआ। सोमदत्त के पुत्र भूरि, भूरिश्रवा और शल थे। शन्तनु के बड़े पुत्र भीष्म ब्रह्मचारी ही रहे। वे समस्त धर्मज्ञों के सिरमौर, भगवान के परम भक्त, परमज्ञानी और वीरों में अग्रगण्य थे। उन्होंने अपने गुरु परशुराम को भी युद्ध में संतुष्ट किया था। शन्तनु के दूसरे पुत्र विचित्रवीर्य ने काशिराज की कन्याओं अम्बिका और अम्बालिका से विवाह किया। उनके धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र हुए। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी थीं। उनके सौ पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्र का नाम दुर्योधन था। पाण्डु की पत्नी कुन्ती और माद्री थीं। कुन्ती के युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन पुत्र हुए तथा माद्री के नकुल और सहदेव। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव और

पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाये । कुन्ती का एक और पुत्र कर्ण था। उसके पुत्र का नाम वृषसेन था ।

परीक्षित । महाराजा यदु का वंश परमपवित्र है । इस वंश में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने अवतार लिया था । जब-जब संसार में धर्म का ह्रास और पाप की वृद्धि होती है, तब-तब सर्वशक्तिमान भगवान अवतार ग्रहण करते हैं ।

दशम स्कन्ध

वसुदेव-देवकी का ब्याह और आकाशवाणी

राजा परीक्षित् ने निवेदन किया—'मुनिश्रेष्ठ ! आपने सूर्यवंश, चन्द्रवंश और यदुवंश के राजाओं का वर्णन किया है। अब कृपाकर श्रीबलराम तथा श्रीकृष्ण के परमपवित्र चरित्र भी हमें सुनाइए। श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों के जीवनदाता एवं सर्वात्मा हैं। यदुवंश में अवतार लेकर उन्होंने जो-जो लीलाएं कीं, कृपाकर हमें वे सब सुनाइए। मेरा यह शरीर अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल ही गया होता; पर जब मेरी माता श्रीकृष्ण की शरण में गई, तब उन्होंने सुदर्शन चक्रसे गर्भ में ही मेरी रक्षा की थी। अब आप उन्हीं की ऐश्वर्य एवं माधुर्यमयी गाथाओं का वर्णन कीजिए।'

तब श्री शुकदेव ने बड़े प्रेम से कहा—'परीक्षित् ! भगवान श्रीकृष्ण की कथा से वक्ता, प्रश्नकर्त्ता और श्रोता तीनों वैसे ही पवित्र हो जाते हैं, जैसे गंगा का जल या भगवान शालिग्राम का चरणामृत पीने से सभी पवित्र हो जाते हैं। दैत्यों ने राजाओं का रूप धारण कर पृथिवी को आक्रांत कर रखा था। तब उसने दुःखी हो, गौ का रूप धारण कर, अपनी कष्ट-कहानी ब्रह्माजी को सुनाई। उसकी दुःख-गाथा सुनकर भगवान शंकर के साथ उसे लेकर वे क्षीरसागर को गए। वहाँ ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं ने सर्वान्तर्यामी परमपुरुष की स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गए और उन्हें सबकुछ ज्ञात हो गया। उन्होंने

देवताओं से कहा—'देवाधिदेव ! भगवान को पृथिवी के कष्ट का पता है, इसलिए वासुदेवजी के घर वे प्रकट होंगे। पृथिवी का भार हरण करते हुए वे वहाँ अनेक लीलाएं करेंगे, अतएव तुम लोग भी अपने अंशों के साथ यदुवंश में जन्म लेकर उन्हें सहयोग दो। शेष भगवान भी उनके अग्रज के रूप में अवतीर्ण होंगे और ऐश्वर्यशालिनी माया भी अंशरूप से अवतार ग्रहण करेंगी।' इस प्रकार देवताओं को आज्ञा दे, ब्रह्माजी पृथिवी को ढाढ़स बँधा-कर ब्रह्म-धाम को चले गए।

प्राचीनकाल में यदुवंश में शूरसेन नाम के एक राजा हुए थे। वे मथुरापुरी में राज्य करते थे। उनके पुत्र वसुदेवजी विवाह के बाद अपनी पत्नी देवकी के साथ घर जाने के लिए जब रथ पर सवार हुए, तब उग्रसेन का पुत्र कंस अपनी चचेरी बहन को प्रसन्न करने के लिए, स्वयं ही रथ हाँकने लगा। इसी बीच आकाशवाणी हुई—'जिसे तू रथ में बिठाकर लिये जा रहा है, उसकी आठवीं संतान तुझे मार डालेगी।' आकाश-वाणी सुनते ही उस पापी ने तलवार खींच ली और बहन को उसी क्षण मारने को तैयार हो गया। वह अत्यन्त क्रूर था और निरन्तर पाप करते रहने से निर्लज्ज भी हो गया था। उसका यह अभिप्राय समझकर महात्मा वसुदेव उसे शांत करते हुए बोले—'राजकुमार ! आप भोजवंश के होनहार वंशधर तथा अपने कुल की कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। यह एक तो स्त्री, दूसरे आपकी बहन और तीसरे विवाह का शुभ अवसर। ऐसी स्थिति में इसकी हत्या आप कैसे कर सकेंगे ? जो जन्म लेते हैं, उनके साथ ही उनकी मृत्यु भी उत्पन्न होती है, इसलिए मरण तो अवश्यं-भावी है, आज हो या सौ वर्ष बाद ! शरीर का अन्त होने पर जीव कर्मानुसार दूसरा शरीर ग्रहण करता है और अपने पहले शरीर को भूल जाता है। जीव का मन विकारों का पुञ्ज है। देहान्त के

समय वह संचित और प्रारब्ध कर्मों के अधीन होकर जिस किसी शरीर का चिंतन करता है, उसे वही शरीर मिलता है। जैसे सूर्य, चन्द्र आदि जल में प्रतिबिम्बित होते हैं और हवा के झोंकों से हिलने पर वे चंचल दीखते हैं, वैसे ही जीव अपने अज्ञान-द्वारा रचे शरीर में राग कर, उसे अपना वास्तविक रूप मान बैठता है और मोहवश उसके आने-जाने को अपना ही आना-जाना समझने लगता है। इसलिए उसे किसी से द्रोह नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह कर्म के अधीन है। आपकी बहन अभी निरी बच्ची तथा आपकी कन्या के समान है। ऐसी दशा में आप-जैसे दीनवत्सल पुरुष को इस निरीह का वध करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।'

वसुदेवजी ने प्रशंसा, भय और भेद-नीति से कंस को बहुत समझाया; परन्तु उसने अपना क्रूर संकल्प नहीं छोड़ा। उसका विकट हठ देखकर उन्होंने सोचा कि बुद्धिमान मनुष्य को, जहाँ तक उसकी बुद्धि और बल साथ दे, मृत्यु को टालने का ही प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करने पर भी यदि वह न टले तो प्रयत्न करनेवाले का दोष नहीं कहा जाता। इस समय यदि इसे अपनी संतान दे देने का वचन देकर मैं इस दीन देवकी को बचा लूँ तो अच्छा हो। विधाता के विधान को जानना कठिन है। मृत्यु सामने आकर भी टल जाती है और टली हुई भी लौट आती है। सम्भव है, मेरा लड़का ही इसे मार डाले। सभी कुछ भाग्य के अधीन है।' ऐसा मन में निश्चय कर उन्होंने कंस से पुनः कहा—'सौम्य, आकाशवाणी के अनुसार आपको देवकी से तो कोई भय है नहीं, भय है तो उसके पुत्रों से! अतः मैं इसके पुत्र आपको लाकर सौंप दिया करूंगा।'

कंस जानता था कि वसुदेव के वचन झूठे नहीं होते और इन्होंने सभी कुछ युक्तिसंगत कहा है। इसलिए अब उसने देवकी

को मारने का विचार छोड़ दिया। देवकी बड़ी सती-साध्वी स्त्री थीं। उनके आठ पुत्र तथा एक कन्या हुई। कीर्तिमान नामक पहले पुत्र को वसुदेव ने लाकर कंस को दे दिया और इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा को निभाया। उन्हें कष्ट तो अत्यन्त हुआ; पर सत्यसन्ध पुरुष बड़े-से-बड़ा कष्ट भी झेल जाते हैं। ज्ञानियों को किसी बात की अपेक्षा नहीं होती। नीच बुरे-से-बुरा कर्म कर सकते हैं और जितेन्द्रिय सर्वस्व-त्याग भी प्रसन्नता से करते हैं।

जब कंस ने देखा कि वसुदेवजी का अपने प्रथम पुत्र के जीवन और मृत्यु में भी समानभाव है और वे सत्य में पूर्ण निष्ठावान हैं, तब वह उनसे हँसकर बोला—'आकाशवाणी ने तो कहा था कि देवकी की आठवीं संतान से मेरी मृत्यु होगी, अतः आप इस सुकुमार शिशु को ले जाइये।' वसुदेवजी शिशु को लौटा तो लाये; पर उनके मन में शंका बनी ही रही।

वसुदेवजी के चले जाने के बाद नारद कंस के यहाँ पधारे और उससे कहने लगे—'ब्रज में रहनेवाले नन्द आदि गोप और वसुदेव आदि यदुवंशी सभी देवता हैं। दैत्यों के कारण पृथिवी पर भार बढ़ गया है, इसलिए देवताओं की ओर से उनके वध की तैयारी की जा रही है।' उनके ऐसा कहने से कंस को निश्चय हो गया कि देवकी के गर्भ से विष्णु ही मुझे मारने के लिए जन्म लेंगे। इसलिए उसने वसुदेव और देवकी को कैद में डाल दिया और उनके पुत्रों को जन्मते ही मारता गया।

परोक्षित! अपने प्राणों का ही पोषण करनेवाले, मनुष्य अपने स्वार्थ के पीछे माता-पिता, भाई-बन्धु और अत्यंत हितैषी इष्ट-मित्रों की भी हत्या कर डालते हैं। कंस जानता था कि पूर्व-जन्म में मैं कालनेमि असुर था और विष्णु ने मुझे मार डाला था। इसलिए अब उसने यदुवंशियों से घोर विरोध ठान लिया। उसने अपने पिता उग्रसेन को भी कैद कर लिया और

स्वयं राज्य करने लगा।

श्रीकृष्ण-जन्म

परीक्षित ! कंस को मगधनरेश जरासंध तथा अनेक बलशाली राजाओं की सहायता प्राप्त थी। इनकी मदद से अब वह यदुवंशियों का नाश करने लगा, जिससे वे भयभीत होकर दूसरे देशों में जा बसे। उसने एक-एक करके देवकी के छहों पुत्रों की हत्या कर डाली। सातवें भगवान शेषजी ही देवकी के गर्भ में थे। भगवान ने जब देखा कि यदुवंशी बहुत ही सताये जा रहे हैं, तब उन्होंने योगमाया को आदेश दिया कि इस समय शेष देवकी के गर्भ में स्थित हैं, तुम उन्हें वहाँ से ले जाकर रोहिणी के गर्भ में स्थित कर दो। मैं अपनी सम्पूर्ण कलाओं से देवकी का पुत्र बनूँगा और तुम नंद गोप की पत्नी यशोदा के गर्भ से जन्म लेना। भगवान के आदेश से योगमाया ने वैसा ही किया।

कुछ काल बाद देवकी के शरीर की प्रसन्न कान्ति से बन्दीगृह भी प्रसन्न-सा दीखने लगा। यह देखकर कंस सोचने लगा—'इस बार मेरे प्राणों के ग्राहक विष्णु ने इसके गर्भ में अवश्य ही प्रवेश किया है; किन्तु वीरपुरुष स्वार्थवश अपने पराक्रम को कलंक नहीं लगाते। यह तो स्त्री, दूसरे मेरी बहन और तीसरे गर्भवती है, इसके मारने से तत्काल ही मेरी कीर्ति, लक्ष्मी और आयु नष्ट हो जायगी। इस प्रकार का क्रूरतापूर्ण आचरण करनेवाला मनुष्य जीवित रहते हुए भी मृत के समान है। मृत्यु के बाद लोग ऐसों की निन्दा ही करते हैं और वे घोर नरक के भागी बनते हैं। अतः इसका वध करना ठीक नहीं है।'

कंस इतना अधिक कठोर था कि देवकी को आसानी से मार सकता था; पर इस समय उसने स्वयं ही क्रूरता का विचार छोड़ दिया। अब वह विष्णु भगवान के प्रति दृढ़ वैर-भाव ठानकर

उसके जन्म की प्रतीक्षा करता हुआ सदा ही उन्हीं के चिन्तन में रहने लगा। मृत्यु के भय से सारा जगत ही उसे विष्णुमय दीखने लगा।

परीक्षित! कुछ समय बाद भगवान वसुदेव के यहां प्रकट हुए। उनके अवतीर्ण होने पर सब देव और नारदादि ऋषियों के साथ शंकर और ब्रह्माजी भी उनका दर्शन करने बन्दीगृह में पहुँचे और इस प्रकार स्तुति करने लगे-- 'प्रभो! आप सत्यसंकल्प हैं और सत्य ही आपकी प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों तत्वों में आप अन्तर्यामी-रूप से स्थित हैं और जगत के आप परामर्थ-स्वरुप हैं। इस संसार-रूपी सनातन-वृक्ष का आश्रय प्रकृति है। इस वृक्ष के दो फल सुख और दुःख, तीन जड़ें--सत्व, रज और तम; चार रस—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, छालरूपी सात धातुयें--रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, आठ शाखायें--पांच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार, मुख आदि नौ खोड़रे (द्वार) तथा दस पत्तों जैसे दस प्राण हैं। जीव और ईश्वर ये दो पक्षी इसपर बैठे हैं। इस संसाररूपी वृक्ष की उत्पत्ति के आधार एकमात्र आप ही हैं। जिनका चित्त आपकी माया से ढका हुआ है, वे इस परम सत्य को समझने की शक्ति खो बैठे हैं। आप ज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं। तत्वज्ञानी आपका ही दर्शन करते हैं। जगत के कल्याण, दुष्टों के दलन और संतों को सुख देने के लिए ही आप अनेक रूप धारण करते हैं। विरले भाग्यशाली पुरुष ही आपके रूप में एकाग्रता से चित्त लगाकर, संसार-सागर को पार कर पाते हैं। आपके भक्तजन भी विश्व के हितैषी होते हैं। वे स्वयं तो परमगति को प्राप्त करते ही हैं, साथ ही औरों के कल्याण के लिए आपके परम कल्याणमय पथ का निरूपण कर जाते हैं। सत्पुरुषों के लिए तो आप अनुग्रह-स्वरूप ही हैं; किन्तु जिनकी बुद्धि, आपके

चरणकमलों की शरण न लेने के कारण, शुद्ध नहीं है, वे व्यर्थ ही अपने को मुक्त मानते हैं। बड़ी-बड़ी साधनाएं और घोर तपस्या करने के बाद भी उनका पतन हो जाता है; पर जिन्होंने आपके चरणों में सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियों की भाँति अपने साधन-मार्ग से नहीं गिरते। वे बड़े-बड़े विघ्नों के सिर पर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं; क्योंकि आप उनके रक्षक हैं। आपके भक्त कर्मकाण्ड, अष्टांगयोग और तपस्या आदि विविध साधनों से आपकी आराधना करते हैं। प्रभो! आप सबके विधाता हैं और हम सब आपके शरणागत हैं। आपके स्वरूप का केवल अनुमान ही होता है। वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि आप दृश्य नहीं हैं। आपके गुण, जन्म और कर्म आदि के द्वारा आपके नाम और रूप का निरूपण नहीं किया जा सकता, फिर भी आपके भक्तजन उपासना द्वारा आपका साक्षात्कार करते हैं। जो पुरुष आपके मंगलमय नामों और रूपों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है और जो आपके चरणकमलों की सेवा में ही अपना चित्त लगाये रहता है—उसे फिर जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं आना पड़ता। आप सम्पूर्ण दुःखों के हरनेवाले सर्वेश्वर और अजन्मा हैं। आपने जैसे अनेक बार अवतार लेकर तीनों लोकों की रक्षा की है, वैसे ही इस बार भी पृथिवी का भार हरण कीजिये। हम पुनः आपके चरणों की वन्दना करते हैं।'

परीक्षित! भगवान की इस प्रकार स्तुति कर, ब्रह्मा और शंकर देवताओं के साथ अपने-अपने लोक को चले गए। सभी शुभ गुणों से युक्त रोहिणी नक्षत्र के सुहावने समय में, जबकि आकाश के नक्षत्र, ग्रह और तारे जगमगा रहे थे, जन्म-मृत्यु के चक्र से छुड़ानेवाले भगवान जनार्दन देवकी के गर्भ से प्रकट हुए थे। जब वसुदेवजी ने चार सुन्दर हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये एक अद्भुत बालक को, जिसके वक्षस्थल पर श्रीवत्स

का चिह्न, गले में कौस्तुभ-मणि और सुन्दर श्यामल शरीर पर पीताम्बर शोभित था, देखा तो यह जानकर कि स्वयं भगवान विष्णु ही पुत्र के रूप में मेरे यहाँ पधारे हैं, उनके आश्चर्य और आनंद का ठिकाना नहीं रहा। वे इस प्रकार भगवान की स्तुति करने लगे—'प्रभो! आप प्रकृति से परे साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। आपका स्वरूप केवल अनुभव और आनंद का विषय है, इसलिए शुद्ध बुद्धि के द्वारा आपका केवल अनुमान ही किया जाता है। आप सबके अंतर्यामी, सर्वशक्तिमान, तीनों लोकों के रक्षक तथा सबके स्वामी हैं।'

परीक्षित! माता देवकी ने भी पुरुषोत्तम भगवान की इस प्रकार स्तुति की—'नाथ! वेदों में आपके जिस रूप को अव्यक्त ब्रह्म कहा गया है, वही स्वयं आप हैं। जिसकी सीमा नहीं है, वह काल भी आपकी लीला मात्र है। आप प्रकृति के एकमात्र सहायक और परमकल्याण के आश्रय हैं। यह जीव मृत्यु का ग्रास होकर लोक-लोकान्तरों में भटकता रहा; पर इसे कहीं भी ऐसा स्थान नहीं मिला, जहाँ यह निर्भय रह सके। आज बड़े भाग्य से इसे आपके चरणारविंदों की शरण मिल सकी है। अतः अब यह स्वस्थ होकर सुख की नींद सो रहा है। भक्त भयहारी प्रभो! अब आप हमारी रक्षा कीजिये, मैं आपकी शरण लेती हूँ।'

भगवान ने देवकी से कहा—'देवि! पूर्व जन्म में तुम पृश्नि और वसुदेव सुतपा नाम के प्रजापति थे और तुम दोनों ने उत्कृष्ट तप करके मेरी आराधना की थी। उस समय प्रसन्न होकर तुम लोगों के समक्ष जब मैं इसी रूप में प्रकट हुआ तब तुम दोनों ने मुझसे मुझ-जैसा पुत्र माँगा था। जब मैंने देखा कि मुझ जैसा तो संसार में कोई दूसरा नहीं है, तब मैं तुम दोनों के पृश्निगर्भ नामक पुत्र के रूप में अवतीर्ण हुआ। फिर दूसरे जन्म में तुम अदिति थीं और वसुदेव कश्यप थे। उस बार भी वामन नाम से

तुम्हारा पुत्र हुआ और तुम्हारे इस जन्म में भी मैं तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ। अपना यह रूप मैंने तुम्हें इसलिए दिखला दिया है कि तुम्हें मेरे पूर्व अवतारों का स्मरण हो जाय। मेरे प्रति वात्सल्य, स्नेह और ध्यान से तुम्हें मेरे परम पद की प्राप्ति होगी।'

भगवान ने इतना कहकर अपनी योगमाया से नवजात शिशु का रूप धारण कर लिया। वसुदेवजी को भगवान की प्रेरणा से पुत्र को लेकर बाहर निकलने की इच्छा हुई। इसी समय यशोदा के गर्भ से योगमाया का जन्म हुआ। उसी योगमाया के प्रभाव से बन्दीगृह के द्वारपाल अचेत-जैसे सो गए। इसे सुन्दर अवसर जानकर वसुदेव भगवान श्रीकृष्ण को गोद में लेकर यमुना पार नन्दबाबा के गोकुल-ग्राम जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने पुत्र को यशोदा की शैया पर सुला दिया और उनकी नवजात कन्या लेकर पुनः बन्दीगृह में लौट आए। कारागार में आकर उन्होंने उसे देवकी की शय्या पर सुला दिया। उधर यशोदा तबतक यह न जान सकी थीं कि उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है या पुत्री, क्योंकि योगमाया ने उन्हें भी अचेत कर रखा था।

इतना सभी कुछ हो जाने के बाद नवजात शिशु के रोने की आवाज़ सुनने से द्वारपालों की नींद टूटी और उन्होंने तुरंत इसकी सूचना कंस को दे दी। कंस तो आतुरतापूर्वक इस मुहूर्त की प्रतीक्षा कर ही रहा था। द्वारपालों की बात सुनते ही वह शीघ्र सूतिकागृह में आ पहुँचा। देवकी ने उस समय उसका वह उग्र रूप देखकर बड़े दुःख और करुणा से उससे कहा—'भाई! यह कन्या तो तुम्हारी पुत्री के समान है। इस अबोध शिशु की हत्या तुम्हें नहीं करनी चाहिए। तुमने दैववश मेरे अनेक बालक मार डाले, अब केवल यह एक कन्या मुझे दे दो।'

परीक्षित! कन्या को गोद में छिपाये अत्यन्त दीनता से रोती हुई देवकी ने यह याचना की थी; परन्तु कंस तो महादुष्ट था।

उसने झपट कर वह कन्या देवकी के हाथ से छीन ली और पैर पकड़कर ज़ोर से उसे एक चट्टान पर दे मारा। लेकिन वह साधारण कन्या तो थी नहीं, कंस के हाथ से छूटकर वह आकाश में चली गई और अष्टभुजा देवी के रूप में दीख पड़ी। इसी रूप से उसने कंस से कहा—'रे मूर्ख ! मेरे मारने से तुझे क्या मिलता ? तेरे पूर्वजन्म का शत्रु तुझे मारने के लिए जन्म ले चुका है। अब तू निर्दोष बालकों की हत्या न किया कर।' कंस से इतना कहकर योगमाया अन्तर्धान हो गईं।

देवी की बात सुनकर कंस को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसी क्षण देवकी और वसुदेव को क़ैद से छोड़कर नम्रता-पूर्वक कहा—'बहन और बहनोईजी ! मैं बड़ा पापी हूँ। मैंने आपके बहुत-से बालक मार डाले, इसका मुझे बड़ा खेद है। स्वार्थवश मैंने अपने भाई-बन्धुओं और हितैषियों का भी त्याग किया है। इसलिए पता नहीं, मुझे किस नरक में जाना हो ! वास्तव में मैं जीवित होता हुआ भी मुरदे के समान हूँ। केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, विधाता भी झूठ बोलता है। उसीपर विश्वास करके मैंने अपनी बहन के बच्चों को मार डाला। प्राणिमात्र प्रारब्ध के अधीन हैं, सभीको अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इसलिए आप अपने पुत्रों के लिए शोक न करें। जैसे मिट्टी के बने पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं ; पर मिट्टी में इससे कोई परिवर्तन नहीं होता—वैसे ही शरीर का तो बनना-बिगड़ना होता ही रहता है ,आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो इस तत्व को नहीं जानते, वे इस शरीर को ही आत्मा मान बैठते हैं। यही अज्ञान है और इसीके कारण जन्म और मृत्यु होते हैं। जबतक यह अज्ञान नहीं मिटता, तबतक सुख-दुःखमय संसार से छुटकारा नहीं मिलता। अपने स्वरूप को न जानने के कारण जीव जबतक यह मानता है कि 'मैं मारनेवाला हूँ या मारा जाता हूँ' तबतक

वह अज्ञानी दूसरों को दुःख देता और स्वयं दुःख भोगता है। मेरी यह दुष्टता तुम दोनों क्षमा करो।'

अब कंस योगमाया के वचनों पर विश्वास कर वसुदेवजी से स्नेह करने लगा। देवकी ने जब उसको इस प्रकार पश्चात्ताप करते देखा तो उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। फिर वसुदेवजी ने हँसकर उससे कहा—'राजन्! आप जो कुछ कहते हैं, वह ठीक है। जीव अज्ञान के कारण ही शरीर आदि को 'मैं' मान बैठते हैं और इसीसे उनमें अपने और पराये का भेद पैदा हो जाता है। भेद-दृष्टि के कारण ही वे शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह और मद आदि से अन्धे हो जाते हैं। फिर तो उन्हें भगवान के अस्तित्व की सुधि तक नहीं रह जाती।'

कंस की अनुमति ले, वे दोनों अपने घर चले आये। उनके चले जाने के बाद कंस ने मंत्रियों को बुलाया और योगमाया ने जो कुछ कहा था वह सब उन्हें सुनाया। मंत्रियों ने कंस से कहा—'भोजराज! यदि ऐसी ही बात है तो आज ही हम नगरों, ग्रामों और बस्तियों में जितने भी बच्चे इधर दस दिन में जन्मे है, उन्हें जाकर मरवा डालते हैं। समरभीरु देवगण भी आपके धनुष की टंकार सुनकर सदा घबराये रहते हैं और युद्धभूमि में आपकी बाणवर्षा से आहत होकर प्राणों की रक्षा के लिए वे इधर-उधर भाग जाते हैं। जो अपने हथियार जमीन पर डालकर आपके सामने दीनता प्रकट करते हैं अथवा शरण में आकर 'हम भयभीत हैं, हमारी रक्षा कीजिये' ऐसा कहते हैं, वैसों को आप नहीं मारते। जो अस्त्र-शस्त्र भूल गये हों, जिनका रथ टूट गया हो, जो डर के मारे युद्ध छोड़ कर भाग गये हों और जिन्होंने युद्ध से अपना मुहँ मोड़ लिया हो, उन्हें भी आप नहीं मारते। देवता, एकान्तवासी विष्णु, वनवासी शंकर अल्पवीर्य इन्द्र और तपस्वी ब्रह्मा से भी हमें क्या भय हो सकता है? शत्रु की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए आप हम जैसे विश्वास-

पात्र सेवकों को नियुक्त कर दीजिये। जब मनुष्य के शरीर में रोग हो जाता है और उसकी चिकित्सा नहीं की जाती, तब रोग जड़ जमाकर असाध्य बन जाता है। जैसे इन्द्रियों की उपेक्षा कर देने पर उनका दमन असम्भव हो जाता है, वैसे ही शत्रु की पहले उपेक्षा कर दी जाय तो वह अपना पाँव जमा लेता है और उसे हराना कठिन हो जाता है। विष्णु वहां रहता है, जहाँ सनातन धर्म है। सनातन धर्म की जड़ वेद, गो, ब्राह्मण, तप और यज्ञ हैं। हम लोग वेदवादी ब्राह्मणों, तपस्वियों और गौओं का पूर्णरूप से नाश कर डालेंगे। तप, सत्य, इन्द्रिय-दमन, मनोनिग्रह, श्रद्धा, दया तितिक्षा और यज्ञ ये विष्णु के शरीर हैं। विष्णु ही महादेव, ब्रह्मा और सारे देवताओं की शक्ति हैं। इसलिए उसे मार डालने का उपाय ऋषियों को मार डालना है।'

परीक्षित! एक तो कंस की बुद्धि स्वयं बिगड़ी हुई थी, दूसरे उसके मंत्री उससे भी बढ़कर दुष्ट थे। इसलिए काल के फंदे में फंसे हुए कंस ने ऋषि-मुनियों और ब्राह्मणों को मार डालना ही ठीक समझा और सत्पुरुषों के वध का आदेश दे दिया। दैत्यों के सिर पर मौत नाच रही थी, इसलिए उन्होंने संतों से द्वेष किया। जो लोग सत्पुरुषों का अनादर करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्ति, धर्म, लोक-परलोक और कल्याण के समस्त साधनों को नष्ट कर देता है।

परीक्षित! नन्द बाबा बड़े उदार थे। पुत्र के जन्म से उनका हृदय आनन्द-पुलकित हो गया। उन्होंने वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलवाकर स्वस्तिवाचन और पुत्र का जात-कर्म संस्कारादि करवाया तथा वस्त्र, आभूषण, द्रव्य और गौएं दान कीं। ब्राह्मणों ने शिशु को अनेक आशीर्वाद दिये। जगह-जगह भेरी और दुन्दुभियां बजने

लगीं। गायक गान करने लगे। गोकुल में सुगंधित जल का छिड़काव किया गया। प्रत्येक घर ध्वजा-पताका, पुष्प-मालाओं, रंग-बिरंगे वस्त्रों और बन्दनवारों से भलीभाँति सजाया गया। सभी ग्वाले वस्त्र-आभूषणों से सज-सजकर भेंट की बहुत-सी सामग्रियाँ ले, नन्दबाबा के घर पहुंचे। यह सुनकर कि यशोदा के पुत्र हुआ है, गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ और वे भी भेंट की सामग्री लेकर वहाँ आयीं। नवजात शिशु को वे आशीष देतीं तथा मंगलगान करती थीं। नन्दबाबा ने गोपों का यथोचित सम्मान किया तथा शिशु के कल्याण के लिए भगवान विष्णु की प्रसन्नता के अनेक पुण्य कार्य किये।

परीक्षित ! कुछ दिनों बाद नन्दबाबा गोकुल की रक्षा का भार दूसरे गोपों को सौंपकर कंस का वार्षिक कर चुकाने के लिए मथुरा गए। वहाँ जब वसुदेव को मालूम हुआ कि नन्द मथुरा आये हैं, तो वे उनसे मिलने आये। वसुदेवजी को देखते ही नन्दबाबा ने उन्हें गले से लगा लिया। वसुदेवजी ने कहा—'भाई! बड़े सौभाग्य और आनन्द की बात है कि आज हम लोगों का मिलना हुआ। इस संसार का चक्र ही ऐसा है। जैसे नदी के प्रवाह में बहते बेड़े और तिनके सदा एकसाथ नहीं रह सकते, वैसे ही सगे-सम्बन्धियों और प्रेमियों का भी एक स्थान पर सदा रहना संभव नहीं होता, क्योंकि सभी के प्रारब्ध-कर्म अलग-अलग होते हैं। मनुष्य के लिए वे ही धर्म, अर्थ और काम शास्त्र-विहित हैं, जिनसे उसके स्वजनों को सुख मिले। जिनसे केवल अपने-आपको सुख किन्तु स्वजनों को दुःख मिलता है वे धर्म, अर्थ और काम हितकारी नहीं हैं। भाई ! तुमने राजा कंस का कर चुका दिया और हम–तुम मिल भी लिये, अतः अब तुम्हें यहाँ अधिक नहीं ठहरना चाहिए, क्योंकि इन दिनों गोकुल में बड़े उत्पात हो रहे हैं।' नन्दबाबा उनके कथानुसार मथुरा से शीघ्र ही चल दिये।

रास्ते में वे सोचने लगे कि वसुदेवजी के वचन झूठे नहीं हो सकते, इसलिए उनके मन में ब्रज में उत्पात होने की शंका और भी दृढ़ हो गई, और यह निश्चय कर कि भगवान ही हमारी रक्षा करेंगे, श्रीहरि का स्मरण और चिन्तन करने लगे।

परीक्षित ! पूतना नाम की एक महाक्रूर राक्षसी थी। कंस की आज्ञा से वह बच्चों को मारने के लिए घूमा करती थी। एक दिन वह एक सुन्दरी का छद्मवेश धारण कर नन्दबाबा के घर पहुँची। वहाँ उसने बालक कृष्ण को पालने में सोता हुआ देखा और उन्हें अपनी गोद में उठा लिया। उसका हृदय तो महाकुटिल था, परंतु ऊपर से उसके सुन्दर व्यवहार से रोहिणी और यशोदा ने उसे रोका नहीं। उसने चुपके से श्रीकृष्ण के मुख में अपना विष-लगा स्तन दे दिया। श्रीकृष्ण दूध पीने लगे। इनके दूध पीने से उसे इतना कष्ट हुआ कि वह अपने को अधिक देर तक न छिपा सकी और राक्षसी के रूप में प्रकट हो गई। स्तन छुड़ाने का उसने बहुत प्रयत्न किया; पर असफल रही। अन्त में उसके प्राण पखेरू उड़ गए और वह निष्प्राण होकर पृथिवी पर गिर पड़ी। उसके भयानक शरीर को देखकर सब डर गये। पर जब उन्होंने देखा कि कृष्ण उसकी छाती पर निर्भय खेल रहे हैं, तब उनकी घबड़ाहट दूर हुई और उन्होंने प्रसन्नता से उन्हें अपनी गोद में उठा लिया। यशोदा, रोहिणी और गोपियों ने श्रीकृष्ण के मंगल के लिए देवताओं से प्रार्थना की। इसी समय नन्दबाबा और उनके साथी गोप मथुरा से गोकुल वापस आए। उन्होंने जब पूतना का वह मृत शरीर देखा तो सब आश्चर्य-चकित रह गए। वे आपस में कहने लगे—'वसुदेव के रूप में अवश्य ही किसी ऋषि ने जन्म लिया है, अथवा पूर्वजन्म में वे कोई योगेश्वर रहे होंगे। उन्होंने सा कहा था, वैसा ही उत्पात यहाँ देखने में आ रहा है।' नन्द-बाबा ने मृत्यु के मुख से बचे अपने लाल को गोद में उठा लिया,

और अत्यन्त आनन्द से बार-बार उनका माथा सूँघा। पूतना को उसके सारे पाप नष्ट हो जाने के कारण, वह परम गति मिली, जो महात्माओं को ही मिलती है।

परीक्षित ! एक बार भगवान श्रीकृष्ण का जन्म-दिवस मनाने के लिए यशोदाजी ने पुत्र का मांगलिक अभिषेक किया। ब्राह्मणों ने मंत्र पढ़कर बालक को आशीर्वाद दिया और यशोदाजी ने अन्न, वस्त्र, गाय, धन आदि से उन्हें सम्मानित कर विदा किया। अब जब बालक को वे नहला चुकीं, तब उन्होंने देखा कि बच्चे को नींद आ रही है। उन्होंने उन्हें शैया पर एक छकड़े के नीचे सुला दिया और आप ब्रजवासियों के स्वागत-सत्कार में लग गयीं। जब श्रीकृष्ण की नींद खुली तो वे पाँव उछालने लगे। उनका पैर लगते ही वह छकड़ा उलटकर टूट गया और उसपर रक्खी दूध-दही की मटकियाँ व दूसरे सभी बरतन फूट गए। उत्सव में जितनी भी स्त्रियाँ आई थीं, वे सभी और यशोदा, रोहिणी, नंदबाबा और गोपगण इस विचित्र घटना को देखकर चिंतित हुए। वे छकड़े के इस प्रकार उलट जाने का कारण कभी भी निश्चित नहीं कर सके। जब वहाँ पर के खेलनेवाले बालकों ने कहा कि कृष्ण ने ही इस छकड़े को उलट दिया है। तो किसी ने भी उनकी बात पर विश्वास नहीं किया। यशोदाजी ने इसे अनिष्ट ग्रह का उपद्रव समझकर वेदमंत्रों से ग्रह-शांति-पाठ कराया। जो किसी में द्वेष-दृष्टि नहीं रखते, झूठ नहीं बोलते, दम्भ, ईर्ष्या और हिंसा नहीं करते—ऐसे सत्यशील ब्राह्मणों का आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता, ऐसा सोचकर नन्दबाबा ने उनके द्वारा वेद-मन्त्रों से पवित्र किये जल से बालक का अभिषेक कराया।

परीक्षित ! एक दिन की बात है, यशोदाजी अपने प्यारे लल्ला को गोद में लेकर दुलार रही थीं। सहसा श्रीकृष्ण भारी बन गए।

अतः यशोदाजी ने उन्हें ज़मीन पर बिठा दिया और आप घर के काम में लग गयीं। इसी बीच कंस का निजी सेवक तृणावर्त, अपने मालिक की प्रेरणा से, बवंडर के रूप में आकर बालक श्रीकृष्ण को आकाश में उड़ा ले गया। ज़ोर की आंधी और धूल की वर्षा में अपने पुत्र का पता न पाकर यशोदा रोने लगीं। उनके रोने की आवाज़ सुनकर दूसरी गोपियाँ भी वहाँ दौड़ आयीं। बालक को न देखकर उन्हें भी बड़ी चिन्ता हुई और वे सबकी सब फूट-फूट कर रोने लगीं।

उधर तृणावर्त श्रीकृष्ण को उड़ा तो ले गया; पर उनके भारी बोझ को न सम्भाल सका और उनके साथ ही ब्रज में आ गिरा, जिससे उसके प्राण-पखेरू उड़ गये; पर श्रीकृष्ण का बाल भी बांका नहीं हुआ। यह काण्ड देखकर गोपियाँ अत्यन्त विस्मित हुईं और वे झटपट श्रीकृष्ण को यशोदा के पास ले आईं। बालक को सकुशल वापस पा जाने से यशोदा और नन्द के आनन्द का पारावार न रहा। वे आपस में आश्चर्य से कहने लगे—'मृत्यु-रूप उस दुष्ट बवंडर-रूपी राक्षस के हाथों में पड़कर भी यह नन्हा-सा बालक जीता-जागता लौट आया और इसका हत्यारा अपने पापों का फल भोगने यमपुर चला गया। हमने ऐसा कौन-सा तप, भगवान की पूजा, यज्ञ, दान, और जीवों की भलाई की थी, जिसके पुण्य प्रताप से यह बालक अपने स्वजनों को सुखी करने पुनः जीवित लौट आया?'

परीक्षित! तपस्वी गर्गाचार्य यदुवंशियों के कुल-परोहित थे। एक दिन वसुदेवजी की प्रेरणा से वे गोकुल पहुँचे। नन्दबाबा ने देखते ही बड़ी प्रसन्नता से उनके चरणों में प्रणाम किया और उनसे विनयपूर्वक कहा—'पूज्यवर! आपकी मैं क्या सेवा करूँ? आप जैसे महात्माओं का हमारे घर आ जाना ही परम कल्याणमय है। आपने ज्योतिषशास्त्र की रचना की है, अतः दयाकर मेरे इन

दोनों बालकों के नामकरणादि संस्कार सम्पन्न करा दें।'

उनका आग्रह सुनकर गर्गाचार्यजी ने उनसे कहा—'नन्दजी! मैं यदुवंशियों के आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हूँ। यदि मैं तुम्हारे पुत्र के से संस्कार करूँ तो लोग शंका करने लगेंगे कि यह देवकी का पुत्र है। कंस की कुबुद्धि पाप ही सोचा करती है। वसुदेवजी के साथ तुम्हारी घनिष्ठ मित्रता है, इसलिए यदि वह इस बालक को वसुदेवजी का पुत्र समझ कर मार डाले तो मुझसे बड़ा अन्याय हो जायगा।'

पर जब नन्दबाबा ने उनसे चुपचाप बालकों का नामकरण कर देने का आग्रह किया तब उन्होंने कहा—'यह रोहिणी का पुत्र अपने उत्तम गुणों से अपने सम्बन्धियों व मित्रों को आनन्दित करेगा। इसलिए इसका नाम 'राम' और क्योंकि इसके बल की सीमा नहीं होगी इसलिए इसका नाम 'बल' भी होना चाहिए। अतः इसका नाम 'बलराम' हुआ। दूसरा जो साँवला है, वह प्रत्येक युग में शरीर धारण करता है। क्योंकि इसका वर्ण कृष्ण है, इसलिए इसका नाम 'कृष्ण' हुआ। यह तुम्हारा पुत्र वसुदेवजी के घर पैदा हुआ था, इसलिए इस रहस्य को जानने वाले इसे 'वासुदेव' भी कहेंगे। जो लोग तुम्हारे इस साँवले-सलोने शिशु से प्रेम करते हैं, वे बड़े भाग्यशाली हैं। नन्दजी! चाहे जिस दृष्टि से देखो; गुण, सम्पत्ति, सौन्दर्य, कीर्ति और प्रभाव में तुम्हारा यह बालक भगवान नारायण के समान है। तुम बड़ी सावधानी और तत्परता से इसकी रक्षा करना। इस प्रकार नन्दबाबा को भलीभांति समझाकर गर्गाचार्यजी अपने आश्रम को लौट आये। उनकी बातें सुनकर नन्दबाबा बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने को कृतकृत्य समझा।

बाल-लीला

परीक्षित! कुछ ही दिनों में 'बलराम' और 'घनश्याम'

अपने सहज बालक्रीड़ा से गोकुल के लोगों को आनन्दित करने लगे। जब वे कुछ और बड़े हुए, तब ऐसी बाल-लीलाएं करते, जिन्हें देख-देखकर अपना काम-धन्धा छोड़ आनन्द में डूब जातीं। वे ग्वालबालों के साथ ब्रज में निकल पड़ते और तरह-तरह के खेल खेलते।

एक दिन माता यशोदा से गोपियाँ कन्हैया की करतूत का बखान करती हुई कहने लगीं—'यशोदा मैया! यह तेरा कान्हा बड़ा नटखट हो गया है। हमारा दही-दूध-मक्खन चुरा-चुराकर खा जाता है। यह स्वयं खाता तो है ही, वानरों को भी खिलाता है और पेट भर जाने से जब वे भी नहीं खा पाते तो यह हमारे मटकों को भी फोड़ डालता है। जब मटकों को हम छीकों पर रख देती हैं और इसके नन्हे हाथ वहाँ तक नहीं पहुँच पाते तो नीचे से यह लकुटी से भाँड़ों में छेद कर देता है।'

गोपियाँ इस प्रकार उलाहना देती हुई बालकृष्ण के मुखकमल को देखती भी जाती थीं। उनकी यह दशा देखकर यशोदाजी उनके मन का भाव ताड़ गयीं। इससे उनके हृदय में आनन्द की बाढ़ आ गई। वे आनन्द से हँसने लगीं और कन्हैया को फटकार भी नहीं पाईं।

एक दिन ग्वालबाल श्रीकृष्ण के साथ खेल रहे थे। उन लोगों ने माता यशोदा से जाकर कहा कि 'कन्हैया ने मिट्टी खाई है।' यह सुन यशोदाजी ने श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ लिया और डाँटते हुए पूछा—'क्यों रे, तूने मिट्टी क्यों खाई?' भगवान ने कहा—'माँ! मैंने मिट्टी नहीं खाई। ये व्यर्थ ही बक रहे हैं। यदि तुम इन्हीं की बात सच मानती हो तो मेरा मुहँ देख लो।' श्रीकृष्ण ने अपना मुहँ खो[illegible] दिया।'

[illegible]क्षित! भगवान का ऐश्वर्य अनन्त है। उन्होंने केवल ली[illegible] लिए ही मनुष्य-देह धारण किया था। मुँह खोलते

ही यशोदाजी ने उनके मुँह में आकाश, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदी, सम्पूर्ण चराचर जगत और अपने आपको भी उसी में देखा। वे भय और विस्मय से काँप गईं और सोचने लगीं कि क्या यह स्वप्न है या भगवान की माया ? कहीं मुझे बुद्धि-भ्रम तो नहीं हो गया है ? सम्भव है मेरे इस बालक में कोई योग-सिद्धि हो।

इस प्रकार जब माता यशोदा श्रीकृष्ण का परमात्म-तत्व समझ गईं, तब सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक प्रभु ने अपनी योगमाया का उनके हृदय में पुनः संचार कर दिया और वे तुरन्त वह घटना भूल गईं। उन्होंने प्रेमावेश में अपने लाल को गोद में उठा लिया और उनके हृदय में मातृस्नेह का समुद्र उमड़ पड़ा। सारे वेद, उपनिषद, सांख्य, योग और भक्तजन जिनके माहात्म्य का गीत गाते-गाते अघाते नहीं—उन्हीं भगवान को यशोदाजी अपना पुत्र मानती थीं।

राजा परीक्षित ने पूछा— 'नन्दबाबा और यशोदाजी ने ऐसी कौन-सी साधना या तपस्या की थी, जिसके कारण स्वयं भगवान उनके घर पधारे ?' शुकदेवजी ने कहा— परीक्षित ! नन्दबाबा पूर्व जन्म में एक श्रेष्ठ वसु थे। उनका नाम 'द्रोण' था और यशोदाजी धरा थीं। एक बार उन्होंने ब्रह्माजी से प्रार्थना की—'भगवन् ! जब हम पृथिवी पर जन्म लें, तब नारायण में हमारी अनन्य प्रेममयी भक्ति हो।' ब्रह्माजी ने उन्हें वरदान दे दिया। वे ही परम यशस्वी द्रोण व्रज में नन्द के नाम से विख्यात हुए और धरा यशोदा के नाम से उनकी पत्नी हुईं।

परीक्षित ! एक दिन यशोदाजी दही मथ रही थीं कि श्रीकृष्ण आकर माता की गोद में बैठकर दूध पीने लगे। पर अंगीठी पर रखे हुए दूध में उफान आया देखकर यशोदाजी बालक को अतृप्त ही छोड़कर दूध उतारने चली गईं। इससे श्रीकृष्ण रूठ गये।

दही का मटका फोड़कर वहाँ से वे भाग गए। यशोदाजी लौट कर आईं तो दही का मटका फूटा पाया। श्रीकृष्ण की खोज करने पर उन्होंने देखा कि वे चुपके से छींके पर से मक्खन उतार कर बंदरों को खिला रहे हैं। अतः उन्हें दण्ड देने के लिए वे आगे बढ़ीं। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि माँ छड़ी लिये उन्हींकी ओर आ रही हैं, तो वे वहाँ से भागे। परीक्षित! बड़े-बड़े योगी तपस्या के द्वारा अपने मन को अत्यन्त शुद्ध करके भी जिन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, उन्हीं भगवान को पकड़ने के लिए यशोदाजी दौड़ रही थीं। वे बड़ी मुश्किल से उन्हें पकड़ पाईं और डराने-धमकाने लगीं। पर जब उन्होंने देखा कि लल्ला अधिक डर गया है, तब उनके हृदय में मातृ-स्नेह उमड़ आया। उन्हें अपने बालक के ऐश्वर्य का पता नहीं था, अतः और उत्पात न करे, इसलिए उन्होंने उसे पास पड़े ऊखल से बाँध देने का निश्चय किया। पर बाँधते समय रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ गई। तब उन्होंने दूसरी रस्सी लाकर जोड़ी और फिर तीसरी। वे ज्यों-ज्यों रस्सी जोड़ती गईं, वे सब मिलकर भी, दो अंगुल छोटी ही पड़ती गईं। यह देखकर वे आश्चर्यचकित हो गईं। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि माँ बहुत थक गई हैं तो वे आपही बँध गये और संसार को दिखला दिया कि 'मैं भक्तों के वश में हूँ।'

परीक्षित! जिसके न बाहर है, न भीतर; जिसका न आदि है न अंत; जो जगत के पहले भी था, बाद में भी रहेगा, जो जगत के भीतर भी है और बाहर भी, जो जगत के रूप में स्वयं है और जो समस्त इंद्रियों से परे और अव्यक्त है—उसी परमेश्वर को पुत्र समझकर यशोदाजी ने रस्सी से ऊखल में बाँध दिया, मानो वह कोई साधारण-सा बालक हो।

बँध जाने पर श्यामसुन्दर ने पास खड़े उन दोनों अर्जुन वृक्षों को मुक्ति देने का सोचा, जो पहले यमराज कुबेर के पुत्र—नल-

कूबर और मणिग्रीव थे, किंतु देवर्षि नारद के शाप से वृक्ष बन गए थे। ये कुबेरपुत्र एक दिन मन्दाकिनी के तट पर मदिरा पीकर उन्मत्त हो गए। संयोगवश देवर्षि नारद उधर ही आ निकले। उन्होंने देखा कि ये देव-पुत्र होकर भी मदिरा-पान से उन्मत्त हो रहे हैं। अतः उनपर अनुग्रह करने के लिए उन्हें शाप देते हुए उन्होंने कहा—'ऐश्वर्य और यौवनमद से अंधा होकर मनुष्य अपने नाशवान शरीर को ही अजर-अमर मान बैठता है। इसके लिए वह प्राणियों से द्रोह तथा उनका वध करने में नरक का भी भय नहीं करता। शरीर एक साधारण-सा पदार्थ है। यह प्रकृति से उत्पन्न होकर उसीमें लीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में मूर्ख पशुओं के सिवा ऐसा कौन होगा, जो इसको आत्मा मानकर दूसरों को कष्ट पहुँचायगा या उनके प्राण लेगा? साधु पुरुष समदर्शी होते हैं। संतों के संग से लोगों की लालसा, तृष्णा और बुरी वृत्तियाँ मिट जाती हैं और अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। जिन महात्माओं के चित्त में सबके प्रति समभाव है, जो केवल भगवान के चरणारविंदों का मकरंदरस पीने के लिए ही सदा उत्सुक रहते हैं, उनके संग से दुर्बल भी पवित्र हो जाते हैं। किंतु ये कुबेर के पुत्र स्वर्ग में वास करने पर भी कुमार्गगामी हैं, इसलिए ये वृक्षयोनि में जायं जिससे इनका अभिमान नष्ट हो जाय।'

परीक्षित! ये ही नलकूबर और मणिग्रीव दो अर्जुन-वृक्ष होकर यमलार्जुन के नाम से प्रसिद्ध हुए। भगवान श्रीकृष्ण के ऊखलसहित उन दोनों वृक्षों के बीच में घुस जानेसे वे बड़े जोर से पृथिवी पर गिर पड़े और शाप-मुक्त होकर भगवान श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति करने लगे—'हे सच्चिदानन्दस्वरूप! व्यक्त और अव्यक्त सम्पूर्ण जगत आपका ही रूप है। आप ही समस्त प्राणियों के स्वामी, सर्वशक्तिमान काल तथा सर्वव्यापक अविनाशी परमेश्वर हैं। हम आप भगवान वासुदेव को नमस्कार करते हैं। आप

समस्त लोकों के कल्याण के लिए ही अपनी समस्त शक्तियों से युक्त होकर धराधामपर अवतीर्ण हुए हैं। आप सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाले, परम शान्त और सबके हृदय में विहार करनेवाले यदुवंश-शिरोमणि को हमारा नमस्कार है। हे अनन्त! हम आपके दासानुदास हैं।'

तब भगवान ने कहा--'तुम लोग ऐश्वर्यमद से अन्धे हो रहे थे, अतः देवर्षि नारद ने तुम लोगों पर यह कृपा ही की, जो शाप दे दिया। अब तुम मत्परायण होकर अपने लोक को चले जाओ।' वे दोनों उत्तर दिशा को चले गये।

वृक्षों के गिरने के भयंकर शब्द को सुनकर नन्दबाबा आदि गोप वहां आये। सोचने लगे कि यह ऐसी आश्चर्यजनक घटना कैसे घटी! कारण कुछ भी न समझ सकने से वे चिन्तित हुए। बूढ़े गोपों ने विचार किया कि इस समय व्रज में तो बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं, अतः कुछ दिन वृन्दावन जाकर ही रहना ठीक है। इसपर सब गोपों ने उनके विचार का अनुमोदन किया और अपने-अपने गोधन व घर-गृहस्थी का सामान लेकर वृन्दावन के लिए चल पड़े। वहां पहुँचने पर वृन्दावन का हरा-भरा बन, मनोहर गोवर्धन-पर्वत और यमुना के सुन्दर तीर को देखकर श्रीकृष्ण और बलराम बड़े प्रसन्न हुए।

वृन्दावन में एक दिन वे दोनों यमुना-तट पर अपने बछड़े चरा रहे थे। उसी समय एक बछड़े का रूप धारण कर एक दैत्य उनके झुण्ड में आ घुसा; पर भगवन ने उसे तुरंत पहचान लिया और पृथिवी पर पटक कर उसे मार डाला।

परीक्षित! सारे लोकों के रक्षक श्याम और बलराम बछड़ों को चराते हुए वृन्दावन में एक वन से दूसरे वन में घूमा करते थे। वहां एक दिन ग्वालबालों ने बछड़ों को यमुना-तट के किनारे पानी पिलाते समय देखा कि एक बहुत बड़ा-सा जीव जल के

किनारे ही बैठा है। वह बक नाम का असुर बगले का रूप धारण करके वहाँ आया था। मौका देखकर वह भगवान श्रीकृष्ण की ओर अपनी कठोर चोंच से प्रहार करने के लिए झपटा। किन्तु उन्होंने कंस के सखा उस बकासुर की चोंच दोनों हाथों से पकड़ ली और उसे चीर डाला।

बकासुर के वध की घटना सुनकर सभी गोप-गोपी आश्चर्य-चकित हो गये और उन्हें ऐसा लगा मानो उनका कन्हैया मृत्यु के मुख से ही लौटा है। वे आपस में कहने लगे—'आश्चर्य की बात है! इस बालक को कई बार मृत्यु का सामना करना पड़ा; पर इसके अनिष्ट करनेवाले ही विनष्ट हो गये हैं। सच है, महात्मा-ओं के वचन कभी झूठे नहीं होते। महात्मा गर्गाचार्य ने जितनी बातें कहीं सभी सत्य हो रही हैं।

एक दिन खेल के समय ही अघासुर नाम का एक और दैत्य वहाँ पहुँचा। श्रीकृष्ण और ग्वालबालों की वह आनंदमयी बाल-क्रीड़ा उससे न देखी गई। वह एक अजगर का रूप धारण कर मार्ग में लेट गया। अघासुर का रूप देख बालकों ने उसे भी वृन्दावन की एक शोभा समझा और सभी उसके मुख में प्रवेश कर गये; लेकिन भगवान श्रीकृष्ण समझ गए कि यह कोई राक्षस है। पर जब उन्होंने देखा कि बेचारे ग्वालबाल, जिनका रक्षक एकमात्र मैं ही हूँ, मृत्युरूप अघासुर की जठराग्नि के शिकार बन गए हैं, तब वे वह उपाय सोचने लगे, जिससे उस दुष्ट की मृत्यु और साथ ही उन भोले-भाले बालकों की रक्षा भी हो जाय। उपाय सोचकर वे उसके मुंह में इतनी शीघ्रता से घुसे कि उसका गला ही रुँध गया और वह दम घुटकर मर गया। इस प्रकार अघासुर को मारकर श्रीकृष्ण ने अपने सखा ग्वालबालों का कल्याण किया। वह मूर्तिमान 'अघ' ही था। भगवान ने उसे मारकर अपने भक्तों को काल के मुख से बचाया।

इसी प्रकार श्याम और बलराम अनेक प्रकार की बाल-क्रीड़ा करते वृन्दावन में अपनी बाल्यावस्था व्यतीत कर रहे थे। परीक्षित ! भगवान श्रीकृष्ण ज्ञानी संतों के लिए स्वयं मूर्तिमान आत्मानुभव, दास्यभाव के भक्तों के लिए अनेक आराध्यदेव प्रभु तथा परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर और मायामोहित विषयान्धों के लिए केवल एक मनुष्य-बालक थे । ब्रजवासी ग्वालबालों के सौभाग्य की महिमा क्या कही जाय, जिनके साथ वही भगवान विभिन्न प्रकार के खेल खेला करते थे।

ब्रह्माजी का मतिभ्रम !

एक दिन भगवान श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे थे। श्रीकृष्ण की लीला में वे सब ऐसे तन्मय हो गए थे कि उन्हें अपने बछड़ों की भी, जो हरी घास के पीछे जंगल में दूर निकल गए थे, खबर नहीं रही पर जब ग्वालबालों को बछड़ों की याद आई और वे उन्हें लौटा लाने के लिए चलने को उद्यत हुए तो श्रीकृष्ण ने उन्हें रोक दिया और स्वयं ही बछड़ों को ढूँढ़ने चल दिये। इसी बीच ब्रह्माजी को भगवान की लीला देखने की इच्छा हुई। उन्होंने बछड़ों और ग्वालबालों को ले जाकर कहीं छिपा दिया। श्रीकृष्ण बछड़े न मिलने पर जब लौटे तो देखा कि ग्वालबाल भी वहां नहीं हैं। खोज करने पर भी जब ग्वालबाल और बछड़े उन्हें नहीं मिले तो वे समझ गए कि यह सब ब्रह्मा की करतूत है। अतः उन्होंने अपनी माया से ठीक वैसे ही और उतने ही दूसरे बछड़े और ग्वालबाल रच डाले। इस प्रकार सर्वात्मा श्रीकृष्ण मायाकृत बछड़ों और ग्वालबालों के साथ वन और गोष्ठ में क्रीड़ा करते रहे।

ब्रह्माजी जब पुनः ब्रज में आय तो उन्होंने देखा कि भगवान श्रीकृष्ण ग्वालबालों और बछड़ों के साथ पहले की भांति ही क्रीड़ा

कर रहे हैं। यह देखकर वे विचारने लगे कि ये वैसे ही दूसरे बालक और बछड़े कहां से आ गये ? उन्होंने अपने छिपाये स्थान पर भी उन्हें वैसा ही देखा। दोनों जगह एक से बालकों और बछड़ों को देखकर वे समझ ही न सके कि इसमें कौन से सच्चे और कौन माया के रचे हुए हैं ! ब्रह्माजी अपनी माया से मोहित करने चले थे भगवान श्रीकृष्ण को ; परन्तु आप ही उससे मोहित हो गए। वे यह सोच ही रहे थे कि इसी बीच उन्हें सारे ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्ण के रूप में दिखाई पड़ने लगे। उन्होंने यह भी देखा कि समस्त चराचर जीव अलग-अलग भगवान के रूपों की उपासना कर रहे हैं। यह आश्चर्यमय दृश्य देखकर वे चकित हो उठे।

परीक्षित ! भगवान का स्वरूप तर्क से परे है और उसकी महिमा असाधारण है। वेद-वेदांत भी उनके वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते हैं। यद्यपि ब्रह्माजी समस्त विद्याओं के अधिपति हैं, फिर भी इस समय वे भगवान के दिव्यस्वरूप को नहीं समझ पाये। भगवान श्रीकृष्ण ने उनकी यह असमर्थता देखकर जब अपनी माया को हटा लिया, तब कहीं ब्रह्माजी को वास्तविकता समझ में आई। अब उन्होंने देखा कि अद्वितीय परब्रह्म गोप-बाल के रूप में नाट्य कर रहे हैं। वे प्रेम में गद्‌गद् हो गए और इस प्रकार स्तुति करने लगे—

'प्रभो। आपके इस वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामल शरीर पर बिजली के समान पीताम्बर शोभा पा रहा है तथा सिर पर मोर-मुकुट की यह छटा अलौकिक है। आपका यह श्रीविग्रह भक्तजनों की प्रेमाभिलाषा पूर्ण करनेवाला है। जो लोग सन्तों का संग करते हैं और आपकी लीला-कथा का रसास्वादन विनम्र होकर किया करते हैं, आप सहज ही उनके अधीन हो जाते हैं। आपकी भक्ति कल्याण का मूल स्रोत है। हे अनन्त ! आपके

सगुण-निर्गुण-रूपों का ज्ञान अत्यन्त कठिन होने पर भी निर्गुण स्वरूप की महिमा शुद्ध अन्तःकरण से जानी जा सकती है। ऐसा कौन है, जो आपके सगुण स्वरूप के अनंत गुणों को जान सके ? क्योंकि आपकी महिमा का ज्ञान तो बड़ा ही कठिन है। जो मनुष्य प्रतिक्षण आपकी कृपा का अनुभव करता रहता है, जो प्रारब्ध के अनुसार सुख या दुःख जो भी प्राप्त हो उसे निर्विकार मन से ग्रहण कर लेता है और जो सम्पूर्ण हृदय, गद्गद् वाणी और पुलकित शरीर से अपने को आपके चरणों में समर्पित कर देता है, वह आपके परमपद का अधिकारी हो जाता है।

"यह सम्पूर्ण विश्व केवल आपकी माया-ही-माया है। अभी आपने मुझे अपनी माया का खेल दिखलाया है। पहले आप अकेले थे। फिर सम्पूर्ण ग्वालबालों और बछड़ों को मैंने आपके ही चतुर्भुज-स्वरूप में देखा, और देखा कि मुझ सहित समस्त तत्व उनकी सेवा कर रहे हैं। आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्डों का रूप भी धारण कर लिया था; परन्तु अब आप केवल अपरिमित, अद्वितीय ब्रह्मरूप से ही शेष रह गए हैं। जो लोग अज्ञानवश आपके स्वरूप को नहीं जानते, उन्हींको आप प्रकृति में स्थित जीव-रूप से भासित होते हैं। आप सारे जगत के स्वामी और विधाता हैं और अजन्मा होते हुए भी आप नाना अवतार ग्रहण करते हैं। आप दुष्टों का गर्व तोड़कर सत्पुरुषों पर अनुग्रह करते हैं। आप परमानन्द, परमज्ञानस्वरूप, अनन्त एवं एकमात्र पूर्ण-सत्य हैं। आप नित्य हैं। जो तत्वज्ञान-रूपी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर उससे अपने स्वरूप में आपका साक्षात्कार कर लेते हैं, वे इस मिथ्या संसार-सागर को पार कर जाते हैं।

"संसार-सम्बन्धी बन्धन और उससे मोक्ष—ये दोनों ही नाम अज्ञान-कल्पित हैं। वास्तव में ये अज्ञान के ही दो नाम हैं। वस्तुतः ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं हैं। जैसे

सूर्य में दिन और रात का भेद नहीं है, वैसे ही आत्मा का न बन्धन है और न मोक्ष। हे अनंत! आप तो सबके अंतःकरण में ही विराजमान हैं, अतः संतजन आपके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है, उसका परित्याग करते हुए अपने भीतर ही आपको ढूँढ़ते हैं। भगवन्! मैं चाहता हूँ कि जीवनभर आपकी वन्दना ही करता रहूँ।"

परीक्षित! संसार के स्रष्टा ब्रह्मा ने इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति की और फिर उन्हें प्रणाम कर वे सत्यलोक को चले गए। उधर ब्रज के बालकों ने अपने घर जाकर कहा कि आज यशोदा मैया के लाड़ले नन्दनन्दन ने वन में एक बड़े भारी अजगर को मारकर हम लोगों की रक्षा की है।

राजा परीक्षित ने पूछा—'ब्रजवासियों का श्रीकृष्ण में इतना अधिक अनुराग कैसे हुआ?"

श्रीशुकदेवजी कहा—'राजन्! संसार के सभी प्राणी अपने आत्मा को सबसे बढ़कर प्रेम करते हैं। जो देह को ही आत्मा मानते हैं, वे भी अपने शरीर से जितना प्रेम करते हैं, उतना प्रेम शरीर के सम्बन्धी पुत्र-कलत्र-मित्र आदि से नहीं करते। जब विचार के द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि यह शरीर मैं नहीं हूं; यह शरीर मेरा है। तब इस शरीर से भी आत्मा के समान प्रेम नहीं रहता। इन श्रीकृष्ण को ही तुम सब आत्माओं का आत्मा समझो। संसार के कल्याण के लिए ही योगमाया का आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारी के समान जान पड़ते हैं। जो लोग श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप के जानते हैं, उनके लिए तो इस जगत में कुछ भी चराचर पदार्थ अथवा इससे परे परमात्मा, ब्रह्म, नारायण आदि जो भगवत्स्वरूप हैं, सभी श्रीकृष्ण-स्वरूप ही हैं। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कोई प्राकृत-अप्राकृत वस्तु नहीं है। जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्दमुरारि के पादपल्लवों की नौका का आश्रय ले लिया है,

उनके लिए इस भवसागर को पार करना एक साधारण-सी घटना है। उन्हें परमपद प्राप्त हो जाता है और उनके लिए फिर यह संसार कष्टकर नहीं रहता।'

परीक्षित! छठें वर्ष में श्रीकृष्ण गौएं चराने ग्वाल-बालों के साथ जाने लगे। आगे-आगे गौएं, पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए श्यामसुन्दर, उनके पीछे बलराम और सबसे पीछे वे सब ग्वाल-बाल वन में जाया करते थे।

परम रमणीक वृन्दावन को देखकर नन्दनन्दन बहुत आनन्दित होते। वे अपने सखा ग्वालबालों के साथ गोवर्धन की तराई में, यमुना-तट पर गौएँ चराते हुए गोपबालों के जैसे ही अनेक प्रकार की लीलाएं करते थे। इस समय वन इतना मनोहर हो रहा था कि उसे देखकर एक दिन श्रीकृष्ण ने अपने बड़े भाई बलरामजी से कहा—'दाऊ! देखिये, वृक्ष भी अपनी डालियों से सुन्दर फूलों और फलों की सामग्री लेकर आपके चरण-कमलों में ऐसे झुक रहे हैं, मानो प्रणाम कर रहे हों! भैया! यद्यपि आप इस वृन्दावन में अपने ऐश्वर्यमय रूप को छिपाकर बालकों की लीला कर रहे हैं, फिर भी आपके भक्तजन मुनिगण अपने इष्टदेव को पहचानकर, आपका यशगान कर रहे हैं। देखिए, ये मोर आपको देखकर आनन्दित हो कैसे नाच रहे हैं। हरिनियाँ अपनी सुन्दर चितवन और मृदुल ध्वनि से आपका स्वागत कर रही हैं। ये वनवासी आपके चरण-कमलों का दर्शन पाकर धन्य हो रहे हैं।'

बलराम और श्रीकृष्ण के सखाओं में प्रधान श्रीदामा नामक एक गोपबालक था। एक दिन उसने श्रीकृष्ण से कहा—'कन्हैया, यहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक बहुत बड़ा ताड़ का वन है। वहां सारे दिन ताड़ के पके फल गिरते रहते हैं। पर धेनुक नाम के एक दुष्ट दैत्य ने उन फलों पर रोक लगा रक्खी है। वह वहीं रहता

है और न जाने उसने कितने मनुष्य खा डाले हैं। उसके डर से पशुपक्षी तक उधर नहीं जाते। वहां के फल हमने कभी खाये तो नहीं; पर बड़े सौंधे मालूम पड़ते हैं। देखिये, उनकी मन्द-मन्द सुगन्ध यहां भी आ रही है। कन्हैया! उनकी सुगन्ध से उन्हें पाने को मेरा मन मचल रहा है। तुम हमें वे फल अवश्य खिलाओ। दाऊ आप वहां हम सबके साथ अवश्य चलिये।"

श्याम और राम दोनों प्रसन्न हो उस तालवन को चल पड़े। वहाँ जाकर बलरामजी ने ताड़ के पेड़ों को हिला-हिलाकर बहुत-से फल नीचे गिरा दिये। धेनुक ने जब उनके गिरने की आवाज़ सुनी तो वह उनकी ओर दौड़ा। पर जब बलरामजी पर उसने चोट की तब उन्होंने उसकी टाँग पकड़कर उसे एक ताड़ के पेड़ से ऐसा दे पटका कि वह वहीं ढेर हो गया। उसकी चोट से वह ताड़ का पेड़ तो ज़ोर की आवाज़ करता गिर ही पड़ा, सटे हुए अनेक दूसरे वृक्षों को भी उसने तोड़ डाला। धेनुकासुर के मारे जाने पर उसके भाई-बंध आग-बबूला होकर बलराम और कृष्ण पर टूट पड़े। उनकी ऐसी धृष्टता देखकर श्रीकृष्ण ने उन सबको ताड़ के पेड़ों से एक-एक करके दे पटका। उन दैत्यों के मारे जाने पर सारे ग्वालबाल इच्छानुसार वहाँ के तालफल तोड़-तोड़कर खाने लगे।

कालिय-दमन

एक दिन ग्रीष्म ऋतु में श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ यमुना-तट पर विचरण करने गए। प्रचण्ड गर्मी के कारण गौओं और ग्वालबालों के कण्ठ वहाँ प्यास से सूखने लगे और भूल से उन्होंने यमुना का विषैला जल पी लिया। उसके पीते ही वे सब निष्प्राण होकर यमुना-तट पर गिर पड़े। पर उन्हें भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी अमृतमयी दृष्टि से जिला दिया।

परीक्षित! उस समय यमुना का जल महाविषधर कालियनाग

ने विषैला कर दिया था। भगवान श्रीकृष्ण ने उसे इसलिए वहाँ से निकाल दिया कि यमुना का जल पवित्र पीने योग्य हो सके।

राजा परीक्षित ने पूछा—'मुनिवर! वह सर्प तो जलचर जीव नहीं था, फिर वह वहाँ रहा कैसे? भगवान ने उसका किस प्रकार दमन किया?'

शुकदेवजी ने उत्तर दिया—'यमुना में कालियनाग का एक कुण्ड था। उसका जल विष की गर्मी से खौलता रहता था। उस विषैले जल की छोटी-छोटी बूँदें भी यदि तट के घास-पात, वृक्ष अथवा पशु-पक्षी को छू जातीं तो उनकी तत्काल मृत्यु हो जाती थी। श्रीकृष्ण ने जब देखा कि इस सर्प के तीव्र विष से यमुना भी दूषित हो गई है तब वे पहले एक कदम्ब के पेड़ पर चढ़ गये और फिर उस खौलते हुए जल में कूदकर हाथों से वहाँ का जल और भी उछालने लगे। कालियनाग ने वह आवाज़ सुनी और देखा कि कोई साहसी पुरुष ज़बरदस्ती मेरे स्थान में घुसा है। उसके क्रोध का पार नहीं रहा और वह तुरन्त श्रीकृष्ण के सामने आ गया। उसने देखा कि एक साँवला-सलौना अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर बालक निर्भय होकर जल में खेल रहा है। इस अद्भुत छवि पर से यद्यपि उसकी दृष्टि हटती ही नहीं थी, फिर भी क्रोध से उसने श्यामसुन्दर को अपनी कुण्डली में जकड़ लिया और अनेक मर्म-स्थानों में डँस भी लिया। श्रीकृष्ण को नागफाँस में बँधा हुआ देखकर किनारे पर खड़े उनके प्यारे सखा ग्वालबाल दुःख और भय से मूर्छित हो पृथिवी पर गिर पड़े।

इधर व्रज में भयंकर उत्पात और अपशकुन सूचना दे रहे थे कि शीघ्र ही कोई अशुभ घटना घटनेवाली है। नन्दबाबा यह सब देखकर चिन्तित थे कि आज कन्हैया बलराम को साथ लिये बिना अकेला ही गौएं चराने क्यों चला गया? श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व थे। मन में आशंका आते ही वे और अधिक देर रुक न

सके। गोप-गोपियों के साथ अत्यन्त कातर होकर अपने प्यारे कन्हैया को देखने की उत्कट लालसा से यमुना-तट की ओर वे तुरन्त चल पड़े। दूर से ही उन्होंने देखा कि कालियदह में नाग की कुण्डली से बँधा उनका प्यारा कन्हैया अचेत-सा हो रहा है और किनारे पर साथ के ग्वालबाल भी बेहोश पड़े हैं। गौएं, बैल, बछड़े भी आर्तस्वर से चिल्ला रहे हैं। व्रज में सबका मन तो श्रीकृष्णमय हो रहा था। अब यह सब देखकर उनके दुःख की सीमा न रही। गोपियों ने जब श्यामसुन्दर को महाविषधर सर्प के पाश में अचेत-सा देखा तो मारे वेदना के वे मूर्छित हो गईं। अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे जीवन-सर्वस्व के बिना उन्हें तीनों लोक सूने दीखने लगे। माता यशोदा तो अपने लाड़ले-लाल के पीछे कालियदह में कूदने ही जा रही थीं; परन्तु गोपियों ने उन्हें पकड़ लिया। इस समय सबकी आँखें एकमात्र श्रीकृष्ण के मुखकमल को ही निहार रही थीं। जिनके चित्त में थोड़ी चेतना थी वे व्रजमोहन कृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाएं कह-कहकर यशोदा-जी को धैर्य बँधा रही थी। नन्दबाबा भी अपने लाल के लिए कालियदह में कूदने को तत्पर हो गये। पर बलरामजी ने सबको समझा-बुझाकर साहस दिलाया और जो न मान रहे थे, उन्हें बलपूर्वक रोक दिया।

परीक्षित! नागफाँस में बँध जाना तो भगवान की मनुष्यों की जैसी लीला थी। जब उन्होंने व्रजवासियों को अत्यन्त दुःखी और म्लान देखा तो वे उस बंधन से सहज ही बाहर निकल आये। अपनी यह विफलता देखकर वह सर्प अब क्रोध से फण ऊँचे कर-कर फुफकारने लगा। उसके नथनों से विष की फुहारें निकलने लगीं। श्रीकृष्ण उछलकर उसके एक सौ एक फणों पर सवार हो गये। उसके उन फणों पर बहुत-सी लाल मणियाँ थीं। वह अपने जिस सिर को नहीं झुकाता, उसीको श्रीकृष्ण अपने पैरों से कुचल

देते। इससे कालियनाग की जीवन-शक्ति क्षीण हो चली और उसके मुँह और नाक से रक्त बहने लगा। नटवर भगवान के इस अद्भुत नृत्य से कालियनाग के फण छिन्न-भिन्न हो गए। अब उसे जगत के आदिरक्षक नारायण की स्मृति हुई और वह मन-ही-मन भगवान की शरण में गया। पति की दुर्दशा देखकर उसकी साध्वी नागपत्नियाँ भी भगवान की शरण में आईं और उन्हें प्रणाम कर अपने पति की मुक्ति के लिए विनय करने लगीं—

"प्रभो! दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही आपने यह अवतार लिया है, इसलिए इस अपराधी को दण्ड देना सर्वथा उचित ही है। आपकी दृष्टि में शत्रु और मित्र का कोई भेद नहीं है। यदि आप किसीको दण्ड देते हैं तो वह उसके पापों का प्रायश्चित्त कराने और उसके परम कल्याण के लिए ही। आपने हम लोगों को दर्शन देकर बहुत अनुग्रह किया है। आज हमारे सारे पाप नष्ट हो गए। अवश्य ही पूर्वजन्म में हमारे पतिदेव ने कोई बहुत बड़ी तपस्या की होगी, अथवा सब जीवों पर दया करते हुए इन्होंने कोई महान धर्मकार्य किया होगा। तभी तो आप इनके ऊपर संतुष्ट हुए हैं। भगवन्! हम नहीं समझ पातीं कि यह इनकी किस साधना का फल है, जो ये आपके चरणकमलों की धूल पाने के अधिकारी हुए। प्रभो! जो आपके चरणों की शरण लेते हैं, वे भक्तजन स्वर्ग का राज्य, पृथिवी का भोग और ब्रह्मपद की भी इच्छा नहीं करते। यहाँतक कि वे जन्म-मृत्यु से छुड़ानेवाले कैवल्य मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते। प्रभो! आप अनन्त, अचिन्त्य ऐश्वर्य के अक्षयनिधि तथा सब प्रकार के ज्ञान और अनुभवों के भण्डार हैं। भगवन्! साधु पुरुष सदा से ही हम अबलाओं पर दया करते आये हैं। अतः आप हमारे प्राणस्वरूप पतिदेव को हमें देकर कृतार्थ कीजिए। हम आपको बार-बार प्रणाम करती हैं।"

परीक्षित ! जब नाग-पत्नियों ने भगवान की इस प्रकार प्रार्थना की तो उन्होंने उस अर्धमृत कालियनाग को मुक्त कर दिया। धीरे-धीरे जब उसके शरीर में थोड़ी चेतना आई और कठिनाई से वह श्वास लेने लगा, तब उसने हाथ जोड़कर भगवान से कहा—"नाथ ! हम जन्म से ही तमोगुणी और बहुत दिनों के बाद भी बदला लेनेवाले क्रोधी जीव हैं। अपना स्वभाव छोड़ देना हम जैसे जीवों के लिए बहुत कठिन है। इसी कारण हम नाना-प्रकार के दुराचारों में फँस जाते हैं। अब आप चाहें तो हमपर कृपा कीजिये अथवा दण्ड दीजिये।"

भगवान ने उसकी प्रार्थना सुनकर उससे कहा—'सर्पराज ! अब तेरा यहाँ रहना ठीक नहीं है। तू अपने बंधु-बान्धवों के साथ शीघ्र ही यहाँ से समुद्र में चला जा। अब तेरा शरीर मेरे चरण-चिह्नों से अंकित हो गया है, अतः गरुड़ तुझे नहीं खायंगे।' भगवान की आज्ञा पाकर कालियनाग ने पहले पत्नियों सहित, जगत के स्वामी गरुड़ध्वज भगवान श्रीकृष्ण का बड़े भक्तिभाव से पूजन किया और फिर वह समुद्र को चला गया।

कालियनाग को समुद्र भेजकर भगवान कृष्ण दिव्यमालाओं से विभूषित कुण्ड से बाहर निकले। उनको देखते ही सभी ब्रज-वासी इस प्रकार उठ खड़े हुए, जैसे प्राणों के पुनः संचार से इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं। वे बड़े स्नेह और प्रसन्नता से अपने कन्हैया को हृदय से लगाने लगे। नन्दबाबा और यशोदाजी की प्रसन्नता का तो पार ही नहीं था। उन्होंने आनन्द के आँसुओं से अपने लाल को नहला दिया।

परीक्षित ! श्रीकृष्ण और बलरामजी इसी प्रकार अपने अनेक कौतुकों से ब्रजवासियों के हृदय को प्रसन्न रख रहे थे। एक दिन वे ग्वालबालों के साथ और दिन की भाँति वन में गौएँ चरा रहे थे। उसी समय प्रलम्ब नाम का एक असुर ग्वालबाल के वेश में वहाँ

आया। उसकी मंशा कुछ अनिष्ट करने की थी; पर श्रीकृष्ण उसे देखते ही सबकुछ ताड़ गए। खेल-ही-खेल में वह बलरामजी को अपनी पीठ पर चढ़ाकर फुर्ती से भागा और बहुत आगे बढ़ गया। पर अन्त में बलरामजी के बोझ को दूर तक न ले जा सकने से वह अपने स्वाभाविक दैत्यरूप में प्रकट हो गया। इधर बलरामजी ने भी देखा कि यह मुझे चुराये लिये जा रहा है तो उन्होंने अपने घूँसे का ऐसा वज्र-प्रहार उसके सिर पर किया कि उसका मस्तक चूर-चूर हो गया और वह प्राणहीन होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। इससे ग्वालबालों की प्रसन्नता और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने बलरामजी के प्रति अपनी-अपनी शुभ कामनाएँ प्रकट कीं।

ऋषि-पत्नियों को उपदेश

एक बार ग्रीष्म ऋतु में अपने ऊपर वृक्षों को छाया करते हुए देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने ग्वालबालों से कहा—'मित्रो! देखो, ये वृक्ष कितने भाग्यशाली हैं। इनका सारा जीवन दूसरों की भलाई में ही बीतता है। ये स्वयं तो हवा के झोंके, वर्षा, धूप और ठण्ढ सभी कष्ट झेलते हैं, पर दूसरों की इनसे रक्षा करते हैं। इन्हींका जीवन श्रेष्ठ है, क्योंकि इनसे दूसरे प्राणियों को सहारा मिलता है और उनका जीवन-निर्वाह होता है। जैसे किसी सज्जन के घर से कोई भी याचक खाली हाथ नहीं लौटता, वैसे ही इन वृक्षों से भी सबको कुछ-न-कुछ मिलता ही रहता है। इसी प्रकार मनुष्य को भी चाहिए कि जहाँ-तक हो सके धन से, वाणी से और अपने प्राण देकर भी वह दूसरों की भलाई करता रहे।'

इसपर ग्वालबालों ने बलरामजी से कहा—'बलराम! तुम बड़े पराक्रमी हो, साहस के अनेक कार्य तुमने किये हैं। इस समय

भूख हमें अत्यन्त सता रही है, अतः तुम और कृष्ण इसे शांत करने का कोई-न-कोई उपाय शीघ्र करो।' ग्वालबालों से श्रीकृष्ण ने तब कहा—'मित्रो! यहाँ से थोड़ी ही दूर पर ब्राह्मण स्वर्ग की कामना से यज्ञ कर रहे हैं। तुम उनकी यज्ञशाला में जाओ और मेरा नाम लेकर भोजन की कुछ सामग्री माँग लाओ।' ग्वालबालों ने भगवान की आज्ञा मानकर यज्ञशाला में जाकर भोजन माँगा। किंतु स्वर्ग-जैसे तुच्छ फलों की इच्छा से यज्ञ करने में मस्त ब्राह्मणों ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया और यह नहीं जाना कि परब्रह्म श्रीकृष्ण ही ग्वालबालों के रूप में स्वयं उनसे भोजन माँग रहे हैं। जब उन अज्ञानियों ने उनका सम्मान नहीं किया, तब वे निराश होकर वहाँ से लौट आये। भगवान ने ग्वालबालों को समझाया कि संसार में असफलता तो बार-बार होती ही है, किंतु उससे निराश न होकर प्रयत्न करते रहने से अंत में अवश्य सफलता मिलती है। इस बार तुम लोग उनकी पत्नियों के पास जाकर कहो कि—'राम और कृष्ण के लिए कुछ भोजन दीजिए।'

वे ब्राह्मणियाँ बहुत काल से भगवान कृष्ण की मनोहर लालीएँ सुन रही थीं और सदा उनके दर्शन के लिए प्यासी रहती थीं। वे उसी क्षण स्वादिष्ट भोजन सामग्री लेकर भगवान श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित हो गईं। भगवान ने दर्शन की प्यासी उन ब्राह्मण-पत्नियों से कहा—'महाभाग्यवती देवियो! तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम्हारी इस निःस्वार्थ प्रेम-भक्ति का अभिनंदन करता हूँ। अब तुम लोग मेरा दर्शन कर चुकीं, इसलिए अपनी यज्ञशाला में लौट जाओ।'

ब्राह्मण-पत्नियों ने कहा—'अन्तर्यामी! आपका यह उपदेश निष्ठुरता से भरा है। श्रुतियों का मत है कि जो एक बार भगवान को प्राप्त कर लेता है, उसे फिर इस दुःखमय संसार में आना नहीं पड़ता। आप अपनी इस वेदवाणी को सत्य कीजिए, हम आपकी

शरणागत हैं।" उनके ये नीतियुक्त वचन सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'देवियो! तुम लोग अपने-अपने घर जाओ और अपना शुद्ध चित्त मुझमें लगा दो। इससे शीघ्र ही तुम मुझे प्राप्त कर लोगी।'

परीक्षित! इसके अनन्तर श्रीकृष्ण ने प्रेम से लाई गई उन स्वादिष्ट भोजन-सामग्रियों को सब ग्वालबालों के साथ आनन्द से ग्रहण किया। उधर ब्राह्मणों को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण तो स्वयं परब्रह्म ही हैं, तब उन्हें बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ। वे अपने को धिक्कारते हुए कहने लगे कि यद्यपि ऊँचे कुल में हमारा जन्म हुआ, गायत्री ग्रहण कर हम द्विजाति हुए, वेदाध्ययन और बड़े-बड़े यज्ञ किये; किन्तु भगवान में अगाध प्रेम होने के कारण हमारी पत्नियां धन्य हैं। न तो ये गुरुकुल में रहीं, न इन्होंने तपस्या ही की है और न आत्मतत्व और विवेक का ही आश्रय लिया है; किन्तु केवल पुण्यकीर्ति श्रीकृष्ण के पादपद्मों में प्रीति हो जाने से गृहस्थी के कठिन बन्धनों को इन्होंने सहज ही काट डाला। हम मूढ़ जन भगवान को पहचान नहीं सके। कृपानिधि भगवान हमारे इस गुरुतर अपराध को क्षमा करें।

गोवर्द्धन-धारण

परीक्षित! वृन्दावन में श्रीकृष्ण और बलरामजी ने एक दिन देखा कि सभी गोप किसी यज्ञ की तैयारी में लगे हैं। उन्होंने नन्दबाबा से पूछा—'बाबा! यह कौन-सा उत्सव आ पहुँचा है? कृपाकर हमें बतलाइये कि यह यज्ञ किस प्रकार से किया जाता है और इसके क्या फल हैं? कुछ लोग समझ-बूझकर कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, पर बहुत-से लोग बिना समझे ही कर्मों में लग जाते हैं, उनमें समझ-बूझकर कर्म करनेवाले ही विशेषकर सफल होते हैं। अभी जो कुछ आप लोग करने जा रहे हैं, क्या वह शास्त्रसम्मत है?"

नन्दबाबा ने उत्तर दिया—"बेटा ! इन्द्र देवता मेघों के स्वामी हैं। सबको तृप्त करनेवाला जीवनदाता जल इन्द्रदेव ही बरसाते हैं। हर वर्ष इस समय उन्हीं मेघपति इन्द्र का हम लोग पूजन किया करते हैं। जिन सामग्रियों से यह यज्ञ होता है, वे भी इन्हीं के बरसाये जल से उत्पन्न होती हैं। यह हमारी कुल-परम्परा का धर्म है।"

बालक कृष्ण ने उपदेश-सा करते हुए बूढ़े नन्दबाबा से कहा—'बाबा ! प्राणी अपने कर्मों से ही जन्म और मृत्यु को पाता है। उसे अपने कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मंगल की प्राप्ति होती रहती है। यदि कर्मों को ही सबकुछ न मानकर उससे भिन्न जीवों को कर्मफल देनेवाला ईश्वर माना भी जाय तो वह कर्म करनेवालों को ही उनके कर्म के अनुसार फल दे सकता है। कर्म न करनेवालों पर उसकी प्रभुता कुछ नहीं चलने की। यदि सभी प्राणी अपने कर्मों के फल ही भोग रहे हैं तो हमें इंद्र की क्या आवश्यकता है? जो यह पूर्व संस्कार के अनुसार मिलनेवाले कर्मफल को बदल ही नहीं सकता, तब उससे क्या प्रयोजन? मनुष्य को तब उचित है कि पूर्व संस्कारों के अनुसार वह अपने वर्ण व आश्रम के अनुकूल धर्मों का पालन करता हुआ कर्म का ही आदर करे। सत्व, रज और तमोगुण की प्रेरणा से ही मेघ सर्वत्र जल बरसाते हैं। उससे अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से जीवों की जीविका चलती है। इसमें भला इंद्र का क्या लेना-देना है? वह कर ही क्या सकता है?'

श्रीकृष्ण की ये युक्तिपूर्ण बात गोपों ने बड़ी प्रसन्नता से मान ली। उन्होंने ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर वही सामग्री गिरिराज गोर्वधन को भेंट कर दी। कुछ काल बाद वे श्रीकृष्ण के साथ व्रज लौट आये। जब यह बात इंद्र को विदित हुई तब उन्हें बड़ा क्रोध आया। उसे अपने पद का भारी अभिमान था और

वह अपने आप को त्रिलोक का ईश्वर समझता था। अतः उसने प्रलयकारी मेघों को ब्रज पर बरसने की आज्ञा दी और स्वयं भी नन्द के ब्रज का नाश करने के लिए पराक्रमी मरुद्गणों के साथ वहां पहुँचा। इंद्र की आज्ञा से मेघ ब्रज पर अत्यन्त वेग से मूसलाधार पानी बरसाने लगे। चारों ओर बिजलियां चमकने लगीं, प्रचण्ड आंधी के साथ ओले बरसने लगे और ब्रज-भूमि का कोना-कोना पानी से भर गया। सब गोप व्याकुल होकर श्रीकृष्ण की शरण में आय। भगवान ने जब देखा कि वर्षा, ठण्ड और ओलों के आघात से सारे गोप पीड़ित हो रहे हैं, तब उन्होंने उनकी रक्षा करने और उसे निभाने की अपनी प्रतिज्ञा स्मरण कर खेल-ही-खेल में गिरिराज गोवर्द्धन को उखाड़ कर उसे बाएं हाथ पर धारण कर लिया। उन्होंने गोपों से अपनी गौएं और सामग्रियों के साथ उसी पर्वत के नीचे निर्भय हो आ जाने को कहा। भगवान के आदेश से गोप अपने-अपने गोधन के साथ गोवर्धन के नीचे खड़े हो गये। श्रीकृष्ण ने सात दिनों तक उस पर्वत को उसी प्रकार उठाये रक्खा। श्रीकृष्ण का यह प्रभाव देखकर इंद्र के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने मेघों को और अधिक उत्पात करने से रोक दिया। वर्षा बंद हो जाने पर जब सारे गोप पर्वत के नीचे से बाहर आ गए, तब भगवान ने गोवर्द्धन को फिर अपने पूर्वस्थान पर रख दिया। माता यशोदाजी, रोहिणी, नंदबाबा और दूसरे गोपों ने स्नेहातुर होकर कृष्ण को गले लगाया और आशीर्वाद दिये।

परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण का ऐसा अतुल प्रभाव देखकर इंद्र का गर्व जाता रहा। वह उनके पास आय और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—'भगवन्! आपका स्वरूप परमशांत, ज्ञानमय, निर्गुण एवं विशुद्ध सत्वमय है। यह गुणों के प्रवाहरूप से प्रतीत होनेवाला प्रपंच केवल मायामय है, किंतु आपका स्वरूप

न जानने के कारण ही आपमें इसकी प्रतीति होती है। जब आपका संबंध अज्ञान और देहादि से है ही नहीं, तब उन्हींके कारण होने-वाले लोभ, क्रोधादि आपमें कैसे सम्भव हैं? फिर भी धर्म का रक्षण और दुष्टों का दमन करने के लिए आप अवतार लेते हैं। आप जगत का नियन्त्रण करने के लिए दुस्तर काल हैं। मुझ जैसे अज्ञानी, भक्तिमार्ग का आश्रय लेकर ही आपका भजन करते हैं। आप सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। मैं आपकी शरण में हूँ।'

देवराज इन्द्र ने जब भगवान श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति की, तब उन्होंने कहा—'इन्द्र! तुम ऐश्वर्यमद से मतवाले हो रहे थे। इसलिए मैंने तुम्हारा यज्ञ भंग करके तुमपर अनुग्रह ही किया है। जिससे तुम मुझे नित्य निरन्तर स्मरण करते रहो। जो ऐश्वर्य तथा श्रीमद से अन्धा हो जाता है, वह यह नहीं समझता कि कालरूप से मैं सदा उसके सिर पर सवार हूँ। जिसपर मैं अनुग्रह करना चाहता हूं, उसके सारे ऐश्वर्य नष्ट कर देता हूँ। अब तुम कभी अभिमान मत करना, सदा मर्यादा-पालन का ध्यान रखना।'

परीक्षित! व्रज के गोप भगवान श्रीकृष्ण की ऐसी अलौकिक लीलाएँ देख-देखकर बड़ा आश्चर्य करते थे। एक दिन वे नन्दबाबा से कहने लगे—'जैसे गजेन्द्र किसी कमल को उखाड़ कर ऊपर उठा ले, वैसे ही तुम्हारे इस बालक ने गोवर्द्धन को उखाड़कर सात दिन तक अपनी हथेली पर रक्खा। भला ऐसा साधारण मनुष्य कर सकता है? इसने तो नन्हेपन में ही पूतना के प्राण ले डाले, भारी छकड़ा उलट दिया, बवंडर--रूपधारी तृणावर्त को पछाड़ दिया, दोनों विशाल अर्जुन के पेड़ों को ऊखल से बँधे होने पर भी उखाड़ दिया, बकासुर को तिनके की तरह चीर डाला, बछड़े और गधे के वेश में आये असुरों का सहज में ही अन्त कर दिया,

बलराम से प्रलम्बासुर का नाश कराया और विकट दावानल से गौओं को बचा लिया। कालियनाग का मानमर्दन करके उसे यमुना से बाहर निकाल इसने भारी लोक-कल्याण किया है। नन्दबाबा! तुम्हारे पुत्र के विषय में हमें बड़ी शंका हो रही है। निश्चय ही परमपुरुष, कन्हैया का मानवरूप धारण कर हमारा कल्याण करने आया है।

नन्दबाबा ने गोपों से कहा—'भाइयो! महर्षि गर्ग ने बतलाया था कि तुम्हारा यह बालक प्रत्येक युग में नये-नये अवतार लेता है। पहले यह वसुदेव के घर भी पैदा हुआ था। इसके गुण और कर्मों के अनुरूप बहुत-से नाम और रूप हैं। मैं तो उन नामों को जानता हूँ; पर संसार के साधारण प्राणी नहीं जानते। मेरा यह बालक तुम लोगों का परमकल्याण करेगा, इसकी सहायता से तुम लोग बड़ी-बड़ी विपत्तियों को भी सहज ही पार कर जाओगे। जैसे भगवान विष्णु की छत्रछाया में रहनेवाले को कोई नहीं जीत सकता, वैसे ही इनसे प्रेम करनेवालों को भीतरी या बाहरी—किसी भी प्रकार के शत्रु नहीं जीत सकते। गुण, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, कीर्ति और प्रभाव—जिस किसी दृष्टि से देखो यह बालक स्वयं नारायण के ही समान है। अतः इस बालक के अलौकिक कार्यों को देख कर अचरज मत करना! गोपो! गर्गजी के आदेश से मैं इसे नारायण का ही अंश मानता हूं।'

ब्रजवासियों का विस्मय नन्दबाबा की इन बातों को सुनने से जाता रहा और वे श्रीकृष्ण को अब अलौकिक शक्ति-सम्पन्न समझने लगे।

रास-रहस्य

परीक्षित! एक समय शरद ऋतु की पूर्णमासी की रात्रि में, जब सारा वन पूर्णचंद्र की कोमल किरणों के अनुराग में रँग-सा

गया था तथा बेला, चमेली आदि पुष्प अपनी सुगंध से पृथिवी के उस भूभाग पर सौरभ बिखेर रहे थे, मनमोहन श्रीकृष्ण ने अपनी रसभरी बाँसुरी की एक मधुर तान छेड़ दी। उस वंशीवादन ने हरिदर्शन की लालसा को असीम बढ़ा दिया। उसे सुनते ही ब्रज की गोपियां जहाँ थी वहीं से भगवान से मिलने के लिए चल पडीं। गोपियाँ उत्सुकतावश दूध दुहना, भोजन परसना, शिशुओं को दूध पिलाना और रसोई बनाना आदि आवश्यक काम छोड़-छोड़कर नंद-नंदन श्रीकृष्ण को देखने दौड़ पड़ीं। विश्व-विमोहन कृष्ण उनके प्राण, मन और आत्मा थे। प्रेमतन्मयता के कारण उनका ध्यान सदा उन्हींमें लगा रहता था।'

जब भगवान ने देखा कि ब्रज की गोपियाँ भी आ पहुँची हैं तो उन्होंने उनसे कहा—'ब्रजाङ्गनाओ, इस समय तुमको यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी ? तुम सब तुरन्त ब्रज को लौट जाओ। तुम्हें न देखकर तुम्हारे परिजन तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे। वृन्दावन की इस अपूर्व छटा को तुमने देख ही लिया, अब शीघ्र वापस चली जाओ। तुम सभी कुलीन और सती हो, तुम्हारे नन्हे-नन्हे बच्चे तथा गौओं के बछड़े व्याकुल हो रहे होंगे। जाओ, उन्हें दूध पिलाओ और प्रसन्न करो। स्त्रियों का यह परमधर्म है कि वे अपने पतिदेव और उनके भाई-बन्धुओं की सेवा तथा अपनी सन्तान की परिचर्या करें। जिन स्त्रियों को उत्तम लोक प्राप्त करने की अभिलाषा हो, वे पति से कभी विमुख न हों। परपुरुष का चिंतन स्त्रियों के लिए निन्दनीय है। इससे परलोक बिगड़ता है और इस संसार में अपयश मिलता है। मेरे गुणों के श्रवण, कीर्तन और ध्यान से जैसा मुझमें अनन्य प्रेम प्राप्त होता है, वैसा पास रहने से नहीं।'

भगवान श्रीकृष्ण के इस उपदेश को सुनकर प्रेम-विह्वला गोपियां भगवान से इस प्रकार प्रार्थना करने लगीं—'नन्दनन्दन !

तुम घट-घट वासी हो। हम तुम्हारे चरणों से ही प्रेम करती हैं। तुम धर्मों के रहस्य को जानते हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियों के सुहृद् हो। आत्मज्ञान-परायण महापुरुष केवल एक तुम्हीं से प्रेम करते हैं, क्योंकि तुम सबके ही आत्मा हो। तुम्हारे चरणों की शरण लेने पर सभी प्रकार के कष्ट दूर हो जाते हैं। तुम्हारी बाँसुरी की मधुर तान सुनकर पशु-पक्षी भी मुग्ध और पुलकित हो जाते हैं। जैसे भगवान देवताओं की रक्षा करते हैं, तुम भी इस व्रज-मंडल के भय और दुःख मिटाने के लिए ही प्रकट हुए हो। दीन-दुःखियों पर तुम्हारा अपार प्रेम और बड़ी कृपा है। हम तुम्हें प्रणाम करती हैं।' ऐसा कहकर वे अपने-अपने घर लौट गईं।

परीक्षित ने पूछा—'मुनिश्रेष्ठ! गोप और गोपियाँ तो भगवान श्रीकृष्ण को केवल अपना प्रेमपात्र ही मानती थीं। फिर उन्हें इस संसार से निवृत्ति कैसे हुई?'

शुकदेवजी ने कहा—'परीक्षित! मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि शिशुपाल भगवान के प्रति द्वेषभाव रखने पर भी अपने शरीर को छोड़ने के पश्चात् उनका पार्षद हो गया। ऐसी दशा में यदि श्रीकृष्ण से अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियाँ भी सारूप्य प्राप्त कर लें तो इसमें ऐसा कौनसा आश्चर्य है? भगवान ने यह जो अपने को तथा अपनी नारायणीय लीला को प्रकट किया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जीव उसके सहारे अपना परमकल्याण कर ले, इसलिए भगवान से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिए, वह सम्बन्ध चाहे भय, क्रोध, स्नेह अथवा सौहार्द का ही क्यों न हो। चाहे जिस भाव से भगवान में अपनी वृत्तियाँ जोड़ दी जायँ, वे उन्हींसे जा जुड़ती हैं और जीव का भगवान से मिलन हो जाता है।'

अक्रूर का व्रज-गमन तथा कंस-वध

परीक्षित! भगवान की लीला अत्यन्त अद्भुत है। एक बार

देवर्षि नारद कंस के पास पहुँचे और उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ से छूटकर जो कन्या आकाश में चली गई थी, वह तो यशोदा की पुत्री थी। व्रज में जो कृष्ण है वह देवकी का पुत्र है और बलराम रोहिणी का पुत्र है। वसुदेव ने तुमसे डरकर उन्हें अपने मित्र नन्दबाबा के पास रख दिया है। उन दोनों ने ही तुम्हारे अनुचर दैत्यों का वध किया है।'

देवर्षि नारद से यह सुनते ही कंस क्रोध से तिलमिला उठा। उसे विश्वास हो गया कि वसुदेव के ये ही लड़के उसके मृत्यु के कारण होंगे। अतः उसने वसुदेव और देवकी को फिर बंदीगृह में डाल दिया। नारदजी के चले जाने के वाद उसने केशी दैत्य को बुलाकर कहा—'तुम व्रज में जाकर बलराम और कृष्ण को मार डालो।' उसके चले जाने पर उसने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल आदि योद्धाओं को बुलाकर कहा—'वीरो! वसुदेव के पुत्र बलराम और कृष्ण व्रज में रहते हैं। उन्हींके हाथ से मेरी मृत्यु बतलाई जाती है। अतः जब वे यहां आयं तुम उन्हें कुश्ती लड़ाने के बहाने मार डालना। अखाड़े के चारों ओर भांति-भांति के मंच बनाकर सजा दो, जिससे दर्शक सुगमता से बैठकर इस दंगल को देख सकें। महावत! तुम रंगमंच के फाटक पर ही कुवलयापीड़ हाथी को रखना। जब मेरे शत्रु इधर से निकलें, तब इसी मत्त गजराज से कुचलवा डालना।'

उन्हें ऐसी आज्ञा देकर राजा कंस ने यदुकुल-श्रेष्ठ अक्रूर को बुलाकर कहा—'अक्रूरजी! आप तो बड़े ही उदार और सब तरह से मेरे आदरणीय हैं। आपसे बढ़कर मेरी भलाई करनेवाला और कोई दूसरा नहीं है। इसीलिए इस समय मैंने आपको बुलाया है। आप नन्दराज के व्रज में जाइए और वहाँ से वसुदेव के दोनों पुत्रों को नन्द आदि गोपों के साथ, रथ पर बिठाकर आदरपूर्वक लिवा लाइए। उनसे केवल इतना ही कहिएगा कि वे

लोग धनुषयज्ञ के दर्शन और यदुवंशियों की राजधानी मथुरा की शोभा देखने के लिए यहाँ आ जायं।'

अक्रूरजी ने कंस से कहा—'महाराज! आप अपना अरिष्ट दूर करना चाहते हैं, इसलिए आपका ऐसा सोचना ठीक ही है। मनुष्य को चाहिए कि सफलता और असफलता के प्रति समभाव रखकर अपना काम करता जाय। फल तो प्रयत्न से नहीं वरन् दैवी प्रेरणा से मिलते हैं। मनुष्य मनोरथों के पुल बाँधता रहता है; परन्तु वह प्रारब्ध की गति को नहीं जानता। यही कारण है कि सफलता प्राप्त होने पर वह हर्ष से फूल जाता है और असफलता की दशा में महान शोकसागर में डूब जाता है। फिर भी मैं आपकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ।'

परीक्षित! देवर्षि नारद कंस के यहाँ से लौटकर भगवान श्रीकृष्ण के पास आय और उन्होंने उनसे कहा—'सच्चिदानन्द! आपका स्वरूप मन और वाणी का विषय नहीं है। आप योगेश्वर हैं, आपने दैत्य-दानवों के विनाश और धर्म-मर्यादाओं की रक्षा के लिए ही यदुवंश में अवतार लिया है। आपने खेल-ही-खेल में अनेक दैत्यों का संहार कर डाला है। अब मैं आपके हाथों चाणूर, मुष्टिक आदि योद्धाओं, कुवलयापीड़ हाथी और स्वयं कंस का भी वध देखना चाहता हूँ।'

उस समय भगवान के दर्शन के अपरिमित आह्लाद से नारदजी का रोम-रोम पुलकित हो रहा था। भगवान की स्तुति और वंदना करके देवर्षि उनकी आज्ञा से अपने ब्रह्म-धाम को चले गए।

परीक्षित! महामति अक्रूरजी भी कंस की आज्ञा से प्रातःकाल होते ही रथ पर सवार होकर गोकुल को चल दिए। वे भगवान के परम भक्त थे। अतः मार्ग में वे इस प्रकार सोचने लगे—

मैंने ऐसी कौनसी तपस्या तथा दानादि श्रेष्ठ-कर्म किये हैं, जिनके फल से आज भगवान श्रीकृष्ण के मैं दर्शन करूँगा?

आज मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गए और मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि आज मैं उन चरणकमलों को प्रणाम करूँगा, जो बड़े-बड़े योगियों के भी केवल ध्यान के विषय हैं। कंस ने तो आज मुझपर बड़ी ही कृपा की है, क्योंकि उसीके भेजने से मैं भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन पाऊँगा। जिनका ध्यान ऋषि, महर्षि, ब्रह्मा और शंकर एवं स्वयं लक्ष्मी भी क्षणभर नहीं छोड़ पातीं, वे ही साक्षात् भगवान ग्वालबाल भक्तों के साथ वन-वन में विचरते हैं। श्रीकृष्ण अतुल लावण्य के धाम तथा मूर्तिमान सौन्दर्य हैं। समस्त पापों का नाश करनेवाले उनके परममंगलमय गुणों का जब वाणी गान करने लगती है, तब सारी अपवित्रताएं स्वतः धुल जाती हैं और रोम-रोम में पवित्रता का संचार हो जाता है। उन्हें देख सकने का आज मेरा मंगल-सुप्रभात है। बड़े-बड़े योगी और यति सद्गति पाने के लिए अपने हृदय में जिन चरणों को धारण करते हैं, आज मैं उन्हें प्रत्यक्ष पा लूँगा। पर मैं तो कंस का दूत हूँ, कहीं वे मुझे शत्रु तो नहीं समझ लेंगे? नहीं, सर्वान्तर्यामी कदापि ऐसा नहीं समझेंगे। मेरी शंका व्यर्थ है। मैं उनके कुटुम्ब का ही हूँ और उनक परमहितैषी। वे अवश्य ही मुझे अपने हृदय से लगा लेंगे। उन्हें न कोई प्रिय है, न अप्रिय; न सुहृद है, न शत्रु। कल्पवृक्ष जिस प्रकार याचक को उसकी मुँह-माँगी वस्तु देता है, वैसे ही भगवान श्रीकृष्ण भी जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, वे उसे उसी रूप में प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार के सुखद मनोराज्य में विचरते-विचरते अक्रूरजी गोकुल पहुँचे। वहाँ, जिनके चरणकमलों की रज का सारे लोक-पाल सेवन करते हैं, अक्रूरजी ने उस रज में उनके चरण-चिन्हों के दर्शन किये और उन्हें इतना अह्लाद हुआ कि वे प्रेम में विह्वल हो गए। उनका रोम-रोम खिल उठा। नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आय। ब्रज में उन्होंने श्रीकृष्ण और बलराम को गाय दुहने के

स्थान में देखा। देखते ही वे रथ से कूद पड़े और उनके चरणों में साष्टांग लेट गए। उनके सारे शरीर में पुलकावली छा गई। प्रेमोत्कंठावश वे अपना नाम तक न बता सके। भगवान श्रीकृष्ण उनके मन का भाव जान गये और प्रसन्नता से उठाकर उन्हें हृदय से लगा लिया। मार्ग में अक्रूरजी ने जो-जो अभिलाषाएं की थीं, वे सब पूरी हो गईं। श्रीकृष्ण ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और विधिपूर्वक उनके पाँव पखारकर पूजा की सामग्री भेंट की।

कुशल-समाचार पूछने के बाद अक्रूरजी से श्रीकृष्ण ने पूछा—'निर्दयी कंस के रहते मथुरा में आप लोग किस प्रकार अपने दिन बिताते हैं ? आप लोग तो उसकी दलित प्रजा हैं। आप सुखी होंगे, इसकी कल्पना ही हम कैसे कर सकते हैं ? मथुरा के हमारे आत्मीय, सुहृद, कुटुम्बी तथा अन्य सब सम्बन्धी सकुशल और स्वस्थ तो हैं ? हमारे मामा कंस तो हमारे कुल के लिए एक भयकंर व्याधि के समान हैं। हमारे लिए यह बड़े खेद की बात है कि मेरे निरपराध और सदाचारी माता-पिता को अनेक प्रकार की यातनाएं सहनी पड़ीं। मैं बहुत दिनों से आप लोगों के दर्शन करना चाहता था। आज मेरी वह अभिलाषा पूरी हो गई। अब कृपाकर यह बतलाइये कि आपका शुभागमन किस निमित्त से हुआ है ?'

जब श्रीकृष्ण ने अक्रूरजी ने उनके आने का कारण पूछा, तब उन्होंने बतलाया कि कंस ने तो सभी यदुवंशियों से घोर बैर ठान रखा है और वह वसुदेवजी को मार डालने का भी प्रयास कर चुका है। इसके बाद अक्रूरजी ने कंस के सन्देश और अपने आने का उद्देश्य भी उन्हें कह सुनाया। अक्रूरजी की बातें सुन कर पहले तो श्रीकृष्ण और बलराम खूब हँसे ; पर पीछे उन्होंने नन्दबाबा को कंस की आज्ञा सुना दी। कंस का आदेश सुन कर

नन्दबाबा ने भी भेंट की सामग्री ले लेकर छकड़े जोड़, प्रमुख गोपों को मथुरा चलने की आज्ञा देते हुए कहा कि कल प्रातःकाल ही हम सब लोग मथुरा की यात्रा करेंगे। वहाँ एक बड़ा उत्सव हो रहा है, उसे देखने के लिए देश की सारी प्रजा इकट्ठी हो रही है। हम लोग भी उसे देखने चलेंगे।'

परीक्षित ! गोपियों ने जब सुना कि हमारे श्यामसुन्दर और बलरामजी को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूरजी व्रज में आये हैं, उन्हें बड़ी व्यथा हुई, वे व्याकुल हो गईं।

सूर्योदय होते ही अक्रूरजी बलराम और कृष्ण को रथ पर बिठाकर मथुरा की ओर चले। नन्दबाबा तथा अन्य गोप भी दूध, दही और मक्खन से भरे मटके और भेंट की अनेक प्रकार की सामग्रियाँ लेकर छकड़ों पर उनके पीछे हो लिए। श्रीकृष्ण को जब ज्ञात हुआ कि उनके मथुरा जाने से प्रेमातुरा गोपियों का हृदय अत्यन्त सन्तप्त हो रहा है, तब उन्होंने दूत के द्वारा पुनः अपने आने का सन्देश भेजकर उन्हें धीरज बँधाया। कुछ ही समय में श्रीकृष्ण और बलरामजी अक्रूरजी के साथ मथुरा-नगरी पहुँच गये।

नन्दबाबा और सब गोपगण तो पहले ही वहाँ पहुँचकर उनकी बाट जोह रहे थे। श्रीकृष्ण ने अक्रूरजी से कहा कि आप रथ लेकर मथुरा में प्रवेश कीजिये, हम लोग नगर देखते हुए पीछे आ रहे हैं। अक्रूरजी ने बड़े विनीतभाव से कहा—'प्रभो ! आप दोनों के बिना मैं मथुरा में प्रवेश नहीं कर सकता। मेरे परम-हितैषी और सच्चे सुहृद आप, बलराम, ग्वालबाल, नन्द आदि सब साथ ही चलकर हमारे घर को कृतार्थ कीजिए और अपने चरणोदक से हमारे परिजनों को पवित्र कीजिए।'

श्रीकृष्ण ने अक्रूरजी को आश्वासन दिया कि अपने स्वजनों के द्रोही कंस को मार डालने के पश्चात मैं 'दाऊ भैया' के साथ

आपके घर पर अवश्य आऊँगा। अक्रूरजी ने कंस को उनके आने का समाचार जाकर कहा। दूसरे दिन ग्वालबालों के साथ श्रीकृष्ण ने मथुरापुरी में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने परकोटे में स्फटिक-मणियों के बहुत ऊँचे-ऊँचे फाटक, नगर के चारों ओर गहरी दुर्गम खाई और स्थान-स्थान पर सुन्दर मनोहर उद्यान देखे। उनके चलते समय मथुरा नगर की नारियाँ बड़ी उत्सुकता से अटारियों पर चढ़कर उनको निरख रही थीं और पुष्पों की वर्षा कर रही थीं।

जब वे अपनी मण्डली के साथ राजमार्ग से जा रहे थे तो उन्होंने एक स्थान पर कुब्जा नाम की एक कुबड़ी स्त्री को देखा। वह अपने हाथ चन्दन का पात्र लिये कंस के महल की ओर जा रही थी। उसपर अनुग्रह करने के विचार से श्रीकृष्ण ने उससे पूछा—'तुम कौन हो और यह चन्दन किसके लिए, लिये जा रही हो? क्या यह चन्दन हमें भी दोगी?' यह मधुर याचना सुनकर कुब्जा ने उनसे कहा—'मैं महाराज कंस की दासी हूँ। उनके यहां चन्दन ले जाना मेरा काम है। मेरा चन्दन भोजराज कंस को बहुत भाता है; परन्तु अपने दोनों मनोहर गोपकुमारों से बढ़कर इस चन्दन के लिए मुझे और कोई उत्तम पात्र नहीं मिलेगा।' यह कहकर उसने दोनों भाइयों को वह सुन्दर अंगराग लगा दिया। उसका ऐसा सुन्दर स्वभाव देखकर भगवान श्रीकृष्ण उसपर बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद यज्ञ का स्थान पूछते हुए वे रंगशाला में पहुँचे। वहां उन्होंने एक बहुत बड़ा धनुष चंदन एंव पुष्पों से सुसज्जित देखा। थोड़े-से रखवारे उसकी रक्षा कर रहे थे। उनकी कुछ भी पर्वाह न कर भगवान श्रीकृष्ण ने उस धनुष को उठा लिया और प्रत्यंचा खींचकर बीच से उसके दो टुकड़े कर डाले। यह देखकर उन रक्षकों ने जब अनिष्ट करना चाहा तब श्रीकृष्ण और बलराम ने उस टूटे धनुष की एक-एक टुकड़ी अपने हाथों में ले ली और

उसीसे उनका काम तमाम कर दिया। फिर अपने विश्रामस्थान को लौट आये।

कंस ने जब सुना कि कृष्ण और बलराम ने धनुष तोड़ डाला है तथा बिना प्रयास ही उसके रक्षकों का भी संहार कर डाला है, तब वह अत्यन्त भयभीत हो गया। इसी समय उसे अपनी मृत्यु के बहुत सारे अपशकुन भी दीख पड़े। पर उसने मल्ल-क्रीड़ा का वह महोत्सव प्रारंभ कराया ही। जब सभी तैयारियाँ हो चुकीं और दर्शक अपने-अपने स्थान पर बैठ गए, तब कंस ने नन्द आदि गोपों को बुलवाया। वे लोग भी उसे तरह-तरह की भेंट देकर सभी एक मंच पर जाकर बैठ गए।

परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण और बलराम भी मल्लक्रीड़ा को देखने के लिए जब रंगभूमि के फाटक पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि कुवलयापीड़ नाम का हाथी महावत की प्रेरणा से द्वार रोके खड़ा है। श्रीकृष्ण ने पहले गम्भीर वाणी से महावत को रास्ता देने के लिए कहा। उसे तो पहले से ही श्रीकृष्ण के वध की आज्ञा कंस ने दे रक्खी थी। इसलिए उनकी बातों पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया और हाथी को उनके सामने कर दिया। उसकी प्रेरणा से वह हाथी क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण पर टूट पड़ा; पर उन्होंने खेल-ही-खेल में उसके दाँत उखाड़ लिये और उन्हीं से महावत के साथ उसे मार डाला।

मरे हाथी के दाँत लिये ही श्रीकृष्ण और बलराम ने रंगभूमि में प्रवेश किया। उस समय उन दोनों के हाथों में कुवलयापीड़ के विशाल दांत शस्त्र-जैसे सुशोभित हो रहे थे। वे वहाँ पहलवानों को वज्र-कठोर शरीर, मनुष्यों को नर-रत्न, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिता के समान बड़े-बूढ़ों को शिशु, कंस को कालरूप और भक्तों को इष्टदेव के जैसे जान पड़े। मथुरा के नागरिक और वहाँ का जन-समुदाय श्रीकृष्ण

को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुआ। वे आपस में आश्चर्य में आकर कहने लगे कि क्या इन्हीं सुकुमार बालकों ने ही पूतना, तृणावर्त, शंखचूड़, केशी, धेनुक आदि दुष्टों का वध किया है।

जिस समय वे इस तरह की चर्चा कर ही रहे थे, उसी समय चाणूर ने श्रीकृष्ण और बलराम को ललकारते हुए कहा—'कृष्ण और बलराम! तुम दोनों वीरों के आदरणीय हो। हमारे महाराज ने कुश्ती में तुम्हारी निपुणता को सुनकर तुम्हारी मल्लविद्या देखने के लिए ही तुम्हें यहाँ बुलाया है। यह सभी जानते हैं कि ग्वालिये प्रतिदिन जंगलों में आनन्द से कुश्ती लड़कर खेलते और गायें चराते रहते हैं। इसलिए आओ,हम और तुम कुश्ती लड़ें।'

परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण तो चाहते ही थे कि इनसे दो-दो हाथ करें। उन्होंने चाणूर की बातों का अनुमोदन करते हुए कहा—'चाणूर! हम भी भोजराज की वनवासी प्रजा हैं। हमें इन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए और इसीमें हमारा कल्याण भी है। किंतु हम लोग अभी बालक हैं, इसलिए हम समान बलवाले बालकों के साथ कुश्ती लड़ने का खेल दिखायंगे।'

चाणूर ने कहा—'तुम और बलराम न बालक हो और न किशोर। तुम दोनों तो बलवानों में श्रेष्ठ दीखते हो। महाबलशाली कुवलयापीड़ हाथी को अभी-अभी तुमने पछाड़कर मार डाला है। इसलिए तुम दोनों को हम जैसे पहलवानों के साथ ही कुश्ती लड़नी चाहिए। श्रीकृष्ण, तुम मुझपर अपना जोर आजमाओ और बलराम के साथ मुष्टिक लड़ेगा।'

श्रीकृष्ण से चाणूर और बलराम से मुष्टिक जा भिड़े और एक-दूसरे को जीत लेने के लिए पूरे बल का प्रयोग करने लगे। नगर की स्त्रियों ने जब देखा कि बड़े-बड़े पहलवानों के साथ छोटे-छोटे बालक लड़ाये जा रहे हैं, तब वे आपस में कंस के सभासदों की

निंदा करने लगीं कि 'पर्वत जैसे पहलवानों' के साथ किशोर अवस्था के कृष्ण और बलराम का जोड़ सरासर अन्याय है, इसका पाप दर्शकों पर भी अवश्य लगेगा। अतः हम लोगों को यहाँ से चल देना चाहिए। जहाँ अधर्म की प्रधानता हो वहाँ एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिए। स्त्रियों की ये न्यायसंगत बातें वसुदेव-देवकी ने भी सुनीं। इससे वे पुत्रस्नेहजनित भय से शोक-विह्वल हो उठे।

इधर अखाड़े में श्रीकृष्ण ने दो दाव-पेंच में कुशल एवं शक्तिशाली चाणूर को मौका पाकर ज़मीन पर ज़ोर से दे मारा कि फिर उठा नहीं। बलरामजी ने भी मुष्टिक को ऐसा तमाचा लगाया कि खून उगलता हुआ वह पृथिवी पर गिर पड़ा और शीघ्र ही उसका प्राणांत हो गया। कूट, शल, तोशल आदि दूसरे योद्धा जो बारी-बारी से श्रीकृष्ण के सामने आते गए, उन सबकी भी वही दशा हुई।

भगवान श्रीकृष्ण और बलराम की इस अद्भुत पराक्रम-लीला को देखकर दर्शकों को अत्यन्त आनन्द हुआ। वे साधु-साधु, धन्य-धन्य कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे। यह सब देखकर कंस के दुःख और क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। अपने प्रधान पहलवानों का अंत देखकर उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि वसुदेव के इन दुश्चरित्र बालकों को नगर से बाहर निकाल दो, गोपों का सारा धन छीन लो और दुर्बुद्धि नन्द को कैद कर लो। वसुदेव और शत्रुओं से मिले हुए मेरे पिता उग्रसेन का भी शीघ्र वध कर डालो।

कंस इस प्रकार कह ही रहा था कि भगवान श्रीकृष्ण उछलकर उसके मंच पर जा चढ़े। उन्हें ऐसा करते देख कंस भी झट तलवार निकाल कर पैंतरा बदलने लगा। पर जैसे गरुड़ साँप को पकड़ लेता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने उसके केश पकड़कर उसे मंच से रंगभूमि में नीचे गिरा दिया और उसके ऊपर कूद पड़े।

इससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गई। वह सदा ही चक्रपाणि भगवान का चिन्तन किया करता था, अतः उसे वह गति प्राप्त हुई जो योगेश्वरों को भी दुर्लभ है।

कंस के मारे जाने के बाद श्रीकृष्ण और बलराम ने बन्दीगृह में जाकर अपने माता-पिता को बंधन-मुक्त किया तथा उनके चरणों की वंदना करके कहा—'पिताजी! हम आपके पुत्र हैं; पर आप हमारे बाल्य तथा किशोरावस्था के सुख-दुःख नहीं जान सके। दुर्दैववश आपकी सेवा में रहने का हमें सौभाग्य ही कहाँ मिला? माता-पिता इस शरीर को जन्म देते तथा इसका लालन-पालन करते हैं और तभी यह शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन बन पाता है। यदि मनुष्य सौ वर्ष भी माता-पिता की सेवा करता रहे तो भी वह उनसे उऋण नहीं हो सकता। जो पुत्र सामर्थ्य और साधन रहते हुए मां-बाप की सेवा नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ है। हमारे इतने दिन बेकार ही गये, क्योंकि हम आपकी सेवा से सदा वंचित रहे। आप हमें क्षमा करें।'

परीक्षित! श्रीहरि की इस कोमल वाणी से मोहित होकर वसुदेव-देवकी ने उन्हें गोद में बिठा लिया और हृदय से लगाकर परमानन्द का अनुभव किया। प्रेमाश्रुओं की धारा उनकी आँखों से बह चली; गला रुंध जाने से वे एक शब्द भी नहीं बोल सके।

इस प्रकार मात-पिता को सान्त्वना और आनंद देने के पश्चात उन्होंने अपने नाना उग्रसेन को यदुवंशियों का राजा घोषित किया। समस्त यदुवंशियों को अभयदान देने के बाद वे नन्दबाबा के पास आये और उनसे बोले—'आप और मैया यशोदा ने बड़े प्रेम से हमारा लालन-पालन किया है। पालन-पोषण न कर सकने के कारण जिन बालकों को स्वजन-संबंधियों ने त्याग दिया हो, उन्हें जो लाड़-प्यार से पालते हैं, वे ही उनके वास्तविक माता-पिता हैं।' प्यारे कन्हैया की बात सुनकर नन्दबाबा प्रेम से अधीर हो गये।

उन्होंने कृष्ण और बलराम को गले से लगा लिया और बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया। इसके बाद वे सब गोपों के साथ व्रज को चल दिये। श्रीकृष्ण और बलरामजी उनकी अनुमति से वहीं रहे।

यद्यपि भगवान श्रीष्कृण और बलरामजी जगत के एक-मात्र स्वामी हैं, संपूर्ण विद्याएं उन्हींसे निकली हैं और उनका ज्ञान स्वतःसिद्ध है, तथापि यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद दोनों भाई गुरुकुल में निवास करने की इच्छा से संदीपनि मुनि के आश्रम में जाकर विधिपूर्वक विद्याध्ययन करने लगे।

गुरुकुल में श्रीकृष्ण और बलरामजी गुरुजी की शुद्ध भाव से उत्तम सेवा करते थे। इससे प्रसन्न होकर आचार्य संदीपनि ने उन्हें सभी शास्त्रों की और धनुर्वेद की ऊँची शिक्षा दी। सारी विद्याओं का अध्ययन समाप्त होने पर विदा होने के पहले उन्होंने गुरुजी से दक्षिणा माँगने की प्रार्थना की। संदीपनि मुनि ने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक प्रतिभा का अनुभव कर अपनी पत्नी से सलाह की और तब उनसे कहा—'कृष्ण! प्रभासक्षेत्र में हमारा बालक समुद्र में खो गया है, तुम उसे लाकर हमें दो। यही हमारी सबसे बड़ी दक्षिणा होगी।'

गुरुजी की आज्ञा स्वीकार कर भगवान श्रीकृष्ण प्रभास-क्षेत्र गये। वहाँ उस खोये हुए बालक का पता लगा लिया और उसे लाकर गुरुदेव को दक्षिणा-रूप में सौंप दिया।

शिष्य श्रीकृष्ण के इस महान कठिन कार्य से प्रसन्न होकर आचार्य संदीपनि ने कहा—'बेटा! तुम दोनों भ्राताओं ने भली-भाँति मुझे गुरुदक्षिणा दी। जो तुम सरीखे पुरुषोत्तम का गुरु हो, भला उसका कौनसा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है? अब तुम अपने घर जाओ। लोकों को पवित्र करनेवाली कीर्ति तुम्हें प्राप्त हो।' इस प्रकार गुरु से आशीर्वाद व दीक्षा लेकर वे मथुरा लौट आये।

उद्धव की ब्रज-यात्रा

परीक्षित ! वृष्णिवंशियों में उद्धव परम बुद्धिमान पुरुष थे। वे श्रीकृष्ण के प्यारे सखा और मंत्री भी थे। एक दिन उन्होंने उद्धव से कहा—'उद्धव ! ब्रज में मेरी माता यशोदा और पिता नन्दबाबा निवास करते हैं। वहाँ तुम जाओ और उन्हें और स्नेहविह्वला गोपियों को मेरा सन्देश सुनाकर मेरी वियोग-वेदना से मुक्त करो। मैंने उनसे कहा था कि 'ब्रज में मैं पुनः आऊंगा' मेरा वह वचन ही उनके जीवन का आधार है। अधिक और क्या कहूँ ? वे निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहते हैं।"

भगवान का आशय समझ कर उद्धवजी बड़े प्रेम और आदर से उनका सन्देश सुनाने नन्दगांव को रथ पर चल पड़े। वहां वे सूर्यास्त के समय पहुँचे। उस समय ब्रज और ब्रजवासियों तथा पशु-पक्षियों तक का अतिमनोहर ग्राम-जीवन देखकर उद्धव स्वर्ग का ऐश्वर्य भी भूल गये। नन्दबाबा भी उद्धव से मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

उद्धव की मार्ग की थकावट दूर होने पर नन्दबाबा ने सप्रेम उनसे पूछा—'सखे ! कारागृह से मुक्त होने के बाद से वसुदेवजी स्वजन-सम्बंधियों के साथ सकुशल तो हैं ? क्या मेरा कृष्ण हम लोगों की कभी याद करता है ? अपनी मैया (यशोदा) की, बन्धु-बान्धवों, सखाओं, गौओं की याद भी उसे कभी आती है ? हमारा गोविन्द अपने सुहृद-बांधवों को देखने एक बार भी यहां आयगा क्या ? यदि वह यहाँ आ जाता तो कम-से-कम एक बार फिर हम उसका मधुर हास्य और मुखकमल तो निहार लेते ! कृष्ण का हृदय बड़ा उदार है। उसने कितनी बार मृत्यु से हमारी रक्षा की थी। उसके विछोह में हमसे कोई कामकाज नहीं हो पाता। जहाँ-जहाँ वह विचरा करता था, उन स्थानों को देख-देख

कर हमारा चित्त कृष्णमय हो जाता है। मैं उन्हें और बलराम को देवशिरोमणि मानता हूँ। गर्गाचार्य ने भी मुझसे ऐसा ही कहा था।"

परीक्षित! नन्दबाबा का हृदय श्रीकृष्ण के अनुराग-रंग में रँगा था। अपने गोविन्द से मिलने की उत्कण्ठा से उनका गला भर आया। वे प्रेम-विह्वल हो गये। यशोदा मैया भी वहीं बैठी नन्दबाबा की बातें सुन रही थीं। पुत्रस्नेह की बाढ़ से उनके नेत्रों से आँसुओं का ताँता टूटता ही नहीं था। श्रीकृष्ण के प्रति नन्दबाबा और यशोदाजी का यह सच्चा और शुद्ध अनुराग देखकर उद्धव आनंदविभोर हो गये और उनसे गद्गद् कंठ से कहने लगे—

"शरीरधारियों में आप और यशोदाजी सबसे अधिक भाग्यशाली और प्रशंसनीय हैं, क्योंकि चराचर जगत के स्रष्टा नारायण के प्रति आपके हृदय में ऐसा विशुद्ध वात्सल्य-स्नेह है। भगवान श्रीकृष्ण थोड़े ही दिनों में ब्रज आकर आप दोनों को आनंदित करेंगे। आप खेद न करें, आप उन्हें शीघ्र ही देखेंगे। उनकी दृष्टि में न कोई उत्तम है, न अधम और न माता-पिता, पुत्र, अपना-पराया आदि का भेद ही है। वह साधुओं के परित्राण के लिए ही अवतार लेते हैं। वे आप दोनों के पुत्र ही नहीं, वरन् समस्त प्राणियों के आत्मा हैं।"

परीक्षित! श्रीकृष्ण के सखा उद्धवजी और नन्दबाबा के इस प्रकार आपस में बात करते-ही-करते रात बीत गई। जब सूर्योदय हुआ, तब ब्रजांगनाओं ने देखा कि नंदबाबा के दरवाजे पर एक सुन्दर रथ खड़ा है। उसे देखकर वे आपस में पूछने लगीं कि रथ पर यह कौन आया है? अंत में उन्हें पता चला कि हमारे नंदनंदन के प्रिय सखा उद्धवजी उनका संदेश लेकर ब्रज पधारे हैं। सो वे नंदबाबा की ड्योढ़ी पर गईं और उद्धवजी को घेर कर विनय-पूर्वक पूछने लगीं—'उद्धवजी! हम जानती हैं कि आप यदुनाथ के परमप्रिय सखा हैं और उन्हींका संदेश लेकर यहाँ

पधारे हैं। माता-पिता, सगे-संबंधियों आदि का स्नेह-बंधन तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी बड़ी कठिनाई से तोड़ पाते हैं। पराये के साथ प्रेम का स्वाँग स्वार्थवश ही हुआ करता है। (जैसे भौंरों का सूखे पुष्प से, वेश्या का धनहीन से, अध्ययन समाप्त हो जाने पर शिष्य का आचार्य से, यज्ञ की दक्षिणा मिल जाने पर याज्ञिकों को यजमान से, पक्षियों का फलहीन वृक्ष से, भोजन कर लेने के बाद अतिथि का गृहस्थ से और पशुओं का आग लगे वन से नाता होता है, क्या ब्रजवल्लभ कृष्ण भी हम सबसे वैसा ही संबंध रखते हैं ?) आप हम लोगों के सामने उनका बड़ा गुणगान क्यों कर रहे हैं ? अब आपकी ठकुर-सोहाती हम लोगों के साथ नहीं चलेगी। आप यहाँ से चले जाने की कृपा कीजिये। 'वे हमारे लिए आकुल रहते हैं,' ऐसा आप व्यर्थ क्यों कह रहे हैं ? हमारी श्रीकृष्ण के आगे क्या गिनती है ? लेकिन आप जाकर उनसे कहिए—'तुम्हारे नाम और कीर्ति का हम गान करती रहती हैं; परंतु तुम ऐसे निर्मोही निकले कि हमें छोड़कर चलते बने। अब तुम्हीं बताओ कि तुम-जैसे अकृतज्ञ के साथ हम क्या संधि करें ?' उद्धवजी ! आप ही कहिये कि हम उन निर्मोही पर कैसे विश्वास करें ? हमें तो श्यामसुन्दर से क्या, किसी भी काली वस्तु से मित्रता नहीं करनी चाहिए। आप फिर पूछ सकते हैं कि तब हम उनकी चर्चा ही क्यों करती हैं ? तो हमारा कहना है कि ब्रह्मपीयूष का जिसे एक बार भी चस्का लग जाता है वह भला उसे कैसे छोड़ सकता है ? हम चाहने पर भी प्यारे श्यामसुन्दर की चर्चा नहीं छोड़ पातीं। उनकी कथामृत के रस का जो आस्वादन कर लेता है, वह राग-द्वेषादि के बंधनों से छूट जाता है। आपको यदि कुछ और कहना हो तो आनंदपूर्वक कहिये; पर वह चर्चा अब मत छेड़िये। अच्छा, एक बात कहिये—'क्या वे यशोदा मैया, नंदबाबा और ग्वालबालों की भी कभी याद करते हैं ? क्या

हमारे जीवन में कभी ऐसा अवसर आयगा कि वे हमारे संतप्त नेत्रों की प्यास फिर बुझायंगे ।"

गोपिकाओं की प्रेम-विह्वलताभरी बातें सुनकर उद्धवजी ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा—"भाग्यवती गोपियो। तुम्हारा जीवन सफल है। तुम सारे संसार की पूजनीय हो, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण के प्रति तुम्हारी सच्ची भक्ति है। दान, व्रत, तप, होम, जप, ध्यान, धारणा, समाधि तथा आत्म-कल्याण के विविधसाधनों से भगवान की प्राप्ति का ही प्रयत्न किया जाता है; किंतु इनके न करने पर भी तुम लोगों ने तो वही दुर्लभ गति प्राप्त कर ली है, जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी दुष्प्राप्य है। अब भगवान श्रीकृष्ण ने जो तुम लोगों के लिए प्रिय सन्देश भेजा है, उसे ध्यान देकर सुनो। उन्होंने कहलाया है—

'मैं सबका आत्मा हूँ, इसलिए मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार के सभी भौतिक पदार्थों में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी-ये पाँचों महाभूत व्याप्त हैं, वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूतों, इन्द्रियों और उनके विषयों का आश्रय हूँ। वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। जैसे स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थ मिथ्या हैं और शरीर का उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही माया के प्रपंच मिथ्या हैं, इसलिए विषयों को त्यागकर मेरा साक्षात्कार करना ही मनुष्य के लिए साध्य है। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में ही गिरती हैं, वैसे ही मेरी प्राप्ति सब धर्मों की परिसीमा है। तुम निश्चल मन से मेरा ही ध्यान करो, मैं अवश्य तुम्हें प्राप्त हो जाऊँगा।'

भगवान श्रीकृष्ण का यह प्रिय संदेश सुनकर गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने बड़े प्रेम और आदर से उद्धवजी का सत्कार किया। उद्धवजी ने श्रीकृष्ण की लीला-कथाएँ सुना-सुनाकर उनके त्रिविध तापों को मिटाने का प्रयत्न किया। व्रजवासियों को

उन्होंने श्रीकृष्ण और उनकी लीलाओं के स्मरण में तन्मय कर दिया और उन ब्रजवासियों की भगवद्भक्ति से आप भी आनन्द-विह्वल हो गये। एक बार तो वे ब्रजवासियों को श्रीकृष्ण में तल्लीन देखकर उन्हें प्रणाम कर कहने लगे–'यदि कोई भगवान के स्वरूप और रहस्य को न जानकर भी उनसे प्रेम और उनका भजन करे, तो वे स्वयं अपनी शक्ति और कृपा से उसका परमकल्याण कर देते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अमृत अनजान में पीनेवालों को भी अमर बना देता है।'

इस प्रकार कई मास ब्रज में रहने के बाद उद्धवजी ने नन्दबाबा, यशोदा मैया और गोप-गोपियों से मथुरा वापस जाने के लिए विदा माँगी। विदा होते समय नन्दबाबा आदि गोप बहुत-सी भेंट की सामग्री ले उनके पास आये और आँखों में आसूँ भरकर कहने लगे—'उद्धवजी! अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मन की सभी वृत्तियाँ कृष्ण में ही लगी रहें। हमारी वाणी नित्य-निरंतर कृष्ण का नाम उच्चारण करती रहे। हम चाहे जिस योनि में जन्म लें, सदा शुद्ध आचरण तथा दान करें और उसका फल यही पावें कि कृष्ण में हमारी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। हमें मोक्ष की उत्कंठा नहीं है।' इस प्रकार सबसे सम्मानित हो उद्धवजी मथुरा लौट आये और वहाँ ब्रजवासियों में जैसी भक्ति का उद्रेक देखा, भगवान श्रीकृष्ण को सब गद्गद् वाणी से कह सुनाया।

अक्रूर का हस्तिनापुर जाना

एक दिन भगवान श्रीकृष्ण अक्रूरजी की अभिलाषा पूर्ण करने बलराम और उद्धव के साथ उनके घर पर गए। अक्रूरजी ने दूर से ही उन्हें आते देख लिया और आगे बढ़कर उनका अभिनन्दन किया। आदर-स्वागत के बाद श्रीकृष्ण से कहा—'प्रभो! आज मेरा परम सौभाग्य है कि आप हमारे घर पधारे

हैं। आप जगत के कारणस्वरूप हैं। आपमें अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार बन्धन या मोक्ष की जो कुछ कल्पना होती है, उसका कारण केवल हमारा अविवेक ही है। आप प्रेमी भक्तों के परम प्रियतम और अकारण हितू हैं। आप कृपाकर हमारा भवबन्धन नष्ट कर दीजिए।'

अक्रूर की स्तुति सुनकर श्रीकृष्ण ने मधुरवाणी से कहा—'तात! आप हमारे गुरु, हितोपदेशक और चाचा हैं। आप जैसे संतजन देवताओं से भी बढ़कर हैं, केवल जल के तीर्थ ही तीर्थ तथा मृत्तिका और शिलाओं की बनी मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। उनकी तो बहुत दिनों तक श्रद्धा से सेवा की जाय, तब वे पवित्र करते हैं; किंतु आप जैसे सत्पुरुष तो अपने दर्शनमात्र से पवित्र कर देते हैं। आप हमारे हितैषी सुहृदों में सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए आप कृपाकर पाण्डवों का कुशल-मंगल जानने के लिए हस्तिनापुर जाइए।' उन्हें ऐसा आदेश देकर श्रीकृष्ण वापस लौट आय।

परीक्षित! भगवान की आज्ञा से अक्रूरजी हस्तिनापुर गए। वे वहाँ धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों तथा अन्य इष्ट-मित्रों से मिले। उन लोगों ने भी उनसे मथुरावासी स्वजन-संबन्धियों की कुशल-क्षेम पूछी। वहां अक्रूर-जी को कुन्ती और विदुर ने बतलाया कि धृतराष्ट्र के लड़के दुर्योधन, दुःशासन आदि पाण्डवों के प्रभाव, शस्त्र-कौशल, बल-वीरता और विनय को देखकर उनसे जलते रहते हैं। जब वे देखते हैं कि प्रजा पाण्डवों से ही विशेष प्रेम रखती है, तब वे और भी चिढ़ जाते हैं और पाण्डवों का अनिष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं। अबतक कौरव-पुत्रों ने पाण्डवों पर कई बार अत्याचार किये हैं और आगे भी करना चाहते हैं।

जब अक्रूरजी कुन्ती के घर आय तो कुन्ती ने उनसे कहा—

'प्यारे भाई ! मैंने सुना है कि हमारे भतीजे भगवान श्रीकृष्ण और कमलनयन बलराम बड़े ही भक्तवत्सल और शरणागत रक्षक हैं। क्या वे कभी अपने इन फुफेरे भाइयों की भी याद करते हैं? मैं शत्रुओं के बीच घिर कर शोकाकुल हो रही हूँ। क्या हमारे प्रिय कृष्ण कभी यहाँ आकर मुझे तथा इन अनाथ बालकों को सांत्वना देंगे?' इतना कहकर कुन्ती अपने सगे-सम्बन्धियों और भगवान श्रीकृष्ण को स्मरण कर रोने लगी।

अक्रूरजी सुख और दुःख को समान दृष्टि से देखते थे। उन्होंने कुन्ती को यह कहकर कि 'तुम्हारे पुत्र अधर्म का नाश करने के लिए हैं' सान्त्वना दी। जब वे मथुरा लौटने लगे, तब फिर एक बार राजा धृतराष्ट्र के पास आय। उन्हें अब यह स्पष्ट हो गया था कि राजा अपने पुत्रों का पक्षपात करते हैं। अतः भरी सभा में उन्होंने उनसे भगवान श्रीकृष्ण और बलरामजी का हितैषितापूर्ण यह सन्देश कहा—

'महाराज धृतराष्ट्र ! आप कुरुवंशियों की उज्ज्वल कीर्ति को और भी बढ़ाइये, क्योंकि आपके भाई पाण्डु के परलोक सिधार जाने पर अब आप ही राज्य-सिंहासन के अधिकारी हुए हैं। आप धर्मपूर्वक पृथिवी का पालन करते हुए प्रजा को प्रसन्न रखिये। अपने स्वजनों के साथ उत्तम बर्ताव करने से आपको लोक में यश और परलोक में सद्गति प्राप्त होगी। यदि आप विपरीत आचरण करेंगे तो आपकी निन्दा होगी और मरने के बाद नरक में जाना पड़ेगा। इस संसार में कोई किसीके साथ सदा नहीं रहता। जिनसे हम जुड़े हैं, उनसे एक दिन बिछुड़ना पड़ेगा ही। राजन् ! जीव को शरीर, स्त्री, पुत्र और धन आदि यहीं छोड़कर जाना पड़ता है। जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही यहाँ से जाता है। पाप-पुण्य का भी फल वही अकेला ही भोगता है। जैसे जल में रहने वाले जन्तुओं को उन्हींके सम्बन्धी चाट जाते

हैं, वैसे ही मूर्ख मनुष्य, जिन्हें अपना समझकर अधर्म करके भी पालन-पोषण-करता है, वे ही प्राण, पुत्र और धन आदि उसे असन्तुष्ट छोड़ कर चले जाते हैं। जो अपने धर्म से विमुख हैं, वे अपना लौकिक और पारलौकिक स्वार्थ भी नहीं जानते। जिनके लिए वे अधर्म करते हैं, वे तो उन्हें छोड़ ही देते हैं, इसके अतिरिक्त वे पापी अपने पापों की गठरी सिर पर लादे स्वयं भी घोर नरक में जाते हैं। यह संसार चार दिन की चाँदनी है। आप इस संसार की ओर से शान्त हो जाइये।"

धृतराष्ट्र ने कहा—'अक्रूरजी! आप हमारे कल्याण की ही बात कह रहे हैं। फिर भी मेरे चञ्चल चित्त में आपकी यह श्रेष्ठ शिक्षा तनिक भी नहीं ठहर रही है, क्योंकि मेरा हृदय पुत्रों की ममता के कारण अत्यन्त विषम हो गया है। ऐसा कौन पुरुष है, जो विधाता के विधान में उलट-फेर कर सके? उनकी जैसी इच्छा होगी, वही होगा।'

राजन्! अक्रूर जी महराजा धृतराष्ट्र का अभिप्राय समझकर स्वजन-सम्बन्धियों से अनुमति लेकर मथुरा लौट आये। वहाँ उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण और बलरामजी से धृतराष्ट्र का सारा कथन कह सुनाया। भगवान का उन्हें हस्तिनापुर भेजने का उद्देश्य भी यही था।

दशम स्कन्ध

उत्तरार्ध

जरासन्ध की मथुरा पर चढ़ाई

शुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित ! कंस के दो रानियाँ थी—अस्ति और प्राप्ति। पति की मृत्यु से शोकाकुल हो उन्होंने अपने पिता मगधराज जरासन्ध की राजधानी में जाकर बड़े दुःख के साथ अपने विधवा होने का हाल उससे कहा। इस अप्रिय समाचार से जरासंध को बड़ा शोक हुआ और वह क्रोध से तिलमिला उठा। शीघ्र ही उसने एक विशाल सेना के साथ यदुवंशियों की राजधानी मथुरा को चारों ओर से घेर लिया। जब भगवान श्रीकृष्ण ने देखा कि जरासंध के इस सैन्य-समुद्र को देखकर हमारे स्वजन तथा पुरवासी भयभीत हो रहे हैं और मेरे अवतार ग्रहण कर पृथिवी का भार उतारने का समय भी आ पहुँचा है, तब उन्होंने उसका तथा उसके अधीनस्थ नरपतियों की सेना के नाश का निश्चय किया। उन्होंने साधु-सज्जनों तथा धर्म की रक्षा और अधर्म को रोकने के लिए ही अवतार ग्रहण किया था। पृथिवी का बोझ दुष्ट-दुर्जनों के संहार से ही हल्का होता है और यही भगवान के अवतार का कारण हुआ करता है।

श्रीकृष्ण और बलरामजी ने कवच धारण किये और रथ पर सवार हो वे मथुरा से निकल पड़े। उनके साथ एक छोटी-सी सेना थी। पुरी से बाहर निकलने पर उन्होंने अपना पांचजन्य शंख फूंका और रणभूमि में आ डटे।

उन्हें देखकर जरासंध ने कहा—'कृष्ण! तू तो अभी निरा बच्चा है। तेरे साथ युद्ध करने में मुझे लज्जा आती है। इतने दिनों तक न जाने तू कहाँ छिपा फिरता था! तू अपने मामा का हत्यारा है। इसलिए मैं तेरे साथ युद्ध नहीं कर सकता। तू मेरे सामने से भाग जा। बलराम! यदि युद्ध में मरकर स्वर्ग पाने में तेरी श्रद्धा हो तो तू आ, मुझसे लड़ और मेरे बाणों से छिन्न-भिन्न हुए अपने शरीर को यहाँ छोड़ स्वर्ग को चला जा।'

जरासंध की यह दर्पभरी बात सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने उससे कहा—'महाराज! शूरवीर तुम्हारी तरह डींग नहीं हांका करते। वे तो अपना बल-पौरुष ही दिखलाते हैं। देखो, तुम्हारी मृत्यु ही तुमसे यह प्रलाप करा रही है और इसीलिए तुम व्यर्थ की बातें बक रहे हो। मैं तुम्हारी बातों पर ध्यान नहीं देता।'

परीक्षित! जैसे बादलों से सूर्य को और धुएं से आग को वायु ढक लेती है, वैसे ही मगधराज जरासंध ने श्रीकृष्ण और बलरामजी को अपनी बड़ी सेना से घेर लिया। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि शत्रुसेना हमारी सेना पर ऐसी बाण-वर्षा कर रही है मानो बादल पानी की अगणित बूँदें बरसा रहे हों और उससे हमारी सेना अत्यन्त पीड़ित है तब उन्होंने झुण्ड-के-झुण्ड बाण छोड़कर शत्रु-सेना में मृतकों का ढेर लगा दिया। बलरामजी ने भी अपने मूसल के प्रहारों से शत्रुसेना में रक्त की नदियां बहा दीं। जरासंध की वह सेना दुर्गम और भयावाह थी; पर श्रीकृष्ण ने अल्पकाल में ही उसे नष्ट कर डाला।

जब जरासंध की सारी सेना मारी गई, उसका रथ टूट गया और उसके शरीर में केवल प्राण ही बच रहे। तब बलरामजी ने उसे पकड़ लिया; परंतु भगवान श्रीकृष्ण ने उसे छुड़ा दिया। बड़े बड़े शूरवीर जरासंध का सम्मान करते थे। इससे श्रीकृष्ण द्वारा दीन के समान दया कर छोड़े जाने के कारण उसे बड़ी लज्जा

मालूम हुई। अतः उसने तपस्या करने का निश्चय किया; किंतु साथियों ने उसे समझाया- 'राजन्! आपको प्रारब्धवश ही नीचा देखना पड़ा है। आप दूसरी बार अवश्य ही विजयी होंगे।' इससे उसकी मति पलट गई और वह अपनी राजधानी को लौट आया।

इसके बाद मगधराज जरासंध ने सत्रह बार सेना इकट्ठी करके यदुवंशियों से युद्ध किया। किंतु हर बार यादवों ने उसकी सेना नष्ट कर दी। जिस समय अठारहवां संग्राम छिड़नेवाला था, उसी समय नारदजी का भेजा हुआ कालयवन भगवान से युद्ध करने के लिए मथुरा के निकट आ उपस्थित हुआ। उस समय उसके सामने डटनेवाला कोई वीर संसार में नहीं था। उसने अपनी सेना से मथुरा को घेर लिया। भगवान श्रीकृष्ण ने कालयवन और जरासंध के रूप में दो-दो विपत्तियों को एकसाथ मँडराते देखा, तब उन्होंने अपने सभी स्वजन-सम्बन्धियों को द्वारका पहुँचवा दिया और शेष प्रजा की रक्षा के लिए बलरामजी को मथुरापुरी में छोड़कर आप गले में पुष्पों की माला पहने निरस्त्र ही नगर के बाहर निकल आये।

उन्हें नगर से बाहर निकलते देखकर कालयवन ने निश्चय किया कि यही पुरुष 'वासुदेव' है, क्योंकि नारदजी के बताये सभी लक्षण इसमें विद्यमान हैं। इस समय यह बिना अस्त्र-शस्त्र के पैदल ही इस ओर आ रहा है, अतः मैं भी इससे बिना अस्त्र-शस्त्र के ही लड़ूँगा। ऐसा निश्चय कर वह श्रीकृष्ण की ओर लपका; किंतु वे दूसरी ओर मुहँ कर रणभूमि से भाग चले। प्रभु को पकड़ने के लिए अब वह उनके पीछे दौड़ने लगा और 'रण-छोड़ भगवान' लीला करते आगे-आगे भागने लगे। इसी प्रकार उसे दूर की एक पहाड़ी की गुफा में ले गये। जैसे ही भगवान उस गुफा में घुसे वह भी उनके पीछे वहाँ जा पहुँचा। पर वह

एक दूसरे मनुष्य को सोते देखकर उसने समझा कि यह मुझे धोखा देने के लिए अब साधु बनकर ऐसे सो रहा है, मानो इसे कुछ पता ही न हो। ऐसा सोचकर उस मूर्ख ने उस सोये हुए पुरुष को कसकर एक लात मारी। वह पुरुष बहुत दिनों से वहाँ सो रहा था। पैर की चोट लगने से वह उठ बैठा और धीरे-धीर उसने अपनी आंखें खोलीं। उसकी दृष्टि पड़ते ही कालयवन के शरीर में आग उत्पन्न हो गई और वह क्षणभर में जलकर भस्म हो गया।

इसपर परीक्षित ने पूछा—'ऋषिश्रेष्ठ! जिसके दृष्टिपात-मात्र से कालयवन जलकर भस्म हो गया, वह पुरुष था कौन? वह किस वंश का और किसका पुत्र था? उसमें यह कैसी शक्ति थी और फिर वह पर्वत की गुफा में जाकर यों क्यों सो रहा था? कृपाकर मेरा सन्देह निवारण कीजिये?'

शुकदेवजी ने कहा—'परीक्षित! वे इक्ष्वाकुवंशी महाराजा मान्धाता के पुत्र मुचुकुन्द थे। वे परम भक्त, सत्यप्रतिज्ञ, संग्राम-विजेता महापुरुष थे। एक बार असुरों से डरकर देवताओं ने राजा मुचुकुन्द से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की और उन्होंने बहुत काल तक उनकी रक्षा भी की। जब देवताओं को स्वामी कार्तिकेय जैसे महान सेनापति मिल गये, तब उन्होंने मुकुचुन्द से कहा—'राजन्! आपने हमारी रक्षा के लिए अत्यंत श्रम और कष्ट उठाया है। अब आप जाकर विश्राम कीजिये। आपने हमारे लिए केवल अपना अकण्टक राज्य ही नहीं छोड़ा, वरन् सारी अभिलाषाओं और भोगों का भी परित्याग कर दिया है। अब आपके बन्धु-बान्धव कोई भी नहीं बचे हैं। बलवान काल ने सबको उदरस्थ कर लिया है। अतः आपकी जो इच्छा हो, हमसे माँग लीजिये। हम एक कैवल्य-मोक्ष के अतिरिक्त और सभी कुछ दे सकते हैं।' राजा मुचुकुन्द ने थके होने के कारण उनसे केवल

निद्रा का ही वर माँगा और उनसे वर पाकर वे उस पर्वत की गुफा में जाकर सो गये। देवताओं ने उनके सोने के लिए जाते समय यह भी कह दिया था कि सोते हुए में यदि आपको कोई जगा देगा तो आपकी दृष्टि पड़ते ही वह तत्काल भस्म हो जायगा।'

परीक्षित! कालयवन के भस्म हो जाने के बाद भगवान श्रीकृष्ण ने परमभक्त राजा मुचुकुन्द को अपना दर्शन दिया। मुचुकुन्द बड़े धीरपुरुष थे। फिर भी भगवान की वह ज्योतिर्मयी मूर्ति देखकर वे चकित हो गये और सशंकित होकर उन्होंने पूछा—आप कौन हैं और इस कंटकाकीर्ण वन में क्यों विचर रहे हैं? आपका इस पर्वत की गुफा में आने का क्या प्रयोजन था? क्या आप समस्त तेजस्वियों में मूर्तिमान तेज अथवा भगवान अग्निदेव तो नहीं हैं? क्या आप सूर्य, चन्द्रमा या देवराज इन्द्र हैं? क्या आप देवताओं के आराध्यदेव ब्रह्मा, विष्णु, शंकर या स्वयं पुरुषोत्तम नारायण तो नहीं हैं? पुरुषश्रेष्ठ! यदि आपको रुचे तो हमें अपना जन्म, कर्म और गोत्र बतलाइये। हम सच्चे हृदय से उसे सुनने के इच्छुक हैं। मैं महाराज मान्धाता का पुत्र मुचुकुन्द हूं। अभी-अभी किसीने मुझे जगा दिया और उसके पापों ने उसे जलाकर भस्म कर दिया है। उसके जलने के बाद मैं आपको देख रहा हूं; पर अधिक देर तक आपको देख सकने में मैं अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ।'

मुचुकुन्द की मधुर वाणी सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—'प्रिय मुचुकुन्द! मेरे जन्म, कर्म और नाम अनन्त हैं। इसलिए मैं भी उनकी गिनती नहीं कर सकता। तथापि वर्तमान में मैंने यदुकुल-श्रेष्ठ वसुदेवजी के यहाँ अवतार लिया है। इसलिए लोग मुझे वासुदेव भी कहते हैं। यह जो तुम्हारी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो गया, कालयवन नामक एक दुष्ट था। पहले

तुमने मेरी बड़ी आराधना की थी इसलिए तुमपर कृपा करने के लिए मैं इस गुफा में आया हूँ। राजर्षे! तुम्हारी जो अभिलाषा हो मुझसे कहो। मैं उसे पूर्ण कर दूँगा।'

भगवान श्रीकृष्ण के इस प्रकार कहने पर मुचुकुन्द को ऋषि गर्ग का वह कथन याद आ गया कि 'यदुवंश में भगवान अवतीर्ण होनेवाले हैं।' अतः आनंद-विभोर होकर वे उनके चरणों में प्रणाम करके इस प्रकार स्तुति करने लगे—'प्रभो! जगत के समस्त प्राणी आपकी माया से अत्यन्त मोहित और आपसे विमुख होकर अनर्थ में ही फँसे रहते हैं—आपका भजन नहीं करते। वे सुख की खोज में सांसारिक झंझटों में फँसकर मति-गति ही खो बैठते हैं। वे तुच्छ विषय-सुख के पीछे ही अपने सारे प्रयत्न लगा देते हैं, आपके चरणकमलों की उपासना नहीं करते और पशु के समान तृण के लोभ से अन्धकूप में जा गिरते हैं। भगवन्! मैं राजा था। राज्य-मद से मतवाला होकर इस शरीर को ही आत्मा समझ बैठा था। मैं पृथिवी के लोभ-मोह में ही फँसा हुआ था। उसीकी चिन्ता मुझे दिन-रात घेरे रहती थी। इस प्रकार मेरे जीवन का अमूल्य समय निरर्थक चला गया। जैसे सांप असावधान चूहे को दबोच लेता है, वैसे ही कालरूप से आप प्रमादग्रस्त प्राणियों का एकाएक अन्त कर देते हैं। जो लोग विषय-भोग छोड़ कर पुनः राज्य-लाभ की इच्छा से ही दान-पुण्य करते हैं और जिनकी तृष्णा अत्यन्त बढ़ी है, वे कदापि सुखी नहीं हो सकते। जब जीव का संसार-चक्र से छूटने का समय होता है, तब उसे सत्संग प्राप्त होता है और आपमें उसकी बुद्धि दृढ़ता से लग जाती है। आपने मुझपर परम अनुग्रह किया है, क्योंकि बिना किसी परिश्रम के अनायास ही मेरे बन्धन टूट गये हैं। आपकी आराधना करके कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने को बांधने के लिए सांसारिक विषयों का ही वर मांगेगा? मैं आपके

चरणों की सेवा के अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता। मैं अपने फलों को भोगते-भोगते अत्यन्त आर्त्त हो रहा था और उनकी दुःख-ज्वाला दिन-रात मुझे जलाती रहती थी। अब मैं आपके भय-मृत्यु-शोक-रहित चरणकमलों की शरण में आ गया हूँ। आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये।"

मुचुकुन्द की विनय सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'राजन्! तुम्हारा यह निश्चय परम पवित्र है। तुम अपने मन को मुझमें समर्पित कर स्वच्छन्द रूप से पृथिवी पर विचरण करो और एकाग्रचित्त से मेरी उपासना करते हुए तपस्या करके पापों को धो डालो। फिर शीघ्र ही तुम मुझे प्राप्त कर लोगे।'

परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार राजा मुचुकुन्द पर अनुग्रह किया। मुचुकुन्द भगवान की परिक्रमा करके गुफा से बाहर निकले और उत्तर दिशा की ओर चल दिये। धैर्य और अनासक्ति द्वारा अपने चित्त को स्थिर कर गन्धमादन पर्वत पर जाकर भगवान की आराधना करने लगे।

इधर श्रीकृष्ण ने पुनः मथुरापुरी में लौटकर म्लेच्छ-सेना का घोर संहार किया। इसके बाद जब वे द्वारका चलने को तैयार हुए तब उसी समय जरासंध अपनी विशाल सेना सहित पुनः उन-पर आक्रमण करने आया। इस बार उसकी सेना का प्रबल वेग देख, वे बलरामजी के साथ फुर्ती से मथुरा छोड़ कर निकल गये। जरासंध ने उन दोनों का पीछा किया; पर वे सकुशल द्वारकापुरी पहुँच गये। जरासंध इसके बाद मगध देश को लौट गया।

रुक्मिणी-हरण

उनके द्वारका पहुँचने पर अनार्य देश के राजा रैवत ने अपनी रेवती नामकी कन्या बलरामजी को ब्याह दी। श्रीकृष्ण भी स्वयम्वर में शिशुपाल, शाल्व आदि राजाओं को हराकर विदर्भ देश की

राजकुमारी रुक्मिणी को हर लाये और उनसे विवाह कर लिया। रुक्मिणी राजा भीष्मक की कन्या थी।

परीक्षित ने पूछा—'मुनिवर! परमतेजस्वी भगवान श्रीकृष्ण ने जरासंध, शाल्व आदि राजाओं को जीतकर किस प्रकार रुक्मिणी का हरण किया?'

शुकदेवजी ने उत्तर दिया—'परीक्षित! भीष्मक विदर्भ देश के राजा थे। उनके पाँच पुत्र और एक परम सुन्दरी कन्या थी। सबसे बड़े पुत्र का नाम रुक्मी और कन्या का नाम रुक्मिणी था। रुक्मिणी के महल में आने-जानेवाले अतिथि प्रायः भगवान श्रीकृष्ण की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। अतः जब उन्होंने श्रीकृष्ण के पराक्रम, गुण और वैभव की प्रशंसा सुनी, तब उन्हें ही अपना पति वरण करने का निश्चय किया। श्रीकृष्ण भी जानते थे कि रुक्मिणी में बड़े सुन्दर लक्षण हैं और वह बुद्धिमती, शीलवती तथा गुणों में अद्वितीय हैं। अतः उन्होंने भी उनसे विवाह करने का निश्चय किया। रुक्मिणी का भाई रुक्मी श्रीकृष्ण से बड़ा द्वेष रखता था। इसलिए शिशुपाल को ही उसने अपनी बहन के योग्य वर समझा।

यह बात जब रुक्मिणी को मालूम हुई, तब उन्होंने एक विश्वासपात्र ब्राह्मण को भगवान श्रीकृष्ण के पास द्वारिका भेजा। ब्राह्मण जब द्वारकापुरी पहुँचा तब श्रीकृष्ण ने उसका समुचित आदर-सत्कार करने के पश्चात उससे पूछा—'आप कहाँ से, किस हेतु और किस अभिलाषा से इतना कठिन मार्ग तय करके यहाँ आये हैं? हम आपकी क्या सेवा करें?'

भगवान श्रीकृष्ण के इस प्रकार पूछने पर ब्राह्मण देवता ने सारी बातें उन्हें कह सुनाईं और फिर रुक्मिणी का यह संदेश कहा—'त्रिभुवन-सुन्दर! आपके गुणों को सुननेवाले जीव को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों फल मिल जाते हैं। मनुष्य-लोक में

जितने भी प्राणी हैं, सभी का मन आपको देखकर शांति-लाभ करता है। मेरे मन ने आपको पतिरूप से वरण कर लिया है। आप अंतर्यामी हैं, मेरे हृदय की बात आपसे छिपी नहीं है। अतः आप यहाँ पधारकर मुझे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कीजिये। जिस दिन मेरा विवाह होनेवाला हो, उसके एक दिन पहले आप हमारी राजधानी में गुप्तरूप से आ जाइये और यहाँ जरासंध और शिशुपाल की सेनाओं को विध्वंस कर मुझे ग्रहण कीजिये। हमारे कुल का ऐसा नियम है कि विवाह के पहले दिन कुलदेवी का दर्शन करने के लिए कन्या को नगर के बाहर गिरिजादेवी के मन्दिर में जाना पड़ता है। उस दिन यदि मैं आपकी चरण-धूल प्राप्त नहीं कर सकी तो प्राण दे दूँगी।'

परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण ने राजकुमारी रुक्मिणी का यह संदेश सुनकर ब्राह्मण से कहा—'विप्रवर! मैं उन क्षत्रियकुल-कलंकों को नष्ट कर राजकुमारी को अपने यहाँ ले आऊँगा।' इसके बाद उन्होंने सारथी को रथ लाने की आज्ञा दी और ब्राह्मण देवता को साथ लेकर शीघ्र ही विदर्भ देश जा पहुँचे।

महाराज भीष्मक अपने बड़े पुत्र रुक्मी के स्नेहवश अपनी कन्या शिशुपाल को देने के लिए विवाहोत्सव की तैयारी कर रहे थे। नगर के राजपथ पर तोरण-पताकाएं सजा दी गई थीं। राजा ने देवताओं का विधिपूर्वक पूजन करने के उपरांत रुक्मिणी को आभूषणों से अलंकृत कराया और मंगल मुहूर्त की प्रतीक्षा करने लगे। इसी प्रकार राजा दमघोष ने भी अपने पुत्र शिशुपाल के विवाह-संबंधी मंगल कृत्य कराए। इसके बाद वे चतुरंगिणी सेना लेकर कुण्डिनपुर जा पहुँचे। वहां राजा भीष्मक ने उनका समुचित आदर-सत्कार किया। बारात में शाल्व, जरासंध, दंतवक्त्र, विदूरथ और पौण्ड्रक आदि शिशुपाल के मित्र नरपति भी अपनी-अपनी सेना के साथ आये थे। वे सब-के-सब श्रीकृष्ण के विरोधी

थे और इस विचार से यहां आये थे कि जैसे भी हो, राजकुमारी रुक्मिणी शिशुपाल को ही मिले। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यदि यदुवंशी राजकुमारी को हरने का प्रयत्न करेंगे तो सब मिलकर उनसे युद्ध करेंगे। विपक्षी राजाओं की इस तैयारी का पता बलरामजी को लग गया था। जब उन्होंने सुना कि श्रीकृष्ण अकेले ही राजकुमारी का हरण करने के लिए चले गए हैं, तब वे तुरंत अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर कुण्डिनपुर चल पड़े। इधर रुक्मिणी भगवान श्रीकृष्ण के शुभागमन की प्रतीक्षा कर रही थी। जब उन्होंने देखा कि अबतक संदेशवाहक ब्राह्मण नहीं लौटा तो वह बड़ी चिंता में पड़ गईं। सोचने लगी कि विवाह होने में अब केवल एक रात की देर है और कमलनयन भगवान अबतक नहीं पधारे, इसका क्या कारण हो सकता है? उन्होंने मुझमें कुछ बुराई देखी होगी, तभी तो मेरा कल्याण करने नहीं पधारे हैं?

परीक्षित! रुक्मिणी इसी उधेड़-बुन में थी कि उनकी बाईं भुजा और नेत्र फड़क कर भगवान के आगमन का प्रिय संवाद सूचित करने लगे। थोड़ी देर में ब्राह्मण देवता भी आ गए। उनका प्रफुल्लित मुख देखकर रुक्मिणी के हृदय में आशा बँधी। भगवान श्रीकृष्ण के शुभागमन का समाचार सुनकर उनका हृदय आनंद से भर गया।

महाराजा भीष्मक ने जब सुना कि श्रीकृष्ण और बलरामजी मेरी कन्या का विवाह देखने के लिए पधारे हैं, उन्होंने पूजा की सामग्री लेकर उनकी अगवानी की और मधुपर्कादि भेंट दे, विधिवत उनका सत्कार किया। राजा भीष्मक बड़े बुद्धिमान और भगवान के परम भक्त थे। विदर्भ देश के नागरिकों ने जब सुना कि श्रीकृष्ण पधारे हैं, तो वे आपस में कहने लगे कि राजकुमारी रुक्मिणी इन्हींकी अर्धांगिनी होने के योग्य हैं, श्यामसुन्दर ही इसके योग्य पति होंगे।'

परीक्षित ! विवाह के एक दिन पूर्व ठीक समय पर रुक्मिणी अन्तःपुर से निकलकर देवीजी के मन्दिर की ओर चलीं। उस समय बहुत-से सैनिक उनकी रक्षा पर नियुक्त थे। साथ में माताएं, तथा सहेलियाँ मंगलगान करती हुईं उन्हें घेरे जा रही थीं और तरह-तरह के बाजे बज रहे थे। मंदिर में पहुँचकर रुक्मिणी ने विधि-विधान से माता भवानी को प्रणाम किया और उनसे अपनी अभिलाषा पूर्ण करने की प्रार्थना की। पूजा समाप्त होने पर वे गिरिजा-मंदिर से बाहर निकली ही थीं कि भगवान श्रीकृष्ण के उन्हें दर्शन हुए। अब वह ज्यों ही अपने रथ पर चढ़ने लगीं कि श्रीकृष्ण ने सबके देखते-ही-देखते उन्हें उठाकर अपने रथ पर बिठा लिया। जिस प्रकार सियारों के बीच में से सिंह अपना भाग ले जाता है, ऐसे ही श्रीकृष्ण रुक्मिणी को लेकर बलरामजी आदि यदुवंशियों के साथ वहाँ से चल दिये। स्वयंवर में आये हुए राजाओं को अपना यह तिरस्कार सहन नहीं हुआ। वे क्रोध से आग-बबूला हो उठे और अपनी-अपनी सेना लेकर श्रीकृष्ण का पीछा करने लगे। जब यदुवंशियों ने देखा कि शत्रुदल बड़ी तेजी से चढ़ा आ रहा है तब वे भी उनका सामना करने के लिए डट गये। जरासंध की सेना ने यदुवंशियों को अपनी बाण-वर्षा से ढक दिया। किन्तु गद और संकर्षण आदि यदुवंशी वीरों ने शत्रुओं के इस पराक्रम का सफलता-पूर्वक मुकाबला किया और उनके रथ, हाथी तथा सैनिकों का अपार संहार कर डाला। अंत में जरासंध आदि पराजित राजे पीठ दिखा-दिखाकर भाग खड़े हुए।

अपनी भावी पत्नी के छिन जाने के कारण शिशुपाल के हृदय में उत्साह और शरीर पर कान्ति नहीं रही। उसकी यह दशा देखकर जरासंध ने उससे कहा—'शिशुपाल ! आप एक श्रेष्ठ पुरुष हैं। आप खिन्नता छोड़कर प्रसन्न हो जाइए। कोई भी बात सर्वदा मन के अनुकूल या प्रतिकूल ही हो, यह स्थिरता किसी भी

प्राणी के जीवन में नहीं देखी जाती। जैसे कठपुतली बाजीगर की इच्छा के अनुसार नाचती है, यह जीव भी प्रारब्ध के अधीन रह-कर सुख-दुःख भोगता रहता है। कृष्ण ने मुझे सत्रह बार हराया, किंतु उसपर मैंने केवल एक बार ही विजय प्राप्त की। फिर भी मैं न शोक करता हूँ और न हर्ष। प्रारब्ध के अनुसार काल ही इस चराचर जगत को झकझोरता रहता है। इस बार हमारे शत्रुओं की जीत है, क्योंकि काल उन्हींके अनुकूल था। जब काल हमारे पक्ष में होगा, तब हम भी उन्हें जीत लेंगे। जब मित्रों ने इस प्रकार चेदिराज शिशुपाल को समझाया, तब वह अपनी राजधानी को लौट गया और उसके मित्र भी अपने-अपने स्थान को चले गए।

रुक्मिणी का बड़ा भाई रुक्मी श्रीकृष्ण से बहुत द्वेष रखता था। उनकी यह ढिठाई उसे बिलकुल ही सहन नहीं हुई। अतः एक बड़ी सेना लेकर उसने उनका पीछा किया। इससे पूर्व उसने प्रतिज्ञा भी करली कि 'यदि युद्ध में मैं श्रीकृष्ण को न हरा सका तो पुनः राजधानी को वापस नहीं लौटूँगा।' उसकी बुद्धि बिगड़ गई थी। इसीसे श्रीकृष्ण के निकट पहुँचने पर उसने उन्हें ललकारना शुरू किया।

'यदुकुल-कलंक! जैसे कौआ होम की सामग्री चुराकर उड़ जाय, वैसे ही तू मेरी बहन को चुराकर भागा जा रहा है। तू बड़ा मायावी और कपट-युद्ध में कुशल है। ठहर, आज मैं तेरा सारा गर्व धूल में मिला दूँगा।' ऐसा कहकर उसने अनेक तीक्ष्ण बाण श्रीकृष्ण पर छोड़े। भगवान ने मुस्कराते-मुस्कराते ही उसके बाण और धनुष काट डाले तथा घोड़े और सारथि को मार कर उसका रथ भी तोड़ डाला। रूक्मी क्रुद्ध होकर हाथ में तलवार ले, श्रीकृष्ण पर इस प्रकार झपटा मानो पतंगा आग की ओर लपक रहा हो। किन्तु श्रीकृष्ण ने अपने बाणों से उसकी ढाल और

तलवार काट डाली और उसे मार डालने के लिए तलवार उठाई। अपने भाई पर यह काल-संकट उपस्थित देखकर रुक्मिणी विकल हो गईं और भगवान के चरणों पर गिरकर विनयपूर्वक बोलीं—'जगत्पते। आपके स्वरूप और इच्छाओं को कोई जान नहीं सकता। आप परम बलवान किन्तु कल्याण-स्वरूप हैं। प्रभो! मेरे भाई को मारना आपके योग्य काम नहीं है।'

रुक्मिणी को भयभीत देखकर भगवान करुणा से द्रवित हो गये और रुक्मी को मार डालने का विचार उन्होंने बदल दिया। इसपर भी रुक्मी उनका अनिष्ट करने के प्रयत्न से विमुख नहीं हुआ। तब भगवान श्रीकृष्ण ने उसे बुरी तरह अपमानित करके रथ से उसीके दुपट्टे से कस कर बाँध दिया। यदुवंशी वीरों ने इस बीच उसकी सेना को छिन्न-भिन्न कर डाला। रुक्मी को बँधा और अर्धमृत अवस्था में देखकर बलरामजी को दया आ गई। उन्होंने उसके बन्धन खोल दिए और श्रीकृष्ण से कहा—'कृष्ण! तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। यह निन्दनीय कार्य हम लोगों के योग्य नहीं है। अपने सम्बन्धी को इस बुरी तरह अपमानित करना तो एक प्रकार से उसका वध ही है। यदि अपना सगा-सम्बन्धी वध करने योग्य अपराध करे तो भी उसका बध करना उचित नहीं है। अतः इसे छोड़ देना चाहिए। जो लोग अभिमानी हैं और धन के नशे में अन्धे हो रहे हैं, वे राज्य, पृथिवी, स्त्री, मान, तेज अथवा किसी और कारण से अपने बन्धुओं का भी तिरस्कार कर दिया करते हैं।'

इसके बाद रुक्मिणी को सम्बोधित करते हुए बलराम ने कहा—'साध्वी! तुम्हारे भाई को अपमानित करके जो बाँध दिया गया था, इससे तुम बुरा मत मानना। जीव को सुख-दुःख तो अपने कर्मफल के अनुसार ही भोगने पड़ते हैं। तुम्हारा भाई रुक्मी समस्त प्राणियों के प्रति दुर्भाव रखते हैं। अतः उसके

मंगल के लिए ही उसे यह दंड दिया गया है। यह शरीर आदि-अन्तवाला है। आत्मा से ही इसकी कल्पना हुई है। जो इस शरीर को मैं और मेरा समझता है, उसे यह जन्म-मृत्यु के चक्कर में ले जाता है। नेत्र और रूप दोनों ही सूर्य के द्वारा प्रकाशित होते हैं—सूर्य ही उनका कारण है। इसलिए सूर्य के साथ नेत्र और रूप का न तो कभी संयोग होता है और न वियोग। इसी प्रकार समस्त संसार का प्रकाशक आत्मा ही है। फिर आत्मा के साथ दूसरे असत्य पदार्थों का संयोग या वियोग हो ही कैसे सकता है? जन्म लेना, रहना, बढ़ना बदलना, घटना और मरना—ये सारे विकार शरीर के होते हैं, आत्मा के नहीं। जैसे कृष्णपक्ष में कलाओं का ही क्षय होता है, चन्द्रमा का नहीं। परन्तु अमावस्या के दिन लोग चन्द्रमा को ही क्षय हुआ कहते सुनते हैं, वैसे ही जन्म-मृत्यु आदि सारे विकार शरीर के ही होते हैं। परन्तु भ्रमवश लोग उसे अपने आत्मा का मान लेते हैं। इसलिए साध्वी! अज्ञान-जनित इस शोक को तुम त्याग दो; शोक अन्तःकरण को मुरझा देता है।

परीक्षित! बलरामजी के इस प्रकार समझाने पर रुक्मिणी को समाधान हो गया। रुक्मी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपमानित होने के बाद भोजकट नामक नगर बसाकर उसीमें रहने लगा, कभी कुण्डिनपुर वापस नहीं गया। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को द्वारका में लाकर उनका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया। विवाह में मित्र-नरपति आमंत्रित किये थे और सभी उस उत्सव में उछाह मना रहे थे। भगवती रुक्मिणी को भगवान श्रीकृष्ण के साथ साक्षात् लक्ष्मी के समान देखकर द्वारकावासी नर-नारियों के आनन्द की सीमा नहीं रही।

परीक्षित! रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न का जन्म हुआ, जो शिव द्वारा भस्मीभूत कामदेव के अवतार थे। प्रद्युम्न का

विवाह रतिरूपा मायावती के साथ हुआ। यह शम्बरासुर नामक मायावती दैत्य की दासी थी।

एक दिन मायावती ने अपने पति प्रद्युम्न से कहा—'यह शंबरासुर सैकड़ों प्रकार की माया जानता है और इसे जीतना अत्यन्त कठिन है। आप इसे किसी प्रकार शीघ्र नष्ट कर डालिए।' रतिरूपा मायावती ने इस प्रकार कहकर प्रद्युम्न को महामाया नाम की विद्या सिखाई। इससे सभी मायाओं का नाश सम्भव हो जाता है। इस विद्या में निपुण होकर प्रद्युम्न ने शम्बरासुर को युद्ध करने के लिए ललकारा।

वह हाथ में गदा लेकर निकल आया और जोर का सिंहनाद करता हुआ प्रद्युम्न पर उसने प्रहार किया। प्रद्युम्न ने अपनी गदा से उसकी गदा को पृथिवी पर गिरा दिया। तब वह असुर उनपर अन्य अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगा। प्रद्युम्न ने अपनी तीक्ष्ण तलवार से किरीट-कुण्डलयुक्त शम्बरासुर का सिर धड़ से अलग कर दिया। इसपर द्वारकापुरी में भारी आन्दोलन मनाया गया।

स्यमंतक मणि

परीक्षित! एक बार सत्राजित ने भगवान श्रीकृष्ण पर झूठा कलंक लगाया था। उस अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिए उसने अपनी पुत्री सत्यभामा को उन्हें समर्पित कर दिया।

शुकदेवजी ने उत्तर देते हुए कहा—'परीक्षित! सत्राजित् सूर्य भगवान का बहुत बड़ा भक्त था। सूर्य नारायण ने उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसे स्यमन्तक नाम की एक मणि दी। उस मणि का यह प्रभाव था कि जहाँ कहीं भी वह पूजित होकर रहती वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, मानसिक और शारीरिक पीड़ा तथा अशुभ घटना नहीं घटती थी। सत्राजित् एक बार इसे गले में

धारण कर द्वारकापुरी में आया। उस समय उसकी तेजस्विता देख-कर लोग उसे पहचान ही न सके। अतः उन लोगों ने जाकर इसकी सूचना श्रीकृष्ण को दी कि सम्भवतः स्वयं सूर्य नारायण ही यहाँ पधारे हैं। श्रीकृष्ण ने उन्हें बताया कि वे सूर्य नहीं, सत्राजित् हैं।

राजसभा में पहुँचने पर संयोगवश भगवान श्रीकृष्ण ने राजा उग्रसेन को वह मणि दे देने के लिए सत्राजित् से कहा; पर उसने उनके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके थोड़े ही दिन बाद एक दिन सत्राजित् का भाई प्रसेन उस परम प्रकाशमयी मणि को गले में धारण कर शिकार खेलने वन में गया। वहाँ एक सिंह ने घोड़े-सहित प्रसेन को मार डाला। वह सिंह उस मणि को लेकर एक पर्वत की गुफा में घुस ही रहा था कि ऋक्षराज जाम्बवान् ने उसे भी मार डाला और उस मणि को अपनी गुफा में ले जाकर बच्चों को खेलने के लिए दे दिया।

अपने भाई प्रसेन के न लौटने से सत्राजित को बड़ा दुःख हुआ। वह कहने लगा सम्भव है कि कृष्ण ने ही मेरे भाई को मार डाला हो। जब श्रीकृष्ण को यह बात मालूम हुई तो इस कलंक को दूर करने के विचार से, वे कुछ प्रतिष्ठित पुरुषों को साथ लेकर प्रसेन को ढूंढ़ने के लिए वन में गए। वहाँ उन लोगों ने देखा कि एक स्थान पर किसी सिंह ने घोड़े-सहित प्रसेन को मार डाला है। वे सिंह के पैर का चिह्न देखते हुए आगे बढ़े, तो देखा कि पर्वत की एक गुफा के पास किसी ने उस सिंह को भी मार डाला है। यह देखकर श्रीकृष्ण ने साथियों को उस गुफा के बाहर बैठाकर अकेले ही उस घोर अंधकारमय भयंकर गुफा में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने देखा कि उस श्रेष्ठ मणि से बच्चे खेल रहे हैं। वे उसे ले लेने की इच्छा से बच्चों के पास जा खड़े हुए पर एक अपरिचित मनुष्य को वहाँ देखकर उन बच्चों की धाय

चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट सुनते ही परमबली ऋक्षराज जांबवान वहाँ दौड़ आये और क्रोधित हो भगवात श्रीकृष्ण से युद्ध करने लगे। क्रोध में उन्हें भगवान की महिमा का पता न चला और उन्होंने उनपर अस्त्र-शस्त्रों तथा शिलाओं का प्रहार किया। दोनों विजय प्राप्त करने के लिए आपस में एक-दूसरे पर वार कर रहे थे और अन्त में तो बाहु-युद्ध भी शुरू हो गया। पर भगवान श्रीकृष्ण के घूँसों की चोट से जाम्बवान के शरीर की एक-एक गांठ ढीली पड़ गई। उनका युद्ध करने का उत्साह जाता रहा। तब उन्होंने अत्यन्त विस्मित होकर कहा—'प्रभो! मैं अब जान गया। आप समस्त प्राणियों के स्वामी भगवान विष्णु हैं। आप ही सबके प्राण, इन्द्रिय-बल, मनोबल तथा शरीर-बल हैं। आप ही काल के भी परमकाल हैं। आपने क्रोध की दृष्टि से जब समुद्र की ओर देखा था, वह समय मुझे आज भी याद है। उस समय मगरमच्छ क्षुब्ध हो गये थे और समुद्र ने भयवश आपको मार्ग दे दिया था। तब आपने उसपर सेतु बाँधकर लंका का विध्वंस किया।' जब ऋक्षराज जाम्बवान ने भगवान को पहचान लिया तब उन्होंने उनसे कहा—"ऋक्षराज! हम इस मणि के लिए ही तुम्हारी गुफा में आये हैं। इसके द्वारा हम अपने ऊपर लगे झूठे कलंक को मिटाना चाहते हैं।" उनके ऐसा कहने पर जाम्बवान ने बड़े आनन्द से अपनी कन्या जाम्बवंती सहित वह मणि भगवान को समर्पित कर दी।

श्रीकृष्ण जिन यदुवंशियों को कन्दरा के बाहर बिठा आये थे, उन्होंने बारह दिन तक प्रतीक्षा की, उसके बाद दुःखी होकर वे द्वारका लौट आये। लोगों को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण इतने दिनों के बाद भी गुफा से नहीं निकले तो उनके शोक का पार नहीं रहा। लेकिन कुछ ही समय बाद भगवान स्यमन्तक मणि और जाम्बवंती के साथ द्वारका आ पहुँचे। श्रीकृष्ण ने सत्राजित्

को राजसभा में बुलवाया और सारी कथा सुनाकर वह मणि उसे दे दी। सत्राजित् उस मणि को लेकर अपने घर को चला। पर मार्ग में उसने सोचा कि मेरे इस गुरुतर अपराध का प्रायश्चित्त तभी हो सकता है, जब कि इस मणि के साथ अपनी सुशील कन्या सत्यभामा को मैं भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर दूँ। ऐसा सोचकर वह इन दोनों के साथ भगवान की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान ने सत्यभामा का तो विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण कर लिया; पर स्यमन्तक मणि पुनः सत्राजित् को ही लौटा दी।

परीक्षित ! भगवान श्रीकृष्ण को लाक्षागृह में कुन्ती और पांडवों के जलने की बात जब मालूम हुई तो वे बलरामजी के साथ हस्तिनापुर गये और वहाँ उन्होंने भीष्म पितामह, विदुर और गांधारी आदि के साथ सहानुभूति प्रकट की। उनके हस्तिनापुर चले जाने पर द्वारका में अक्रूर और कृतवर्मा ने शतधन्वा को सत्राजित् से स्यमंतक मणि छीन लेने की सलाह दी। शतधन्वा दुष्ट था। वह उनकी बातों में आ गया और सत्राजित् को मारकर मणि ले वहाँ से चम्पत हो गया। सत्यभामा को पिता की इस प्रकार की मृत्यु से बड़ा शोक हुआ और उन्होंने हस्तिनापुर में जाकर अपने पिता की मृत्यु का सारा वृत्तांत भगवान श्रीकृष्ण से कहा। सत्यभामा और बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण तुरंत द्वारका लौट आये और शतधन्वा को उसके पाप का दण्ड देने की तैयारी करने लगे। जब यह शतधन्वा को मालूम हुआ तो उसने कृतवर्मा से सहायता माँगी। इसपर कृतवर्मा ने उससे कहा—"भगवान श्रीकृष्ण और बलरामजी सर्वशक्तिमान हैं। भला, ऐसा कौन है, जो उनसे वैर बिसाहकर इस लोक या परलोक में सकुशल रह सके ? तुम्हें मालूम है कि कंस और जरासंध को भी उनके हाथ हार खानी पड़ी ? मेरी उनके सामने क्या हस्ती है ?" कृतवर्मा

से निराश होने पर शतधन्वा अक्रूरजी के पास सहायता माँगने के लिए गया। उन्होंने भी उससे कहा—'भाई ! ऐसा कौन है जो भगवान श्रीकृष्ण का बल-पौरुष जानकर भी उनसे वैर ठानेगा ? तुम्हें क्या मालूम नहीं कि उन्होंने सात वर्ष की अवस्था में ही गिरि-राज गोवर्द्धन को उखाड़ लिया और कनिष्ठिका अँगुली पर उठाये रखा था। उनके कर्म अद्भुत हैं।' अब जब अक्रूरजी ने भी उसे निराश करनेवाला ही उत्तर दिया तो शतधन्वा ने स्यमंतक मणि उन्हींके पास धरोहर छोड़ दी और आप घोड़े पर सवार होकर वहाँ से भागा। श्रीकृष्ण और बलराम ने भी रथ पर सवार होकर उसका पीछा किया। संयोगवश मिथिलापुरी के सन्निकट शतधन्वा का घोड़ा गिरकर मर गया। अतः उसे वहीं मरा छोड़ उसे पैदल ही भागना पड़ा। किंतु भगवान श्रीकृष्ण शीघ्र ही उसके पास पहुँच गए और उन्होंने चक्र से उसका सिर काट डाला। परंतु जब उनके वस्त्रों में उन्होंने स्यमंतक मणि को ढूंढ़ा तो वह उसके पास नहीं मिली। निराश होकर श्रीकृष्ण ने तब बलरामजी से कहा कि शतधन्वा को हमने निरर्थक ही मार डाला, स्यमंतक मणि तो इसके पास नहीं है। बलरामजी ने कहा—'सम्भव है, शत-धन्वा ने स्यमंतक मणि किसीके पास रख छोड़ी हो। अब तुम द्वारका में जाकर उसका पता लगाओ। मैं राजा जनक से मिलने जा रहा हूँ; वे मेरे परममित्र हैं।"

परीक्षित ! यह कहकर यदुवंश-शिरोमणि बलराम मिथिला चले गये। मिथिला-नरेश ने जब देखा कि बलरामजी पधारे हैं, तो उनका हृदय आनन्द से भर गया। महात्मा जनक ने उनकी विधिवत पूजा की और बड़े प्रेम और सम्मान से उन्हें वहाँ रखा। वहीं पर दुर्योधन ने बलरामजी से गदायुद्ध की शिक्षा ली थी। इधर भगवान श्रीकृष्ण सत्यभामा का प्रिय कार्य करके द्वारका लौट आये और उन्होंने शतधन्वा की मृत्यु का समाचार उन्हें

सुना दिया। उसके पास मणि न मिलने की बात भी उन्होंने सत्यभामा से कह दी। जब अक्रूर और कृतवर्मा ने सुना कि सत्राजित् के हत्यारे शतधन्वा को भगवान श्रीकृष्ण ने मार डाला है तो वे भी वहाँ से भाग खड़े हुए, क्योंकि इस नारकीय कार्य के लिए उसे उन्होंने ही उभाड़ा था। पर श्रीकृष्ण ने दूत भेजकर अक्रूरजी और कृतवर्मा को बुलवाया और उनका खूब सत्कार किया। उनके समझाने-बुझाने और सान्त्वना देने पर अक्रूरजी ने वस्त्र में लपेटी हुई सूर्य के समान प्रकाशमान वह मणि निकाली और उसे भगवान कृष्ण को दे दिया। श्रीकृष्ण ने उसे अपने जाति-भाइयों को दिखाकर अपना कलंक दूर किया और फिर उसे अक्रूरजी को ही लौटा दिया।

परीक्षित! इस समय तक यह बात प्रमाणित हो चुकी थी कि पाण्डव लाक्षाग्रह में जले नहीं। इसलिए उनसे मिलने के लिए भगवान श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ पधारे। उन्हें आते देखकर पाण्डवों ने उनका स्वागत किया। उनसे मिलकर पाण्डवों को बड़ा आनन्द हुआ। श्रीकृष्ण कुन्ती के पास गये और उन्हें प्रणाम किया। कुन्ती ने आँखों में जल भरकर उनसे कहा—'कृष्ण! तुमने हम लोगों को सम्बन्धी समझकर ही अक्रूर को भेज हमें सनाथ किया था। तुम हमारे परम हितैषी सुहृद हो।' इसके बाद सभी पाण्डवों ने उनसे द्वारका का कुशल-क्षेम पूछा। भगवान श्रीकृष्ण कई महीने उनके साथ इन्द्रप्रस्थ में ही रहे।

वहाँ एक बार श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ जंगली पशुओं से भरे हुए एक वन में शिकार खेलने गये। वहाँ शिकार खेलते-खेलते वे थक गये और प्यास लगने पर यमुना में अर्जुन के साथ जल पीने लगे। जल पीकर जब वे बाहर निकले तो उन्होंने देखा कि एक कन्या वहाँ तपस्या कर रही है। अर्जुन ने उससे

पूछा कि तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो? तुम्हारे यहाँ आकर तपस्या करने का क्या आशय है?

तपस्विनी कन्या ने उत्तर दिया—'मैं भगवान सूर्य की पुत्री कालिन्दी हूँ; भगवान विष्णु को पति के रूप में वरण करने के लिए यहाँ तपस्या कर रही हूँ।' उसका ऐसा संकल्प सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने उससे विधिपूर्वक विवाह कर लिया।

परीक्षित! अब सत्या के विवाह की कथा सुनिए। यह कौसल देश के धर्मनिष्ठ राजा नग्नजित की परम रूपवती कन्या थी। उसे लोग नाग्नजिती भी कहते थे। उसकी प्रशंसा सुनकर भगवान कौसलपुरी पहुँचे। वहाँ कौसलनरेश ने उनका खूब आतिथ्य किया और विनयपूर्वक उनके आने का कारण पूछा। श्रीकृष्ण ने कहा—'मैं आपसे प्रेम का संबंध स्थापित करने के लिए आपकी कन्या का पाणिग्रहण करना चाहता हूँ।' उनका यह प्रस्ताव सुनकर नग्नजित ने कहा—'प्रभो! मेरी कन्या के लिए आपसे बढ़कर उत्तम वर भला कौन हो सकता है? परन्तु इस विषय में मैंने पहले ही एक प्रण कर लिया है। हमारे ये सात उद्दण्ड बैल हैं; यदि आप इन्हें नाथ लें तो आप ही हमारी कन्या के वर होंगे।' उनका यह प्रण सुनकर श्रीकृष्ण ने सहज ही उन सातों बैलों को नाथ डाला। इससे नग्नजित को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी कन्या उन्हें ब्याह दी।

परीक्षित! भूमिपुत्र भौमासुर नामक एक दैत्य ने वरुण का छत्र, माता अदिति के कुण्डल और देवताओं का मणिपर्वत नामक स्थान छीन लिया था। इससे इन्द्र ने द्वारकापुरी में आकर भगवान श्रीकृष्ण से उसके उपद्रव का वृत्तान्त कहा। श्रीकृष्ण तुरन्त भौमासुर की राजधानी में पहुँचे और उससे युद्ध करने के लिए उन्होंने अपना शंख फूंका। उनके पाञ्चजन्य शंख का प्रलयंकर निनाद सुनकर भौमासुर का सेनापति 'मुरदैत्य' नगर के बाहर निकल

आया। उस समय वह सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी दिखाई पड़ रहा था। श्रीकृष्ण को देखते ही वह अपना त्रिशूल उठाकर उनकी ओर लपका ; पर भगवान ने उसका त्रिशूल खंड-खंड कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर उसने अपनी गदा चलाई। भगवान ने अपनी गदा से उस गदा को भी टूक-टूक कर दिया। अब जब वह केवल भुजायें फैलाकर उनकी ओर दौड़ा तो भगवान ने चक्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

असुर मुर के सात पुत्र थे। वे अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए श्रीकृष्ण पर अपने अस्त्रशस्त्रों का प्रहार करने लगे। भगवान ने भी अपने शस्त्र-प्रहारों से सैन्य-सहित उन सातों को यमपुर पहुँचा दिया। जब भौमासुर ने देखा कि श्रीकृष्ण के चक्र और बाणों से सेनापतियों सहित उसकी सेना का नाश हो गया है, तब वह हाथियों की सेना लेकर नगर से बाहर निकला और शतघ्नी नामकी शक्ति श्रीकृष्ण पर चलाने के लिए उसने उठाई। पर वह अभी उसे छोड़ भी न पाया था कि भगवान ने चक्र से उसका सिर काटकर फेंक दिया।

उसकी मृत्यु से उसका पुत्र भगदत्त अत्यन्त भयभीत होकर माता पृथिवी के साथ भगवान की शरण में आया और अपने कल्याण के लिए उसने प्रार्थना की। उसकी भक्तिभावपूर्ण प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान ने भगदत्त को अभयदान दिया। भौमासुर के महल में जाकर उन्होंने देखा कि भौमासुर ने बलपूर्वक राजाओं से सोलह हज़ार राजकुमारियाँ छीनकर अपने यहाँ रख छोड़ी हैं। अकारण कृपा करनेवाले भगवान को अपने बीच देखकर उन बंदी राजकुमारियों ने अपने भाग्य सराहे और पति के रूप में उन्हें वरण कर लिया। भगवान श्रीकृष्ण ने भी कृपाकर उन्हें द्वारकापुरी भिजवा दिया।

परीक्षित ! श्रीकृष्ण की प्रत्येक पटरानी से, रूप, बल आदि

गुणों में उनके ही समान अनेक पुत्र हुए। प्रद्युम्न उनमें मुख्य थे। वैसे तो सभी रानियाँ उनका आदरपूर्वक पूजन किया करती थीं, पर पटरानियाँ उनमें आठ थीं। (रुक्मिणी-नंदन प्रद्युम्न का मायावती रति के अतिरिक्त रूक्मवती से भी विवाह हुआ था। उसीसे परम बलशाली अनिरूद्ध का जन्म हुआ।)

राजा परीक्षित ने पूछा—'मुनिवर! भगवान श्रीकृष्ण ने रण-भूमि में रुक्मी का घोर तिरस्कार किया था। इसलिए वह श्रीकृष्ण से बदला लेने की ताक में अवश्य रहता होगा। फिर उसने अपनी कन्या रूक्मवती का विवाह शत्रु के पुत्र प्रद्युम्नजी से कैसे कर दिया?

शुकदेवजी ने कहा—'राजन्! प्रद्युम्न मूर्तिमान कामदेव थे। उनके सौन्दर्य और गुणों पर रीझकर स्वयंवर में रुक्मवती ने उन्हें ही वरमाला पहना दी। वहाँ इकट्ठे हुए दूसरे नरपतियों के आपत्ति करने पर प्रद्युम्न ने अकेले ही उन्हें जीत लिया। यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण से अपमानित होने के कारण रुक्मी की क्रोधाग्नि शांत नहीं हुई थी, फिर भी अपनी बहन रुक्मिणी को प्रसन्न करने के लिए उसने अपने भानजे प्रद्युम्न को अपनी बेटी ब्याह दी। रुक्मिणीजी की, चारुमती नाम की एक सुन्दरी कन्या भी थी। उसका विवाह कृतवर्मा के पुत्र बलि के साथ हुआ था।

अनिरुद्ध का उषा के साथ विवाह

परीक्षित ने जिज्ञासा की—'मैंने सुना है कि अनिरुद्धजी ने बाणासुर की पुत्री उषा से विवाह किया था और इस प्रसंग में भगवान श्रीकृष्ण का शंकरजी से युद्ध भी हुआ था। आप कृपाकर वह वृत्तान्त मुझे सुनाइये।'

शुकदेवजी ने कहा—'राजन्! महात्मा बलि के सौ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़ा बाणासुर था। बाणासुर शिवजी का परम भक्त था।

उसकी उदारता और बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय थी। वह बात का धनी और दृढ़प्रतिज्ञ था। उसकी राजधानी 'शोणितपुर' थी। महादेवजी की कृपा से देवगण भी उसकी सेवा करते रहते थे। एक दिन जब भगवान शंकर ताण्डव-नृत्य कर रहे थे, तब अनेक प्रकार के बाजे बजाकर उसने उन्हें रिझा लिया। जब भक्तवत्सल देवाधिदेव शंकर ने प्रसन्न होकर उससे अभीष्ट वर मांगने को कहा तो उसने उनसे अपने नगर की रक्षा और वहीं रहने की याचना की। भगवान शंकर ने उसकी यह बात स्वीकार कर ली।

एक दिन बाणासुर ने महादेवजी के चरणों में प्रणाम करके कहा—'देवाधिदेव! लोगों के मनोरथ पूर्ण करने में आप साक्षात् कल्पवृक्ष हैं। तीनों लोकों में, आपको छोड़कर मुझे अपनी बराबरी का कोई वीर योद्धा नहीं दीखता, जो मुझसे लड़ सके।' उसका यह गर्वपूर्ण कंथन सुनकर भगवान शंकर ने उससे क्रोध-पूर्वक कहा—'रे मूढ़! जिस समय तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायगी, उसी समय मेरे ही समान योद्धा से तेरा युद्ध होगा और उस युद्ध में तेरा अभिमान चूर-चूर हो जायगा।' बाणासुर की बुद्धि इतनी बिगड़ गई थी कि वह अपने नाशकारी उस भावी युद्ध की प्रतीक्षा करने लगा।

उसकी ऊषा नाम की एक कन्या थी। एक दिन स्वप्न में उसने श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को देखा। बाणासुर के मन्त्री कुम्भाण्ड की कन्या चित्रलेखा ऊषा की सहेली थी। उस दिन चित्रलेखा ने ऊषा को कुछ अन्यमनस्क-सा देखकर उससे पूछा—'राजकुमारी! तुम किसका चिन्तन कर रही हो? तुम्हारा क्या मनोरथ है? ऊषा ने कहा—'सखी! मैंने स्वप्न में एक अति सुन्दर नवयुवक को देखा है। उसके शरीर का रंग साँवला है, नेत्र कमलदल के समान हैं और शरीर पर पीताम्बर है। मेरा मन उसे ही ढूँढ़ रहा है।'

चित्रलेखा ने कहा—'सखी ! यदि तुम उसे पहचान सको तो मैं उसे तुम्हारे पास ले आऊँगी ।' उसने वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न आदि के बहुत-से चित्र बनाये ; पर जब ऊषा ने अनिरुद्ध का चित्र देखा तो बता दिया कि जिसे मैंने स्वप्न में देखा था, वह यही चित्त को चुरानेवाला नवयुवक है ।'

परीक्षित ! चित्रलेखा योगिनी थी। वह द्वारकापुरी से योग-सिद्धि द्वारा पलंग पर सोये अनिरुद्ध को शोणितपुर में उठा लाई। ऊषा ने अनिरुद्ध का बहुमूल्य वस्त्रों, सुमधुर पेय और सुन्दर भोग्य पदार्थों से समुचित सत्कार किया। पहरेदारों से अनरुिद्ध के आने का समाचार जब बाणासुर को मिला, तब वह तत्काल ऊषा के महल में जा पहुँचा। उसे सहायकों के साथ महल में क्रुद्ध खड़ा देखकर अनिरुद्ध भी लोहे का एक भयंकर परिघ लेकर यम के समान वहीं डट गये। बाणासुर के सैनिक जैसे ही उन्हें पकड़ने के लिए झपटते, वैसे ही वे उन्हें मारकर गिरा देते। इस प्रकार अपने सैनिकों का संहार देखकर बाणासुर ने नागपाश से उन्हें बाँध लिया।

परीक्षित ! कई महीने बीत जाने पर भी जब अनिरुद्ध का कहीं पता न चला, तब उनके संबंधी चिंतित रहने लगे। एक दिन नारदजी ने द्वारका में जाकर अनिरुद्ध का सारा वृत्तांत उन लोगों से कहा। पूरा पता पाकर क्रुद्ध यदुवंशियों ने शोणितपुर को अपनी सेना से घेर लिया और नगर के परकोटों, उद्यानों और सिंहद्वारों आदि को तहस-नहस करना शुरू कर दिया। यदुवंशियों की यह धृष्टता देखकर बाणासुर अपनी सेना के साथ नगर से बाहर निकला। भगवान श्रीकृष्ण ने रणभूमि में अतुल रणकौशल दिखाकर बाणासुर के अनेक सेनापतियों को बात-की-बात में ढेर कर दिया। उसकी सेना मारे भय के तितर-बितर हो गई। सेना की पराजय और संहार से क्षुब्ध होकर स्वयं बाणासुर भगवान श्रीकृष्ण से

युद्ध करने के लिए रणभूमि में आ डटा।

भगवान ने उसके धनुष की डोरी अपने बाणों से काट डाली और उसके रथ, सारथी तथा घोड़ों को भी नष्ट कर डाला। पर उसकी धर्ममाता कोटरा इसी बीच उसके प्राणों की रक्षा के लिए भगवान के सामने आकर खड़ी हो गई। इस सुअवसर को पाकर बाणासुर अपने नगर में भाग गया। कुछ समय बाद वह दूसरे रथ पर सवार होकर लौट आया और श्रीकृष्ण पर तरह-तरह के हथियारों व बाणों की वर्षा करने लगा; किंतु उसका गर्व चूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण जब उसकी भुजाएं काटने लगे, तब भगवान शंकर वहाँ आकर इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगे—

प्रभो! आप परम ज्योतिस्वरूप परब्रह्म हैं। महात्मागण आपके सर्वव्यापक निर्विकार स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। आप अखण्ड, अद्वितीय, आदिपुरुष हैं। भगवन्! आपकी माया से मोहित लोग अनेक प्रपंचों में आसक्त हो जाते हैं और फिर दुःख के समुद्र में डूबने लगते हैं। जो अपने इन्द्रियों को वश में करके आपके चरणकमलों की शरण नहीं लेता, उसका जीवन अत्यन्त शोचनीय है। इस बाणासुर को मैंने ही अभयदान दिया है, क्योंकि यह मेरा सेवक है। भक्तवत्सल! जिस प्रकार आपका प्रह्लाद पर अनुग्रह है, उसी प्रकार आप इसपर भी कृपा करें।'

भगवान शंकर की बातें सुन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा–'शंकरजी! आप कहते हैं तो मैं इसे निर्भय कर देता हूँ। बाणासुर बलि का पुत्र है, इसलिए मैं भी इसका वध नहीं करूँगा। मैंने प्रह्लाद को वर ही दे दिया है कि मैं उसके वंश के किसी भी दैत्य का वध नहीं करूँगा। अब यह बाणासुर आपके पार्षदों में मुख्य होगा।'

भगवान श्रीकृष्ण से इस प्रकार अभयदान पाने के बाद बाणासुर ने उनके चरणों में प्रणाम किया। इसके पश्चात् वह अनिरुद्ध को अपनी पुत्री ऊषा के साथ उनके पास ले आया। अनिरुद्ध

और ऊषा को साथ लेकर भगवान कृष्ण द्वारका लौट आये ।

राजा नृग का उद्धार

परीक्षित ! अब मैं तुम्हें शापित राजा नृग की कथा सुनाता हूँ । एक दिन यदुवंशी राजकुमार घूमने के लिए एक उपवन में गए। वहाँ प्यास लगने के कारण वे एक कुएं पर गए । उस कुएं में उन्हें एक भीमकाय गिरगिट दीख पड़ा । करुणावश उन्होंने उसे कुएं से बाहर निकालने का बहुत प्रयत्न किया, पर निकाल नहीं सके । यह बात उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से कही । श्रीकृष्ण ने उस कुएं पर जाकर सहज ही उसे बाहर निकाल लिया । उनके करकमलों का स्पर्श होते ही वह गिरगिट एक देवता के रूप में परिणत हो गया । उसका यह रूपान्तर देखकर भगवान ने उससे पूछा—'तुम कौन हो और किस कर्म के फल से तुम्हें इस योनि में आना पड़ा था ? अपना परिचय देकर तुम हमारा कौतूहल दूर करो ।'

भगवान के पूछने पर उसने इस प्रकार अपनी कहानी शुरू की—'प्रभो । मैं इक्ष्वाकु का पुत्र राजा नृग हूं । मैंने बहुत-सी दुधार नौजवान कपिला गायें दान में दी थीं । उन्हें न्याय से प्राप्त कर मैंने उनके सींगों में सोना मढ़ दिया था और वस्त्र, हार आदि से सजाकर ही उनको दान किया था । शीलसम्पन्न, दम्भरहित, विद्यादान करनेवाले ब्राह्मणों को ही मैं यह दान दिया करता था । एक दिन किसी तपस्वी की गाय छूटकर मेरी गायों में आ मिली । मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं था । अनजान में मैंने उसे किसी दूसरे ब्राह्मण को दान कर दिया ।

जब वह ब्राह्मण उसे ले जाने को तैयार हुआ तब उस गाय के स्वामी ने आकर दान लेनेवाले से कहा कि यह गौ तो मेरी है ।'

दान ले जानेवाले ने भी कहा—'राजा नृग ने मुझे इसे दान में दिया है, अतः यह मेरी है ।'

दोनों आपस में झगड़ते हुए मेरे पास पहुँचे। भगवन्! उन दोनों की बात सुनकर मेरा चित्त भ्रमित हो गया और धर्मसंकट में पड़कर मैंने उन्हें कहा कि इसके बदले में आपको मैं बहुतेरी गायें दूंगा, आप यह गाय मुझे दे दीजिये। मैं आप लोगों का सेवक हूँ और अनजान में मुझसे यह अपराध हो गया है। आप मुझपर कृपा कर घोर नरक के कष्ट से मुझे बचा लीजिए। किन्तु उस गाय का पहला स्वामी राज़ी नहीं हुआ और असन्तुष्ट होकर वहाँ से चला गया।

मेरी आयु समाप्त होने पर यमराज के दूत मुझे यमपुरी ले गये। वहाँ यमराज ने मुझसे पूछा—'राजन्! तुम पहले अपने पाप का फल भोगना चाहते हो या पुण्य का? तुम्हारे दान और धर्म के फलस्वरूप तुम्हें ऐसा तेजस्वी लोक प्राप्त होनेवाला है, जिसकी स्पृहा बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी करते हैं।'

तब मैंने यमराज से कहा—'देव! पहले मैं अपने पाप का फल भोग लेना चाहता हूँ।' और उसी क्षण मैं वहाँ से गिरा और गिरगिट बन गया। प्रभो! मैं तपस्वी ब्राह्मणों का सेवक और आपका भक्त था। मुझे आपके दर्शन की बड़ी ही अभिलाषा थी। आपकी कृपा से मेरे पूर्वजन्म की स्मृति भी नष्ट नहीं हुई थी। भगवन्! बड़े-बड़े योगीश्वर अपने निर्मल हृदय में आपका ध्यान करते रहते हैं। आप अनायास मेरे नेत्रों के सामने कैसे आ गये? क्योंकि मैं तो अनेक प्रकार के व्यसनों और दुःखद कर्मों में फंस कर अंधा हो रहा था। आपका दर्शन तो तब होता है, जब संसार के बन्धन से छूटने का समय आ जाता है। अब आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मेरा चित्त सदा आपके चरण-कमलों में ही लगा रहे। बार-बार आपको मेरा नमस्कार है।

राजा नृग ने इस प्रकार विनय कर भगवान की परिक्रमा की और उनके चरणों का स्पर्श कर उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात्

भगवान की आज्ञा से वे विमान पर सवार होकर स्वर्ग को चले गये। उनके चले जाने पर भगवान श्रीकृष्ण ने वहाँ उपस्थित अपने कुटुम्बियों से कहा—'अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष भी पराये धन को नहीं पचा सकते, फिर अभिमानी राजाओं की क्या हस्ती है, जो इस पाप से मुक्त हो सकें ? मैं हलाहल विष को विष नहीं समझता, क्योंकि उसकी चिकित्सा सम्भव है। पर दूसरों को सम्पत्ति को पचा लेने का सामर्थ्य पृथिवी पर किसीको नहीं है। विष केवल खा लेने वाले ही का प्राण ले लेता है; पर परधन-रूप अरणि से जो आग पैदा होती है, वह सारे कुल को समूल नष्ट कर देती है। जिन उदारहृदय और बहुकुटुम्बी लोगों की सम्पत्ति छीन ली जाती है, उनके रोने पर उनके आँसू की बूँदों से धरती के जितने धूलि-कण भीगते हैं, उतने वर्षों तक छीनने-वाले और उसके वंशजों को नरक का दुःख भोगना पड़ता है।'

पौण्ड्रक-वध

परीक्षित ! एक बार बलरामजी नन्दबाबा और ब्रज के लोगों से मिलने की उत्कंठा से द्वारकापुरी से ब्रज में आये। उन्हें अपने बीच पाकर ब्रजवासियों ने उनको बड़े प्रेम से गले लगाया। बलरामजी ने नन्दबाबा और माता यशोदा को प्रणाम किया। उनके दर्शन से गोपियाँ भी अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने उनसे पूछा—'आनन्दघन श्रीकृष्ण सकुशल तो हैं ? क्या उन्हें कभी अपने भाई-बन्धु और माता-पिता की भी याद आती है ? क्या वे कभी हम लोगों को स्मरण करते हैं ?' बलरामजी समझाने में बड़े निपुण थे। उन्होंने श्रीकृष्ण का हृदयस्पर्शी संदेश सुनाकर प्रेमातुरा गोपियों को सांत्वना दी।

परीक्षित ! जिस समय भगवान बलराम ब्रज गये हुए थे, करूष देश के मूढ़ राजा पौण्ड्रक ने भगवान श्रीकृष्ण के पास

अपना दूत भेजा। बहकावे में पड़कर वह मूर्ख अपने को ही विष्णु भगवान मान बैठा था। दूत ने द्वारका आकर श्रीकृष्ण से भरी सभा में अपने राजा का यह संदेश कहा—'जगत् की रक्षा और समस्त प्राणियों पर कृपा करने के लिए मैंने ही अवतार लिया है। तुमने झूठमूठ ही वासुदेव नाम रख लिया है। अब तुम उसे छोड़ दो, क्योंकि मैं ही भगवान वासुदेव हूँ। या तो तुम अब मेरी शरण में आओ या मुझसे युद्ध करो।'

मन्दमति पौण्ड्रक की डींग भरी बातें सुनकर सारे सभासद हँसने लगे। श्रीकृष्ण ने दूत से कहा—'तुम अपने राजा से जाकर कह देना कि मैं उनपर तथा उनके बहकानेवाले साथियों पर बिना अपना चक्र छोड़े राजचिन्हों को नहीं छोड़ूँगा।' भगवान का वह तिरस्कारपूर्ण संवाद दूत ने जाकर राजा पौण्ड्रक को सुनाया। इधर भगवान श्रीकृष्ण ने भी काशी पर चढ़ाई कर दी, क्योंकि पौंड्रक इस समय वहीं पर था।

श्रीकृष्ण के आक्रमण का समाचार पाकर महारथी पौंड्रक सेना के साथ शीघ्र ही नगर से बाहर निकल आया। काशिराज उसका मित्र था, वह भी उसकी सहायता के लिए अपनी सेना लेकर उसके पीछे आया। उस समय पौंड्रक के हाथों में शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग-धनुष थे। श्रीवत्स का चिह्न भी उसने धारण कर रखा था। उसके वक्षस्थल पर कौस्तुभ-मणि और वनमाला भी लटक रही थी और अपने रथ की ध्वजा पर गरुड़ का चिह्न भी उसने लगा रक्खा था। भगवान श्रीकृष्ण का उसे इस वेशभूषा में देखकर बड़ा कौतुक हुआ। इन मूर्खों ने जब श्रीकृष्ण पर अपने अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार किया, तब जिस प्रकार प्रलय-काल की अग्नि सबको जला देती है, वैसे ही भगवान ने पौंड्रक तथा काशिराज की सेना को अल्पकाल में ही नष्ट कर डाला। भगवान श्रीकृष्ण की इस विकट संहार-लीला को देखकर पौंड्रक के शूरवीरों के पैर उखड़

गए और वे मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। श्रीकृष्ण पौंड्रक और काशिनरेश को मारकर द्वारका लौट आये। परीक्षित! पौंड्रक श्रीकृष्ण के रूप का सदा ही चिन्तन किया करता था, चाहे वह जिस भाव से हो। अतः उसके सारे बंधन कट गये और वह सारूप्य मोक्ष का अधिकारी हुआ।

कौरव-दर्प-हरण

परीक्षित! जामवंतीनन्दन साम्ब ने स्वयंवर में से दुर्योधन की कन्या लक्ष्मणा को हर लिया था। उसकी यह ढिठाई देखकर कौरव बड़े ही क्रुद्ध हुए और उन्होंने उसे पकड़कर बाँध रखने का निश्चय किया। कर्ण, शल, भूरिश्रवा और दुर्योधन ने जब उसका पीछा किया, तब वह भी उनसे युद्ध करने के लिए रणभूमि में आ डटा। कर्ण को मुखिया बनाकर कौरव-वीर साम्ब पर बाणों की वर्षा करने लगे; किन्तु उसने अकेले ही ऐसा रण-कौशल दिखाया कि विपक्षी वीरों को भी उसकी सराहना करनी पड़ी। पर अन्त में कौरवों ने साम्ब को बन्दी बना लिया और लक्ष्मणा के साथ उसे हस्तिनापुर ले आये।

नारदजी से यह समाचार सुनकर यदुवंशियों को अत्यन्त क्रोध हुआ; पर बलरामजी ने यदुवंशियों और कुरुवंशियों के बीच संघर्ष हो जाना ठीक नहीं समझा। वे स्वयं हस्तिनापुर गये और नगर के बाहर एक उपवन में ठहर कर उद्धव को राजा धृतराष्ट्र के पास भेजा। उद्धव ने कौरवों की सभा में जब बलरामजी के पधारने का समाचार सुनाया, तब वे अपने इस परमहितैषी के आगमन से बड़े प्रसन्न हुए।

सबसे मिल लेने के बाद बलरामजी ने उन लोगों से गम्भीर वाणी में कहा—'हमें मालूम है कि आप सबने मिलकर साम्ब को बन्दी बना लिया है। सम्बन्धियों के बीच फूट न पड़े, इसलिए

हमने इसे सहन किया है । किन्तु अच्छा हो यदि आप नववधू सहित साम्ब को हमें सौंप दें ।'

बलरामजी का प्रस्ताव उनकी वीरता, धीरता तथा शक्ति के अनुरूप था; किन्तु उसे सुनकर कौरव क्रोध से तिलमिला उठे और उनसे बोले—'काल की चाल को कोई नहीं टाल सकता और तभी तो आज पैरों की जूती सिर चढ़ना चाहती है? जैसे साँप को दूध पिलाना पिलानेवाले के लिए ही घातक है, वैसे ही हमारे दिये राज्यचिह्नों को लेकर यदुवंशी भी हमसे विपरीत हो रहे हैं ।'

परीक्षित ! कुरुवंशी अपनी कुलीनता, शक्ति और सम्पति के अभिमान में चूर हो रहे थे । बलरामजी से ऐसे दुर्वचन कहकर वे हस्तिनापुर लौट आये । कौरवों की इस अशिष्टता और उनके उन कटु वचनों से बलरामजी का चेहरा तमतमा उठा और वे अपने मन में सोचने लगे कि जिन दुष्टों को अपनी कुलीनता, बल-पौरुष और धन का घमंड हो जाता है, वे शांति नहीं चाहते । उन्हें राह पर लाने का उपाय समझाना-बुझाना नह , वरन् एकमात्र दंड है । ये इतने घमंडी हो रहे हैं कि इन्हें शांति प्यारी नहीं है । ये मुझे ही गालियाँ बककर मेरा तिरस्कार कर रहे हैं । आज ही मैं पृथिवी को कौरवहीन कर दूँगा । ऐसा निश्चय कर क्रोध से उन्होंने अपना हल-मूसल उठा लिया और संग्राम के लिए चल पड़े । उनका वह रुद्ररूप देखकर कौरव घबड़ाये और लक्ष्मणा के साथ सांब को आगे कर अपने प्राणों की रक्षा के लिए बलरामजी की शरण में आकर बोले—'बलरामजी ! हम आपका प्रभाव नहीं जानते थे । हमारी बुद्धि बिगड़ गई थी । आप हमारे अपराध क्षमा कीजिए । आपका यह क्रोध द्वेष के कारण नहीं, वरन् समस्त प्राणियों को शिक्षा देने के लिए ही हुआ है । हमारा आपको बार-बार नमस्कार है ।'

कुरुवंशी जब इस प्रकार बलरामजी की शरण में आकर उनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगे, तब उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें अभयदान दिया। इसके बाद साम्ब और नववधू लक्ष्मणा के साथ वे द्वारका लौट आये।

जरासंध-वध

परीक्षित! एक दिन भगवान श्रीकृष्ण की राजसभा के द्वार-पर एक नवागन्तुक आया। द्वारपाल उसे भगवान की आज्ञा से सभाभवन में ले आये। उसने श्रीकृष्ण को प्रणाम करके उन राजाओं की कष्ट-कथा निवेदित की, जिन्हें मगधराज जरासन्ध ने बलपूर्वक बन्दी बना लिया था। उसने उन बंदी राजाओं का यह सन्देश श्रीकृष्ण से कहा—'सच्चिदानन्द! शरणागतों के कष्ट और भय आप सदा से दूर करते आये हैं। यद्यपि हमारी भेद-बुद्धि मिटी नहीं है, फिर भी हम आपकी शरण चाहते हैं। प्रभो! आपकी शक्ति अनन्त है। आपके चरणकमल शरणागत पुरुषों के सभी शोक शमन करनेवाले हैं कृपाकर आप जरासन्ध से हमें छुड़ाइये। अठारह बार उससे युद्ध किया और सत्रह बार उसका मानमर्दन कर उसे छोड़ दिया; परन्तु एक बार उसने आपको जीत लिया, इसीसे उसका अभिमान बढ़ गया है। हम आपकी प्रजा हैं, हमारी रक्षा कीजिए।' फिर दूत ने कहा—'भगवन्! जरासन्ध के बन्दी नरपतियों ने आपके चरणकमलों की शरण ली है। कृपाकर आप उनकी रक्षा कीजिए।'

परीक्षित! वह दूत यह सब निवेदन कर ही रहा था कि इसी बीच नारदजी वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखते ही भगवान श्रीकृष्ण ने सबके साथ उठकर उन्हें प्रणाम किया और जब वे आसन पर बैठ गये, तब श्रीकृष्ण ने उनसे नम्रतापूर्वक पूछा—'देवर्षे! हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि युधिष्ठिर आदि

पाण्डव इस समय क्या कर रहे हैं ?'

नारदजी ने उत्तर दिया—'अनन्त ! आप तो घट-घट में व्याप्त हैं, फिर भी मुझसे आप पाण्डवों का कुशल पूछ रहे हैं ? इससे मुझे कौतूहल हो रहा है। पर आप पूछ रहे हैं, इसलिए मैं आपसे निवेदन करता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मलोक में किसीको भी जो भोग प्राप्त हो सकते हैं वह आपके प्रेमी भक्त राजा युधिष्ठिर को यहीं प्राप्त हैं। उन्हें किसी वस्तु की कामना नहीं है। फिर भी वे राजसूय-यज्ञ करना चाहते हैं। आप कृपाकर उनकी इस अभिलाषा का अनुमोदन कीजिये।'

भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को सम्बोधित करते हुए कहा—'उद्धव ! तुम हमारे हितैषी और सुहृद हो और धर्मतत्व को भलीभाँति समझते हो। इसलिए अब तुम्हीं बताओ कि इस विषय में हमें क्या करना चाहिए ?'

परीक्षित ! उद्धवजी ने देवर्षि नारद की सलाह पर विचार करके कहा—'भगवन् ! देवर्षि नारद ने आपको पाण्डवों के राजसूय-यज्ञ में सम्मिलित होकर उन्हें सहायता देने की सलाह दी है उनका यह कहना ठीक ही है। प्रभो ! राजसूय-यज्ञ वही कर सकता है, जो दसों दिशाओं पर विजय प्राप्त कर ले। ऐसी दशा में पाण्डवों के यज्ञ और शरणागतों की रक्षा दोनों कामों के लिए जरासन्ध को जीतना आवश्यक हो जाता है। उसे जीत लेने से बंदी राजाओं की बन्धन-मुक्ति होगी और आपको सुयश मिलेगा। राजा जरासन्ध को यदि कोई हरा सकता है तो केवल भीमसेन ही। उसे एक वीर जीत ले यह सबसे अच्छा है, क्योंकि सेना लेकर जब वह युद्ध के लिए खड़ा होगा, तब उसे जीत लेना आसान नहीं। जरासन्ध ब्राह्मण-भक्त है, वह याचक को असन्तुष्ट नहीं करता। यदि भीमसेन ब्राह्मण के वेश में जायँ

और उससे युद्ध की भिक्षा माँगे तो इसमें सन्देह नहीं कि द्वन्द्व युद्ध में, आपकी उपस्थिति से भीमसेन उसे मार डालेंगे। जब जरासन्ध का वध हो जायगा, तब मुक्त राजाओं की पत्नियाँ आपकी इस लीला का गायन करेंगी।'

उद्धवजी की यह सलाह सब प्रकार से हितकर थी। देवर्षि नारद और स्वयं श्रीकृष्ण ने उसका समर्थन किया। कुछ ही दिनों बाद भगवान ने गुरुजनों से अनुमति लेकर इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान किया। वहाँ जब महाराजा युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण के आने का संवाद मिला तो वे आनन्द से फूले नहीं समाये। वे अपने आचार्यों तथा स्वजन-सम्बन्धियों के साथ यदुराज के स्वागत के लिए नगर के बाहर आये। श्रीकृष्ण को देखते ही युधिष्ठिर का हृदय स्नेह से गद्गद् हो गया। उनके नेत्रों से आँसू छलकने लगे। उनका अंग-अंग पुलकित हो गया। तथा भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव आदि ने भी अपने परम हितैषी श्रीकृष्ण का बड़े प्रेम और आनन्द से आलिंगन किया। जब कुन्ती ने अपने भतीजे कृष्ण को देखा तो उनका हृदय आनन्द से भर गया। सुभद्रा और द्रौपदी ने भी आकर उनके चरण छुए। युधिष्ठिर ने भगवान श्रीकृष्ण के सहचरों और उनके ठहराने का बड़ा उत्तम प्रबंध किया।

परीक्षित! एक दिन महाराजा युधिष्ठिर अपने भाइयों, आचार्यों, सम्बंधियों और बन्धुओं के साथ राजसभा में बैठे थे। सुअवसर पाकर श्रीकृष्ण को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—'गोविन्द! मैं सर्वश्रेष्ठ राजसूय-यज्ञ के द्वारा आपका और देवताओं का यजन करना चाहता हूँ। आप कृपाकर मेरा यह संकल्प पूरा कीजिए। आपके चरण-कमलों की पादुकाएं सभी अमंगलों को नष्ट करनेवाली हैं। जो निरन्तर उनकी सेवा करते हैं वे ही पवित्रात्मा हैं।'

धर्मराज की धर्मविहित अभिलाषा सुनकर भगवान श्रीकृष्ण

ने कहा—'धर्मराज ! आपका यह निश्चय बहुत ही उत्तम है। राजसूय-यज्ञ करने से लोकों में आपकी कीर्ति का विस्तार होगा। आपका यह महायज्ञ आपके स्वजन-सम्बन्धियों, हमें तथा सभी को अभीष्ट है। महाराज ! पृथिवी-मण्डल के सभी नरपतियों को जीतकर आप इस यज्ञ का शीघ्र अनुष्ठान कीजिए। आपके चारों भाई बड़े वीर हैं और आप लोगों ने अपने सद्गुणों से मुझे भी अपने वश में कर लिया है। देवता भी मेरे भक्त का तिरस्कार नहीं कर सकते, फिर कोई राजा उनका अपमान कर सके इसकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है ?' ऐसा कहकर भगवान श्रीकृष्ण ने पाण्डवों में अपनी शक्ति का संचार करके उन्हें और भी प्रभावशाली बना दिया।

युधिष्ठिर को बड़ा सन्तोष हुआ और उन्होंने सहदेव को दक्षिण, नकुल को पश्चिम, अर्जुन को उत्तर और भीमसेन को पूर्व दिशा में दिग्विजय करने की आज्ञा दे दी। उन लोगों को अपने-अपने नियत कार्य में पूरी सफलता हुई। पर जब धर्मराज युधिष्ठिर को मालूम हुआ कि मगधराज जरासंध पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकी, तब वे अत्यन्त चिंतित हुए। तब श्रीकृष्ण ने उन्हें उद्धव का सुझाया हुआ उपाय बतलाया। सबके विचार से, भीमसेन, अर्जुन तथा स्वयं भगवान ब्राह्मणों के वेश में जरासंध की राजधानी 'गिरिव्रज' गए। ये तीनों जरासंध के पास उस समय पहुँचे जब कि वह अतिथियों और अभ्यागतों का सत्कार कर रहा था। जरासंध से उन्होंने इस प्रकार याचना की—'राजन् ! हम तीनों आपके अतिथि हैं और बहुत दूर से आ रहे हैं। इसलिए हम आपसे जो कुछ चाहते हैं, हमें अवश्य दीजिए। तितिक्षु पुरुष क्या नहीं सह सकते ? दुष्ट क्या नहीं कर सकते ? उदार क्या नहीं दे सकते ? और समदर्शी के लिए पराया कौन है ? जो मनुष्य स्वयं समर्थ होकर भी इस नाशवान शरीर से अविनाशी

यश का संग्रह नहीं करता, उसकी जितनी भी निंदा की जाय थोड़ी है। राजन्! राजा हरिश्चंद्र, रंतिदेव, अन्न के दाने बीन-बीन कर निर्वाह करनेवाले महात्मा मुद्गल, शिवि, बलि, आदि ने अतिथियों को अपना सर्वस्व देकर भी अविनाशी पद प्राप्त किया है। अतः आप हमें निराश न करें।'

जरासंध इन छद्मवेश-धारियों के स्वर, रूप और मणिबंधों पर पड़े धनुष की प्रत्यंचा की रगड़ के चिह्न देखकर ताड़ गया कि ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय हैं। तो भी उसने निश्चय किया—'क्षत्रिय होने पर भी यदि ये ब्राह्मण का वेश बनाकर आये हैं और भिक्षा माँग रहे हैं तब चाहे जो भी माँगें मैं इन्हें दूँगा। भगवान विष्णु ने ब्राह्मण-वेश में बलि का धन-ऐश्वर्य सभी कुछ छीन लिया, फिर भी बलि की पवित्र कीर्ति चारों ओर फैली हुई है और आज भी लोग बड़े आदर से उसके यश का गान करते हैं। इसलिए इस नश्वर शरीर से जो अमर यश नहीं कमाता, उसका जीवन व्यर्थ है।'

परीक्षित! वह उदार था। उसने उन अतिथियों से कहा—'ब्राह्मणो। आप मनचाही वस्तु माँग लें, मैं आपको सभी कुछ दे सकता हूँ।'

उसकी बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—'राजेन्द्र! हम ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय हैं और आपके पास युद्ध करने के लिए आये हैं। आप हमें द्वन्द्वयुद्ध की भिक्षा दीजिए। यह पाण्डुपुत्र भीम है, यह उनका भाई अर्जुन है और मैं आपका पुराना शत्रु कृष्ण हूँ।'

परिचय पा जाने पर जरासंध ने हँसकर कहा—मूर्खों! यदि तुम्हें युद्ध की ही इच्छा है तो मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ। परंतु कृष्ण! तुम बड़े डरपोक हो, युद्ध में तुम शीघ्र ही घबड़ा जाते हो। यहाँ तक कि मेरे भय से तुमने अपनी सुन्दर नगरी मथुरा छोड़कर समुद्र-तट पर द्वारका की शरण ली है। मैं तुम्हारे

साथ नहीं लड़ूँगा। अर्जुन भी कोई योद्धा नहीं है। वह अवस्था में मुझसे छोटा और शक्ति में कमजोर भी है। भीम अवश्य मेरे जोड़ का है! मैं इसीसे युद्ध करूँगा।' ऐसा कहकर उसने एक गदा भीमसेन को दे दी और एक गदा स्वयं लेकर नगर से बाहर निकल आये। दोनों आपस में भिड़ गये और गदाओं से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। जरासंध और भीमसेन गदायुद्ध में, बल में एवं उत्साह में समान थे, इसलिए लगातार कई दिनों तक एक-दूसरे पर प्रहार करते रहने पर भी किसीकी जीत या हार नहीं हुई। रात के समय दोनों ही मित्रता से रहते और दिन में एक-दूसरे से युद्ध करते। इस प्रकार लड़ते-लड़ते उन्हें सत्ताईस दिन बीत गए। अट्ठाईसवें दिन भीमसेन ने हतोत्साह और श्रांत होकर श्रीकृष्ण से कहा—'मैं तो थक गया हूँ, इसलिए युद्ध में जरासंध को हरा नहीं सकता।'

परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण जरासन्ध के जन्म और मृत्यु का रहस्य जानते थे। इसलिए उन्होंने भीमसेन के शरीर में शक्ति का संचार कर दिया और पुनः उन्हें युद्ध करने की आज्ञा दी। जब युद्ध फिर आरम्भ हुआ, तब उन्होंने वृक्ष की डाली को बीचोंबीच चीरकर इशारे से भीमसेन को युक्ति बतला दी। वे अभिप्राय समझ गये और जरासन्ध को पृथिवी पर पटक उसने पैर पकड़ उसे इस प्रकार चीर डाला जैसे मस्त हाथी किसी राजवृक्ष की डाली को चीर डालता है। उसके मारे जाने पर श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भीमसेन का प्रेमालिंगन किया। श्रीकृष्ण ने मगध देश के सिंहासन पर जरासन्ध के पुत्र सहदेव का अभिषेक कर दिया एवं जरासन्ध के बन्दीगृह से उन बंदी राजाओं को भी मुक्त कर दिया। मुक्त हो जाने पर उन राजाओं ने भगवान श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति की—

'प्रभो! हम आपको प्रणाम करते हैं। आपने हमें जरासन्ध के

कारागार से तो छुड़ा ही दिया, अब हमें इस जन्म-मृत्यु रूप संसार-चक्र से भी मुक्त कर दीजिए। संसार के दुःखों का कटु अनुभव करते-करते हम ऊब गये हैं। जो राजा राज्य-ऐश्वर्य के मद से उन्मत हो जाता है, उसे सच्चा सुख नहीं मिल सकता। वह अनित्य सम्पत्तियों को ही अचल मान लेता हैं। पहले हम धन-सम्पत्ति के मद में उन्मत होकर इस पृथिवी को जीत लेन के लिए ही निरीह प्रजा का नाश करते रहते थे। हमारा जीवन क्रूरता से भरा था और सामने खड़ी अपनी मृत्यु की भी चिन्ता हम नहीं करते थे। (काल की गति गहन है; वह किसीके टाले टल नहीं सकता।) उसीने हमें श्री-हीन और निर्धन कर दिया है, जिससे अब हमारा अभिमान जाता रहा। अब हम आपके चरणकमलों का स्मरण करते हैं। हमें स्वर्ग की भी इच्छा नहीं है, क्योंकि वह भी निस्सार है और केवल सुनने में ही आकर्षक प्रतीत होता है। हम आपके शरणागत हैं, आप हमारा कल्याण कीजिए।'

स्तुति सुनकर भगवान ने बड़ी ही मधुर वाणी में उनसे कहा—'नरपतियों! आज से मुझमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी। तुम यह जान लो कि यदि शरीर जन्म लेता है तो इसका नाश भी अवश्य होगा। अतः इससे आसक्ति न करो। अब तुम मन और इन्द्रियों को वश में करके धर्मपूर्वक प्रजा का पालन और रक्षण करो। प्रारब्ध के अनुसार जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख और लाभ-हानि जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे समभाव से मेरा प्रसाद समझो और अपना चित्त मुझमें लगाने का सच्चा प्रयत्न करो। ऐसा करने से अन्त में तुम मुझे अवश्य प्राप्त कर लोगे।'

भगवान श्रीकृष्ण ने बंधन-मुक्त राजाओं को इस प्रकार उपदेश देकर अपनी-अपनी राजधानी को विदा किया और आप भीमसेन तथा अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ के लिए चल पड़े। वहाँ

उन्होंने अपने विजय की गाथा महाराज युधिष्ठिर को विनीत भाव से कह सुनाई। यह सुखद समाचार सुनकर धर्मराज के नेत्रों से आनन्दाश्रु टपकने लगे।

राजसूय-यज्ञ और शिशुपाल-वध

कुछ काल बाद युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा—'हम तो अत्यन्त दीन हैं, फिर भी आप हमारी आज्ञा स्वीकार करते हैं, यह आपकी लीला का अभिनयमात्र है।' भगवान के प्रति इस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट कर, उनकी अनुमति से युधिष्ठिर ने यज्ञ के समय वेदपाठी ब्राह्मणों को आचार्यों के रूप में वरण किया। उन्होंने द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, कृपाचार्य, धृतराष्ट्र और विदुर आदि गुरुजनों एवं दुर्योधनादि भाइयों को भी आमन्त्रित किया। इस यज्ञ को देखने के लिए देश-देश के राजा भी इन्द्रप्रस्थ आये थे।

विधिपूर्वक राजसूय-यज्ञ प्रारम्भ हुआ। याजकों ने यज्ञ के विधान में थोड़ी भी त्रुटि नहीं होने दी। यज्ञ की समाप्ति पर सभासदों में 'सबसे पहले किसकी पूजा होनी चाहिए' इसपर विचार होने लगा। सहदेव ने अपनी राय श्रीकृष्ण के पक्ष में दी, क्योंकि वे ही इस पूजा के सर्वश्रेष्ठ योग्य पात्र थे। सहदेव भगवान की महिमा और प्रभाव को जानते थे, अतः वे अपनी राय देकर चुप हो गये। उनका यह विचार सुनकर यज्ञ-सभा में जितने भी लोग उपस्थित थे, सबने एकमत से उनका समर्थन किया। तदनुसार ब्राह्मणों और सभासदों की अनुमति लेकर धर्मराज युधिष्ठिर ने बड़े प्रेम और आनन्द से भगवान श्रीकृष्ण की अग्रपूजा की। उन्होंने उनके चरण पखारे और इस लोकपावन जल को अपने सिर पर धारण किया।

परीक्षित! उस समय चेदिराज शिशुपाल भी वहाँ उपस्थित

था। यह सब देखकर उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा और वह उस भरी सभा में ही निर्भयता के साथ इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति दुर्वचन कहने लगा—'सभासदो ! श्रुतियों का यह कथन सर्वथा सत्य है कि काल ही ईश्वर है और उसके अधीन माया सब प्राणियों को भ्रम में डालती है। उसीके वश होकर आप अपना उचित निर्णय नहीं दे सके कि अग्रपूजा किसकी करनी चाहिए। यहां बड़े-बड़े तपस्वी तथा परमज्ञानी ऋषि उपस्थित हैं। उन्हें छोड़कर यह ग्वाला अग्रपूजा का अधिकारी भला कैसे हो सकता है ?'

शिशुपाल के सारे शुभ कर्म नष्ट हो चुके थे। उसने श्रीकृष्ण को बहुत-सी कड़ी बातें सुनाईं। पर जैसे सिंह सियार की हुआँ-हुआँ पर ध्यान नहीं देता, वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी उसकी अंटसंट बातों का कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु अन्य सभासदों के लिए उनकी निन्दा सुनना असह्य हो गया, इसलिए कुछ सभासद तो वहाँ से उठकर चले भी गये। पर पाण्डव, मत्स्य, केकय और संजयवंशी राजाओं ने उसे मार डालने के विचार से अपने-अपने हथियार उठा लिये। यह सब देखकर भी शिशुपाल ने अपना विचार नहीं बदला, उलटे उसने तलवार उठाकर उन्हें ललकारना शुरू कर दिया। इसपर पहले तो श्रीकृष्ण ने अपने पक्षपाती राजाओं को शान्त किया, फिर अपने चक्र से शिशुपाल का शिरोच्छेद कर डाला।

शिशुपाल के अन्तःकरण में भगवान श्रीकृष्ण के प्रति वैरभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया था और इसी भाव से उनका ध्यान करते-करते वह उनमें तन्मय हो गया था। अतः उसके मरते ही उसके शरीर से एक ज्योति निकलकर भगवान श्रीकृष्ण में समा गई और शापमुक्त हो जाने के कारण इस अंतिम जन्म में वह पुनः उनका पार्षद हो गया।

शिशुपाल की सद्‌गति हो जाने के बाद यज्ञ का कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। योगेश्वर कृष्ण पाण्डवों से अनुमति लेकर परिजनों के साथ द्वारकापुरी चले गए। परीक्षित! इस यज्ञ से और सबको प्रसन्नता हुई; पर दुर्योधन से पाण्डवों की यह कीर्ति सहन नहीं हुई। इसका कारण मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

महाराज युधिष्ठिर एक महात्मा पुरुष थे। उनके प्रेम-बन्धन से बँधकर सभी बन्धु-बान्धवों ने यज्ञ में विभिन्न सेवाकार्य स्वीकार किये थे। भीमसेन को भोजन कराने का, दुर्योधन को कोष संभालने का, सहदेव को स्वागत-सत्कार का, नकुल को सामग्री एकत्र करने का, अर्जुन को गुरुजनों की सेवा-सुश्रूषा का, श्रीकृष्ण को अतिथियों के पाँव पखारने का, द्रौपदी को भोजन परोसने और कर्ण को दान देने का कार्य सौंपा गया था। यज्ञ समाप्त होने पर ऋत्विजों ने महारानी द्रौपदी के साथ सम्राट युधिष्ठिर को आचमन और गंगास्नान करवाया। महाराजा युधिष्ठिर के इस ऐश्वर्य और कीर्ति को देखकर दुर्योधन ईर्ष्या से जलने लगा। एक दिन वह अपने भाइयों सहित मयदानव के बनाये सभा-भवन में पहुँचा। सभा की बनावट की विलक्षणता के कारण एक स्थान पर स्थल को जल समझकर उसने अपने वस्त्र समेट लिये और दूसरे स्थान पर जल को स्थल समझ कर उसमें गिर पड़ा। यह देखकर लोग हँस पड़े। इस अपमान से दुर्योधन लज्जित और क्रुद्ध होकर चुपचाप वहाँ से चला गया।

परीक्षित! अब तुम भगवान श्रीकृष्ण का एक और चरित्र सुनो। शिशुपाल का सखा शाल्व रुक्मिणी के स्वयम्वर के अवसर पर बारात में उसकी ओर से आया था। उस समय औरों के साथ यदुवंशियों ने जब उसे भी हराया, तब अन्य राजाओं के सामने ही शाल्व, ने प्रतिज्ञा की कि यदुवंशियों को जड़ से नष्ट करके ही छोड़ूंगा। प्रतिज्ञा कर लेने के बाद इस मूर्ख ने भगवान पशुपति

की बड़ी ही उग्र आराधना की। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान आशुतोष ने उसे वर माँगने के लिए कहा। शाल्व ने उनसे एक ऐसा विमान माँगा, जिसपर बैठ जाने पर देवता, असुर आदि उसका कुछ भी न बिगाड़ सकें और वह इच्छानुसार कहीं भी जा सके। भगवान शंकर के 'तथास्तु' कह देने पर मयदानव ने 'सौभ' नामक एक विमान बनाकर शाल्व को दिया। इस विमान को देखना या पकड़ना बहुत ही कठिन था। विमान प्राप्त कर लेने के बाद शाल्व अपनी सेना से द्वारकापुरी को घेरकर नष्टभ्रष्ट करने लगा। प्रजा का यह अपार कष्ट देखकर वीर प्रद्युम्न ने सबको ढाढस बंधाया और फिर सात्यकि, कृतवर्मा और साम्ब आदि वीरों के साथ उसका सामना करने के लिए वे रथ पर सवार होकर नगर के बाहर निकल पड़े। युद्ध में प्रद्युम्न ने अपने दिव्य अस्त्रों से क्षणभर में ही सौमपति शाल्व की सारी माया काट डाली और सेनापतियों के साथ शाल्व को भी अपने बाणों से घायल कर दिया। जहाँ कहीं भी शाल्व का विमान दिखाई पड़ता, यदुवंशी वीर उसपर अपने बाणों की झड़ी लगा देते। यह देखकर शाल्व के मंत्री द्युमान ने प्रद्युम्न के वक्षस्थल पर अपनी गदा का विकट प्रहार किया। इससे वे मूर्छित हो गए। दारुक का पुत्र उस समय उनका सारथी था। वह उन्हें मूर्छित देखकर रणभूमि से हटा ले गया।

जब उनकी मूर्छा टूटी तब उन्हें अपने सारथी पर बड़ा क्रोध आया। पुनः कवच पहन कर उन्होंने वीर द्युमान के पास अपना रथ फिर से ले चलने के लिए उससे कहा, और वहाँ पहुँच कर अपने तीक्ष्ण बाणों से उसका सिर काट डाला। लगातार सत्ताईस दिनों तक यह बड़ा ही घमासान युद्ध हुआ। उन दिनों श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। राजसूय-यज्ञ की समाप्ति हो चुकी थी। यह सब सुनकर वे जल्दी ही द्वारका लौट आये। उनके युद्धभूमि में

प्रवेश करते ही शाल्व ने उनपर एक बड़ी शक्ति से प्रहार किया; पर श्रीकृष्ण ने मार्ग में ही उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। इसके बाद भगवान ने अपनी गदा से उसपर प्रहार किया; पर शाल्व अन्तर्धान हो गया। थोड़ी ही देर बाद किसीने भगवान के पास आकर कहा—'मुझे माता देवकी ने भेजकर आपसे यह कहलाया है कि शाल्व तुम्हारे पिता को बाँधकर ले गया है।' श्रीकृष्ण कातर होकर सोचने लगे—'भाई बलरामजी को तो देवता या असुर कोई भी जीत नहीं सकते, फिर भी इसने उनको कैसे जीत लिया और कैसे वह पिताजी को बाँधकर ले गया?' इसी बीच शाल्व वसुदेव के ही समान मायाकृत एक मनुष्य को वहाँ लाकर श्रीकृष्ण से कहने लगा—'मूर्ख! देख, तेरे देखते-ही-देखते मैं इसका काम तमाम करता हूँ, कुछ बलपौरुष हो तो इसे बचा।' और श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहकर उसने मायारचित वसुदेव का सिर तलवार से काट लिया और उसे लेकर विमान पर जा बैठा। भगवान श्रीकृष्ण स्वयंसिद्ध, ज्ञानस्वरूप पुरुषोत्तम हैं। वे इसे देखते ही समझ गये कि यह शाल्व की माया है। तुरंत उन्होंने अपने बाणों से उसके कवच, धनुष और सिर की मणि को छिन्न-भिन्न कर उसे घायल कर दिया। उसके विमान को चूर-चूर करके अपने अद्भुत सुदर्शन चक्र से मायावी शाल्व का कुण्डल-किरीट-युक्त सिर धड़ से अलग कर दिया। शाल्व के मारे जाने पर दन्तवक्त्र शिशुपाल आदि अपने मित्रों का बदला लेने के विचार से शीघ्र ही वहां आ पहुँचा। उसके हाथ में एकमात्र गदा थी। पर वह इतना शक्तिशाली था कि उसके पैर की धमक से पृथिवी हिल रही थी। उसे इस प्रकार आते देखकर भगवान श्रीकृष्ण भी गदा लेकर रथ से कूद पड़े। बल के गर्व से चूर गदा उठाये उसने श्रीकृष्ण से कहा—'तू मेरे मामा का लड़का है, इसलिए तुझे मारना तो नहीं चाहिये; परन्तु तुमने मेरे मित्रों का वध किया

है और तू मुझे भी मारना चाहता है। मैं अपने मित्रों से बड़ा प्रेम करता था और उनका ऋण मुझपर अब भी है, अतः तुझे मारकर ही मैं उन से उऋण हो सकता हूं।' उसने अपने शब्द-बाणों से जब श्रीकृष्ण को इस प्रकार चोट पहुँचाने का प्रयत्न किया तब श्रीकृष्ण ने अपनी गदा का ऐसा प्रहार उसके वक्षस्थल पर किया कि उसका कलेजा फट गया और वह रक्त उगलता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा। उसी समय उसके मृत शरीर से एक ज्योति निकली और ठीक वैसे ही वह भगवान श्रीकृष्ण में समा गई जैसे कि शिशुपाल की मृत्यु के समय हुआ था। दन्तवक्त्र का बदला लेने के लिए जब उसका भाई विदूरथ श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थित हुआ, तब उन्होंने अपने परम शक्तिशाली चक्र से उसको भी मौत के घाट उतार दिया। यह सब कर चुकने के बाद श्रीकृष्ण ने द्वारका में प्रवेश किया।

बलरामजी की तीर्थयात्रा

जब बलरामजी ने सुना कि कौरव और पाण्डवों के साथ युद्ध करने की तैयारी कर रहे हैं, तब वे तीर्थों में स्नान करने के बहाने द्वारका से चल पड़े, क्योंकि उन्हें किसी भी पक्ष से लड़ना पसंद नहीं था। वे प्रथम प्रभास-क्षेत्र गए और वहाँ से अनेक तीर्थों में भ्रमण करते हुए नैमिषारण्य क्षेत्र में आये। उन दिनों वहाँ बड़े-बड़े ऋषि सत्संगरूप 'महान सत्र' कर रहे थे। ऋषियों ने बलरामजी का वहाँ बड़ा सत्कार किया। उस सभा में बलराम-जी ने भगवान व्यास के शिष्य रोमहर्षण को व्यासगद्दी पर आसीन देखा। रोमहर्षणजी सूतजाति में उत्पन्न होने पर भी ऋषियों के बीच ऊँचे आसन पर बैठे थे और अन्य मुनियों के वहाँ आने पर न तो उठकर वे उनका स्वागत ही करते थे, न प्रणाम ही। यह देखकर बलरामजी को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—

भगवान व्यासदेव का शिष्य होकर इस दुर्बुद्धि ने इतिहास,पुराणों, और धर्मशास्त्र का अध्ययन तो किया है ; परन्तु अभी इसका न तो अपने मन पर संयम है और न यह विनयी ही हो सका है। जैसे नट की सारी चेष्टाएं अभिनय तक ही सीमित होती हैं, वैसे ही इसका अध्ययन केवल स्वाँग के लिए है। इससे न इसका और न किसी दूसरे का लाभ है। जो लोग धर्म का चिह्न धारण करते हैं; परन्तु उसका पालन नहीं करते, वे पापी हैं।' यह कह-कर उन्होंने रोमहर्षणजी पर अपने मूसल का प्रहार किया और वे मर गये।

सूतजी के मरते ही सब ऋषि-मुनि दुखी होकर हाहाकर करने लगे। उन्होंने बलरामजी से कहा—'सूतजी को हम लोगों ने ही उच्च आसन पर बैठाया था और जबतक हमारा यह सत्र समाप्त न हो जाता तबतक के लिए उन्हें शारीरिक कष्ट-रहित आयु भी देदी थी। अतः उन्हें अनजान में मारकर आपने ब्रह्महत्या के सामन बहुत बड़ा पाप किया है। आपका अवतार लोकों को पवित्र करने के लिए हुआ है। यदि आप अपनी इच्छा से ही उसका प्रायश्चित्त कर लेंगे तो इससे लोगों को बड़ी शिक्षा मिलेगी।'

बलरामजी ने लोक-कल्याण की इच्छा से, उनसे इस ब्रह्महत्या के प्रायश्चित का विधान पूछा। ऋषियों ने कहा—'आप कोई ऐसा उपाय कीजिये, जिससे इनके उपदेश से हम वंचित भी न हों तथा हम लोगां ने जो इन्हें वरदान दिया था वह भी सत्य हो जाय।' बलरामजी ने कहा—'ऋषियो! वेदों का ऐसा कथन है कि आत्मा ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। इसलिए रोमहर्षण के स्थान पर उनके पुत्र आप लोगों को परमात्मा की लीला-कथा सुनायंगे। उसे मैं दीर्घायु और बुद्धि प्रदान कर देता हूँ।'

ऋषियों ने प्रसन्न होकर उनसे कहा—'बलरामजी! इल्वल का पुत्र बल्वल एक भयंकर दानव है। वह प्रत्येक पर्व पर यहाँ आ

पहुँचता है और हमारे इस सत्र को दूषित कर देता है। आप उस पापी को मार डालिए। हम लोगों की यह बहुत बड़ी सेवा होगी। इसके बाद आप एकाग्रचित्त होकर तीर्थों में स्नान करते हुए बारह महीनों तक भारतवर्ष की परिक्रमा कीजिए। इससे आपकी इस घोर पाप से सर्वथा शुद्धि हो जायगी।' बलरामजी ने ऋषियों की यह बात मान ली और वे कुछ दिनों बाद इस सत्र की रक्षा करने लगे।

परीक्षित ! पर्व का दिन आने पर भयंकर अन्धड़ चलने लगा और धूल की वर्षा होने लगी। बल्वल अपवित्र वस्तुओं की वर्षा करता, त्रिशूल लिये, स्वयं उस यज्ञशाला की ओर आता हुआ दिखाई पड़ा। उसका डील-डौल बहुत बड़ा और भयानक था। उसे देखते ही बलरामजी ने अपने हल से खींचकर उसके सिर पर एक मूसल ऐसा जमाया कि वह ब्रह्मद्रोही रूधिर वमन करता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा। इस शुभ कार्य के करने से नैमिषारण्यवासी ऋषि-मुनियों ने बलरामजी का अभिषेक किया और उन्हें आशीर्वाद दिये। तदतन्तर उन्होंने उन्हें दिव्य वस्त्राभूषण तथा कभी न मुर्झानेवाले कमलों की एक वैजयन्ती माला देकर विदा किया।

ऋषियों से विदा लेकर बलरामजी सर्वप्रथम प्रयाग और पुलहा गए। वहाँ से गोमती, सोननद, गंडकी और कौशिकी नदियों में स्नान करते हुए वे कामाक्षी आये। मार्ग में उन्होंने गयातीर्थ का भी दर्शन किया। फिर वहाँ से गंगासागर, महेन्द्र-पर्वत आदि होते हुए उन्होंने गोदावरी में स्नान किया। इसके पश्चात वेणा, पम्पा और भीमरथी आदि तीर्थों की यात्रा करते वे श्री-शैल पर पहुँचे, वहाँ उन्होंने स्वामिकार्तिक और महादेवजी का दर्शन किया। वहाँ से वेंकटाचल, शिवकांची, विष्णुकांची आदि तीर्थों में से होते हुए वे कावेरी के तट पर आये और उसके पवित्र जल में स्नान किया। तदनंतर वे श्रीरंगक्षेत्र पहुँचे और

वहाँ से ऋषभपर्वत, दक्षिण मथुरा, सेतुबंध और कन्याकुमारी का दर्शन तथा कृतमाला और ताम्रपर्णी में स्नान कर वे मलयपर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अगस्त्य मुनि को प्रणाम किया। फिर कुछ काल तक अनन्तशयन और गोकर्णतीर्थ में रहकर तापी, पयोष्णि, निर्विन्ध्या आदि नदियों में स्नान करते हुए उन्होंने दंडकारण्य का परिभ्रमण किया और नर्मदा के तट पर आ गये। इस पवित्र नदी के तट पर ही माहिष्मतिपुरी है। वहाँ मनुतीर्थ में स्नान करके वे फिर प्रभासक्षेत्र वापस चले आये। वहीं उन्होंने सुना कि कौरवों और पांडवों के युद्ध से अधिकांश क्षत्रियों का संहार हो गया है, इसलिए जिस दिन रणभूमि में भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे थे, उसी दिन उन्हें रोकने के लिए बलरामजी कुरुक्षेत्र जा पहुँचे।

वहाँ युधिष्ठिरादि पांचों पांडवों तथा श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया और उनके अकस्मात आने के विषय में सभी अनुमान करने लगे। उस समय भीमसेन और दुर्योधन हाथ में गदा लिये पैंतरे बदल रहे थे। उन्हें युद्ध करते देखकर बलरामजी ने कहा—"राजा दुर्योधन और भीमसेन! तुम दोनों बलपौरुष में समान और वीर हो। अतः तुम व्यर्थ का युद्ध मत करो, अब इसे बंद कर दो।' उनकी बातें दोनों के लिए हितकर थीं; परन्तु उन दोनों का वैरभाव इतना दृढ़मूल हो गया था कि उन्होंने बलरामजी की सलाह पर ध्यान नहीं दिया। इसे प्रारब्ध का विधान समझकर बलरामजी द्वारका लौट आये। वहाँ से वे फिर नैमिषारण्य क्षेत्र में गए, जहाँ ऋषियों ने उनसे अनेक यज्ञ कराए।

सुदामा-चरित्

परीक्षित ने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! भक्ति और मुक्ति के देनेवाले भगवान श्रीकृष्ण की शक्ति अनन्त है। ऐसा कौन पुरुष होगा,

जो बारबार उन पवित्रकीर्ति भगवान श्रीकृष्ण की मंगलमयी लीलाओं को सुनकर भी उनसे विमुख होना चाहेगा ? किन्तु उन लक्ष्मीपति के सखा सुदामाजी को दरिद्रता ने क्यों सताया ? कृपया मुझे भक्त सुदामा की कथा सुनाइये ।'

शुकदेवजी ने उस पावन कथा को आरंभ करते हुए कहा, परीक्षित ! सुदामा नाम का एक ब्राह्मण भगवान श्रीकृष्ण का परम मित्र था । वह बड़ा ब्रह्मज्ञानी, विषयों से विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय था । गृहस्थ होते हुए भी प्रारब्ध के अनुसार उसे जो कुछ मिल जाता उसीसे सन्तुष्ट रहता था । उसके वस्त्र तो फटे-पुराने थे ही, अन्न के अभाव से उसकी पत्नी भी अत्यन्त पीड़ित रहती थी ।

एक दिन वह दरिद्रता की प्रतिमूर्ति दुःखिनी पतिव्रता भूख से व्याकुल अपने पति के पास गई और आंसू भरकर बोली—'स्वामिन् ! लक्ष्मीपति भगवान श्रीकृष्ण आपके सखा हैं । वे शरणागतवत्सल, ब्राह्मणों के परमभक्त तथा साधु-सन्तों के परमाश्रय हैं । आप उनके पास जाइये । जब वे जानेंगे कि आप अन्न के बिना दुखी हैं तो आपकी दरिद्रता अवश्य दूर कर देंगे । वे इतने उदार हैं कि जो उनका स्मरण करते हैं, उन प्रेमी भक्तों को वे अपने आप तक का दान कर देते हैं, ऐसी स्थित में वे अपने भक्तों को यदि प्रचुर धन दे दें तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?'

इस प्रकार जब सुदामा की पत्नी ने कई बार प्रार्थना की, तब उन्होंने सोचा कि धन की तो कोई बात नहीं है ; पर इसी बहाने त्रिलोक-स्वामी श्रीकृष्ण के दर्शन भी हो जायंगे । ऐसा विचार कर वे द्वारका जाने को तैयार हो गये और अपनी पत्नी से भगवान के लिए कुछ भेंट के योग्य वस्तु लाकर देने को कहा । पत्नी ने पड़ोस के घर से चार मुट्ठी चिउड़े मांगकर एक फटे-पुराने कपड़े

में बाँध दिये। सुदामा द्वारका को चल पड़े। मार्ग में वे सोचते जाते थे कि मुझे राजाधिराज श्रीकृष्ण के दर्शन कैसे हो सकेंगे।

द्वारका पहुँचने पर दूसरे ब्राह्मणों के साथ तीन ड्योढ़ियां लांघकर वे राजमहलों के निकट पहुंचे। वहाँ श्रीकृष्ण ने दूर से ही उन्हें आते देखा। देखते ही दौड़कर उन्होंने आनन्द से उन्हें अपने भुजपाश में बांध लिया। भगवान अपने प्यारे सखा के अंगस्पर्श से अत्यन्त आनन्दित हुए। उनके नेत्रों से प्रेम के आँसू बरसने लगे। उन्होंने उन्हें अपने महल में ले जाकर अपने पलंग पर बिठाया और उनकी पूजा की तथा पाँव पखारकर उनका चरणोदक अपने सिर पर धारण किया। ब्राह्मण देवता फटे-पुराने वस्त्र पहने थे और उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल था। पर इस समय स्वयं महारानी रुक्मिणीजी चँवर डुलाकर उनकी सेवा कर रही थीं, उनकी थकान शीघ्र ही दूर हो गई।

परीक्षित ! श्रीकृष्ण और सुदामाजी दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर अपने विद्यार्थी-जीवन की उन सुखद घटनाओं का वर्णन करने लगे, जो उनके गुरुकुल में रहते हुए घटित हुई थीं। श्रीकृष्ण ने कहा —'भाई,मैं जानता हूं कि आपका चित्त गृहस्थी में रहते हुए भी प्राय: विषय-भोगों से अनासक्त है और धन-संपत्ति में आपकी प्रीति नहीं है। जगत में बिरले ही मनुष्य विषय-वासनाओं का त्याग कर केवल लोक-संग्रह के कर्मों में निरत रहते हैं। मित्र, जिस समय हम लोग गुरुकुल में रहा करते थे, उस समय की वह बात आपको याद है क्या ? जब हम दोनों को एक दिन हमारी गुरुपत्नी ने ईंधन लाने के लिए जंगल भेजा था ? उस दिन भयंकर आँधी-पानी आने के कारण सूर्यास्त होने के पूर्व ही चारों ओर कैसा अन्धकार छा गया था ! धरती पर पानी-ही-पानी हो गया था, इसलिए कहां गड्ढा है और कहां किनारा, इसका पता ही नहीं चलता था। जब हमारे कृपालु गुरु

सन्दीपनि मुनि को इस बात का पता चला,तब वे सूर्योदय होने पर कस प्रकार हम लोगों को ढूँढ़ते हुए जंगल में पहुँचे थे ? और फिर हमें अत्यन्त आतुर देखकर कहने लगे थे–'पुत्रो ! तुम लोगों ने हमारे लिए अत्यन्त कष्ठ उठाया है। सभी को अपना शरीर अधिक प्रिय होता है; परन्तु तुम दोनों इसकी तनिक भी परवाह न कर हमारी सेवा में ही लगे रहे, गुरु-ऋण से मुक्त होने के लिए सद्-शिष्यों का इतना ही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध भाव से अपना सर्वस्व गुरु की सेवा में समर्पित कर दें। मैं तुम लोगों पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ,तुम्हारे सारे मनोरथ, सारी अभिलाषाएं पूरी हों। प्रिय मित्र ! जिस समय हम लोग गुरुकुल में रहते थे, हमारे जीवन में ऐसी-ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई थीं। गुरुदेव की कृपा से ही मनुष्य शान्ति और पूर्णता को प्राप्त करता है।

फिर सुदामा ने कहा—'श्रीकृष्ण ! आपके साथ मुझे गुरुकुल में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आप वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में निवास करें, यह आपका मनुष्यलीला का अभिनय नहीं तो और क्या है ?'

परीक्षित। भगवान श्रीकृष्ण सबके मन की बात जानते हैं। अब वे अपने सखा सुदामा से विनोद करते हुए बोले 'मित्र ! आप अपने घर से मेरे लिए क्या उपहार लाये ? मेरे प्रेमी भक्त जब प्रेम से थोड़ी-सी भी वस्तु मुझे अर्पण करते हैं तो मैं उनसे प्रसन्न हो जाता हूँ; परन्तु अभक्तों की दी हुई बहुत बड़ी भेंट से भी सन्तुष्ट नहीं होता। जो मनुष्य भक्तिभाव से फलफूल अथवा कोई भी वस्तु मुझे समर्पित करता है तो मैं उस भकत का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता वरन् तुरन्त उसका भोग लगा लेता हूँ।'

भगवान श्रीकृष्ण के इस प्रकार माँगने पर भी लज्जावश सुदामा ने लक्ष्मीपति को वे चार मुट्ठी चिउड़े नहीं दिये और अपना मुँह नीचे कर लिया। तब रुक्मिणी-रमण सोचने लगे

कि एक तो यह मेरा सखा है, दूसरे इसने कभी लक्ष्मी की कामना से मेरा भजन नहीं किया है। इस समय केवल अपनी प्रतिव्रता स्त्री को प्रसन्न करने के लिए और उसीके आग्रह से यह यहाँ आया है। इसलिए अब मैं इसे ऐसी सम्पत्ति दूँगा, जो देवाताओं को भी दुर्लभ है। उन्होंने उनके वस्त्र में से चिउड़े की वह पोटली, जिसमें चिउड़ा बँधा था, छीन ली और कहा—'मित्र! यह तो तुम मेरे लिए अत्यन्त प्रिय भेंट लाये हो।' और वे उसमें से एक मुट्ठी चिउड़ा खा गये। दूसरी मुट्ठी ज्योंही उन्होंने भरी कि रुक्मिणी ने भगवान का हाथ पकड़ लिया और कहा—

'विश्वात्मन्! मनुष्य को इस लोक तथा परलोक में सुख-समृद्धि प्राप्त करने के लिए उसका एक मुट्ठी चिउड़ा ही आप स्वीकार कर लें, यही बहुत है।' रुक्मिणी के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने और चिउड़ा लेने का आग्रह छोड़ दिया।

सुदामा उस रात श्रीकृष्ण के महल में ही ठहरे और वहाँ उहोंने स्वर्ग-सुख का अनुभव किया। दूसरे दिन बिदा होते समय प्रत्यक्ष रूप से कुछ न मिलने पर भी उन्होंने अपने सखा श्रीकृष्ण से कुछ माँगा नहीं। श्रीकृष्ण के आनन्द में डूबते-उतराते वे अपने घर को चल दिये।

मार्ग में वे सोचते जा रहे थे—'अहा! श्रीकृष्ण की ब्राह्मण-भक्ति आज मैंने अपनी आँखों देखी। उन्होंने मुझ दरिद्र को अपने हृदय से लगा लिया और उसी पलंग पर सुलाया, जिसपर रुक्मिणीजी शयन करती हैं। रुक्मिणीजी ने अपने हाथ से चँवर डुलाकर मेरी सेवा की। प्रभु ने मेरे पाँव दबाये और देवता के समान मेरी पूजा एवं सुश्रूषा की। यद्यपि स्वर्ग, मोक्ष, पृथिवी और रसातल की सम्पत्ति उनके अधीन है, फिर भी दयालु श्रीकृष्ण ने यह सोचकर मुझे थोड़ा-सा भी धन नहीं दिया कि

कहीं यह दरिद्र धन पाकर मतवाला न हो जाय और मुझे भूल न बैठे ।'

इस प्रकार मन-ही-मन विचारते हुए सुदामा अपने घर के निकट पहुँच गए। पर उन्होंने देखा कि जहाँ उनकी छोटी-सी कुटिया थी, वहाँ नेत्रों को चकाचौंध करनेवाला महल खड़ा है और ठौर-ठौर पर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान बने हैं। वे सोचने लगे कि यह स्थान है किसका? और यदि यह वही स्थान है, जहाँ मेरा घर था तो यह ऐसा कैसे हो गया? इस सोच-विचार में वे पड़े ही थे कि बहुत-से सुन्दर स्त्री-पुरुष गाजे-बाजे के साथ मंगल-गीत गाते हुए उनकी अगवानी के लिए वहाँ आ गये। पतिदेव का शुभागमन सुनकर ब्राह्मणी को अपार आनन्द हुआ। जल्दी से घर से निकल कर प्रेम और उत्कंठा के आँसू आँखों में भरे वह उनके निकट आई और पैर छूकर प्रणाम किया। उस समय वह सोने के हार पहने दासियों के बीच चारों ओर शोभा बिखेर रही थी।

ब्राह्मण देवता उसे उस प्रकार देखते ही चकित से हो गये। यद्यपि उन्होंने अपनी पत्नी के साथ महल में प्रवेश किया तो भी अपनी इस अकारण समृद्धि को देखकर वे गम्भीरतापूर्वक विचारने लगे कि मुझ जन्म से ही दरिद्र के पास ऐसे ऐश्वर्य के अनायास आ जाने का क्या कारण है? कुछ भी बात समझ में न आने पर उन्होंने यही निश्चय किया कि यह सब अवश्य ही भगवान श्रीकृष्ण का कृपा-कटाक्ष है। वे याचक भक्त को उसके मन का भाव जानकर बहुत-कुछ दे देते हैं; पर सामने कुछ कहते नहीं। मेरे सखा श्यामसुन्दर सचमुच उस मेघ से भी अधिक उदार हैं, जो समुद्र को भर देने की शक्ति रखने पर भी किसान के सामने न बरसकर उसके सो जाने पर रात में बरसता है और बहुत बरसने पर भी थोड़ा ही समझता है। उनका भक्त यदि

उनके लिए कुछ भी कर दे तो वे उसे बहुत मान लेते हैं। मैंने उन्हें केवल एक मुट्ठी चिउड़ा भेंट किया था; पर उदारशिरोमणि श्रीकृष्ण ने उसे कितने प्रेम से स्वीकार किया! मुझे जन्म-जन्म उन्हींका प्रेम तथा उन्हींकी हितैषिता और मित्रता प्राप्त हो। मैं अतुल सम्पत्ति और स्वर्ग का वैभव नहीं चाहता। सदा उनके चरणों में अनुराग और उन्हींके भक्तों का सत्संग प्राप्त होता रहे, यही मेरी एकमात्र अभिलाषा है।

भक्तप्रवर सुदामा अनासक्त भाव से अपनी पत्नी के साथ भगवान के प्रसादस्वरूप उस ऐश्वर्य का उपभोग करने लगे। दिनों-दिन उनका प्रेम श्रीकृष्ण के चरणों में बढ़ता ही गया। उत्तरोत्तर वे उनके ध्यान में तन्मय रहने लगे और समय आने पर भगवच्चरणों को प्राप्त कर लिया।

कुरुक्षेत्र में नन्दबाबा और यदुवंशियों का मिलन

परीक्षित! श्रीकृष्ण और बलरामजी के द्वारका में निवास करते समय ही एक बार सर्वग्रास सूर्यग्रहण लगा। इस अवसर पर सभी यदुवंशी ग्रहण में स्नान-पुण्य करने कुरुक्षेत्र आये थे। श्रीकृष्ण के साथ अक्रूर, वसुदेव, उग्रसेन, प्रद्युम्न और साम्ब आदि यदुवंशी भी आये थे। केवल अनिरुद्ध और यदुवंशियों के सेनापति कृतवर्मा नगर की रक्षा के लिए द्वारका में ही रह गये। कुरुक्षेत्र में पहुंचकर यदुवंशियों ने एकाग्रचित्त से ग्रहण-स्नान और उपवास किया तथा ब्राह्मणों को भोजन कराया। कुरुक्षेत्र में उस समय नन्दबाबा आदि गोप और व्रज की गोपियाँ भी आई थीं।

कुरुक्षेत्र में और जितने भी राजा आये थे, वसुदेव और उग्रसेन ने उनका समुचित आदर-सत्कार किया। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, अपने पुत्रों के साथ गान्धारी तथा पाण्डव, कुन्ती, संजय, विदुर, कृपाचार्य कुन्तिभोज, विराट भीष्मक,

महाराज नग्नजित, पुरजित और द्रुपद आदि भी वहाँ आये थे। इतने दिनों के बाद एक-दूसरे के इस आकस्मिक मिलन और पारस्परिक वार्तालाप से सभी को बड़ा आनन्द हुआ। उनके हृदय खिल उठे और आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। जब नन्दबाबा को श्रीकृष्ण और अन्य यदुवंशियों के आने की बात मालूम हुई, तब वे गोपों के साथ अपने पुत्र कृष्ण और बलराम को देखने उनके स्थान पर गए। नन्दबाबा को देखते ही सब यदुवंशी स्वागतार्थ खड़े हो गये। श्रीकृष्ण और बलरामजी ने यशोदा मैया और नन्दबाबा के चरणों में प्रणाम किया।

गोपियों को भी आज बहुत वर्षों के बाद नन्दनन्दन के दर्शन हुए थे। वे तो उन्हें देखते ही तन्मय हो गईं। उनकी यह दशा देख कर गोपीवल्लभ ने हँसते हुए उनसे कहा—'गोपियो ! मैं अकृतज्ञ हूँ, ऐसा समझ कर तुम मुझसे बुरा तो नहीं मानने लगी हो ? सच तो यह है कि परमात्मा ही प्राणियों के संयोग-वियोग का कारण हैं। जैसे वायु बादलों, तिनकों, रुई और धूल के कणों को एक-दूसरे से मिला देती है और फिर उन्हें अलग कर देती है, वैसे ही परमात्मा भी सबका संयोग-वियोग अपनी इच्छानुसार करता रहता है। जैसे जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, उनके आदि, अन्त, मध्य, बाहर और भीतर, उनके मूल कारण पृथिवी, वायु, जल, अग्नि और आकाश ही ओत-प्रोत हो रहे हैं, वैसे ही जितने भी पदार्थ हैं, उनके भीतर और बाहर केवल मैं ही हूँ। समस्त प्राणियों के शरीर में पाँचों भूत कारणरूप से और आत्मा भोक्ता अथवा जीव के रूप से स्थित है; पर इन दोनों से ही परे अविनाशी सत्य मैं हूँ।'

परीक्षित ! भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार गोपियों को अध्यात्मज्ञान का उपदेश दिया, जिसके बार-बार स्मरण करने से

गोपियों का मोह नष्ट हो गया और उन्होंने भगवान का सारूप्य प्राप्त कर लिया।

जिस समय वहाँ सब उपस्थित लोग इस प्रकार श्रीकृष्ण के सान्निध्य का आनन्द ले रहे थे, उसी समय बहुत से ऋषि-मुनि वहाँ आये। उनमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद, च्यवन, विश्वामित्र, भरद्वाज, गौतम, परशुराम, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, सनकादि, सनत्कुमार, अंगिरा, अगस्त्य और याज्ञवल्क्य प्रधान थे। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण, बलरामजी और सारे पान्डव स्वागत के लिए खड़े हुए। सभी राजाओं तथा बलरामजी के साथ स्वयं श्रीकृष्ण ने उनकी पूजा की और उच्च आसन पर उन्हें बिठाया। भगवान श्रीकृष्ण ने उनसे विनयपूर्वक कहा—'आज हम लोगों का जीवन कृतार्थ हो गया। जिन योगियों का दर्शन बड़े-बडे देवताओं को भी दुर्लभ है, उन्हींका दर्शन आज हमें सहज ही मिल गया है। जिन्होंने बहुत बड़ी तपस्या की है और जो लोग अपने इष्टदेव को समस्त प्राणियों में न देखकर केवल मूर्ति-विशेष में उनका दर्शन करते हैं, उन्हें आप लोगों के दर्शन का अवसर भला कब मिल सकता है? केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते या पत्थर की प्रतिमाएं ही देवता नहीं होतीं; वास्तव में सन्तपुरुष ही तीर्थ और देवता हैं, क्योंकि उनका यदि बहुत समय तक सेवन किया जाय तब वे पवित्र करते हैं; परन्तु सन्त-पुरुष तो दर्शनमात्र से कृतार्थ कर देते हैं। देवता उपासना करने पर भी पाप का पूरा-पूरा नाश नहीं कर सकते, कारण कि उनकी उपासना से भेदबुद्धि का नाश नहीं होता; परन्तु यदि घड़ी-दो-घड़ी भी ज्ञानी पुरुषों की सेवा की जाय तो वे सारे पाप-ताप को मिटा देते हैं, क्योंकि भेद-बुद्धि के नाशक हैं। जो मनुष्य शरीर को ही आत्मा, स्त्री-पुरुष आदि को ही अपना, मिट्टी-पत्थर, काष्ठ आदि को ही इष्टदेव और जल को ही तीर्थ समझता है—ज्ञानी

महापुरुष को नहीं— वह मनुष्य होने पर भी पशुओं से बुरा है।'

परीक्षित ! अखण्ड ज्ञान-सम्पन्न श्रीकृष्ण के ये गूढ़ वचन सुनकर वे सब ऋषि-मुनि समझ नहीं सके कि भगवान यह क्या कह रहे हैं! बड़ी देर तक विचार करने के पश्चात उन्होंने निश्चय किया कि श्रीकृष्ण सर्वेश्वर होने पर भी जो इस प्रकार सामान्य मनुष्य की भाँति व्यवहार कर रहे हैं, वह केवल लोक-संग्रह के लिए है। उन्होंने कहा—

"भगवन् ! आपकी प्रबल माया से बड़े-बड़े तत्वज्ञानी भी मोहित हो रहे हैं। आप स्वयं परमेश्वर होते हुए भी साधु पुरुषों और अपने भक्तों का मान बढ़ाने के लिए ही उनका आदर करते हैं, यह आपके योग्य ही है। जैसे पृथिवी, वृक्ष, पत्थर, घट आदि अपने विकारों के द्वारा बहुत-से नाम और रूप धारण कर लेती है, वैसे ही आप चेष्टाहीन होते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं और तब भिन्न-भिन्न नामों से इस जगत की रचना, रक्षा और संहार करते रहते हैं ; किंतु यह सब करते हुए भी उनमें स्वतः लिप्त नहीं होते। यद्यपि आप प्रकृति से परे स्वयं परमात्मा हैं, तथापि समय-समय पर भक्तजनों की रक्षा और दुष्टों का दमन करने के लिए विशुद्ध सत्वमय स्वरूप प्रकट करते हैं। वेद आपका विशुद्ध हृदय है ; परन्तु तप, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा ही आपके साकार और निराकार रूप या दोनों के अधिष्ठान-स्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। आप समस्त कल्याण-साधनों की चरम सीमा और सन्तपुरुषों की एकमात्र गति हैं। आपने अचिंत्य योगमाया द्वारा अपनी महिमा छिपा रखी है और अपने सत्व-स्वरूप को उसके आवरण से ढक रखा है। जब मनुष्य स्वप्न के मिथ्या पदार्थों को भी सत्य समझने लगता है, तब वह अपने स्वप्न-शरीर को ही वास्तविक शरीर मानने लगता है। उसे इस बात का बिलकुल ही पता नहीं रहता कि उस स्वप्न के अतिरिक्त एक जाग्रत

अवस्था भी है। इसी तरह जाग्रत अवस्था में चित्त माया से विमोहित होकर सांसारिक विषयों में भटकने लगता है और इसकी विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। उस समय जीव यह नहीं जान पाता है कि आप इस जाग्रत संसार से भी परे हैं। प्रभो! बड़े-बड़े तपस्वी पूर्ण योगसाधना द्वारा आपके उन चरणकमलों को हृदय में धारण करते हैं, जो समस्त पापराशि को नष्ट कर देते हैं। आज हमें उन्हीं श्रीचरणों का दर्शन हुआ है। आपको हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है।"

भगवान की इस प्रकार स्तुति कर चुकने के बाद उन ऋषियों ने जब अपने-अपने आश्रम को जाने का विचार किया, तब वसुदेवजी ने उनके पास जाकर बड़ी विनम्रता से कहा—'ऋषिगण! आप सभी सर्व देवस्वरूप हैं; आप लोगों को मैं नमस्कार करता हूँ। जिन धर्मयुक्त कर्मों के अनुष्ठान से कर्मों और कर्म-वासनाओं का आत्यन्तिक नाश हो जाता है एवं मोक्ष मिल जाता है, कृपाकर मुझे उनका उपदेश दीजिए।' इसपर नारदजी ने वसुदेवजी की जिज्ञासा का अनुमोदन करते हुए ऋषियों से कहा—'वसुदेवजी श्रीकृष्ण को अपना पुत्र समझकर शुद्ध जिज्ञासा के भाव से अपने कल्याण का साधन हम लोगों से पूछ रहे हैं। आप लोग इनकी मनोकामना पूरी करें!'

ऋषियों ने श्रीकृष्ण, बलराम और अन्य राजाओं के सामने वसुदेवजी को सम्बोधित करते हुए कहा—'वसुदेवजी! कर्मों के द्वारा कर्मवासनाओं और कर्मफलों का आत्यन्तिक नाश करने का सबसे अच्छा उपाय यज्ञ के द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान विष्णु की आराधना ही है। त्रिकालदर्शी ज्ञानियों ने शास्त्रदृष्टि से यही चित्त की शान्ति का उपाय, सुगम मोक्ष-साधन और आनन्द-उल्लास देनेवाला धर्म बतलाया है। न्यायार्जित अर्थ से श्रद्धापूर्वक पुरुषोत्तम नारायण की आराधना करना ही गृहस्थ के लिए परम-

कल्याण का मार्ग है। विचारशील मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ, दान इत्यादि के द्वारा धन का सद्व्यय करे तथा स्त्री-पुत्रादि और स्वर्ग की कामना को छोड़ दे। यह जीव देवों, ऋषियों और पितरों का ऋण लेकर पैदा होता है। यज्ञ, अध्ययन और सन्तानोत्पति से उसे इन ऋणों से छुटकारा मिलता है। इनसे बिना उऋण हुए ही जो संसार का त्याग करता है, वह अधोगामी होता है। आप अबतक ऋषियों और पितरों के ऋण से तो मुक्त हो चुके हैं, अब यज्ञों के द्वारा देवऋण को चुकाकर भगवान के शरणापन्न हो जायं।'

परममनस्वी वसुदेवजी ने ऋषियों का हितकर उपदेश सुनकर प्रसन्नता से उसी समय यज्ञ करने के लिए उन्हें ऋत्विजों के रूप में वरण किया। ऋषियों ने भी उसी पुण्यक्षेत्र कुरुक्षेत्र में वसुदेवजी से अनेक उत्तम यज्ञ करवाये। यज्ञ के अंत में वसुदेवजी ने ब्राह्मणों से लेकर श्वानों तक को भोजन करवाया। उस समय श्रीकृष्ण, बलराम तथा महाराज उग्रसेन ने भी नन्दबाबा और दूसरे गोपों की बहुमूल्य सामग्रियों से अर्चा-पूजा की। तदुपरान्त वसुदेवजी ने नम्रतापूर्वक नन्दबाबा से कहा—

"भाईजी! भगवान ने मनुष्यों के लिए प्रेम का यह बहुत बड़ा बन्धन बना दिया है। मैं तो समझता हूँ कि बड़े-बड़े शूरवीर और योगी-यति भी इससे छूट नहीं सकते हैं। आपने हम अकृतज्ञों के प्रति अनुपम मित्रता का व्यवहार किया है। हम इसका कभी बदला नहीं चुका सकेंगे। हमारी यह मैत्री कभी टूटनेवाली नहीं। पहले तो बन्दी होने के कारण हम आपका कुछ भी प्रिय कार्य नहीं कर सके और अब धन-सम्पत्ति के मद से मतवाले हो रहे हैं। जो कल्याणकामी हैं, उसे राजलक्ष्मी न मिले, इसी में उसका भला है। क्योंकि मनुष्य राज्यलक्ष्मी पा जाने से अन्धा हो जाता है और स्वजनों तक की ओर भी नहीं देखता।"

वसुदेवजी का हृदय प्रेम से गद्गद् हो गया। उन्हें नन्दबाबा के मैत्रीपूर्ण उपकारों का स्मरण हो आया और उनकी आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह चली। वसुदेवजी को प्रसन्न करने के लिए नन्दबाबा आजकल करते-करते तीन महीने तक वहीं रह गये और यदुवंशियों ने भी जी भरकर उनका सम्मान किया। इसके बाद उन लोगों ने बहुमूल्य भेंटें देकर नन्दबाबा, गोपों और गोपियों को विदा किया। किन्तु ब्रजवासियों का चित्त गोपालकृष्ण में ऐसा रम गया था कि प्रयत्न करने पर भी उसे वे वहाँ से लौटा न सके। अपना-अपना चित्त उन्हींके चरणों में छोड़ कर उन्होंने मथुरा को प्रस्थान किया। तदन्तर यदुवंशी भी द्वारका लौट आए।

विदेह-यात्रा

शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित ! एक बार महाबाहु अर्जुन तीर्थ-यात्रा करते हुए प्रभासक्षेत्र पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुना कि बलरामजी सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करना चाहते हैं और श्रीकृष्ण और वसुदेवजी उनकी इस बात से सहमत नहीं हैं। अतः अर्जुन के मन में भी सुभद्रा से विवाह करने की इच्छा हुई और वे त्रिदंडी वैष्णव का वेश बनाकर गुप्तरूप से द्वराका में चार महीने रहे। वहां के पुरवासियों और बलरामजी को यह पता नहीं चला कि यह छद्मवेशधारी वैष्णव वास्तव में अर्जुन है। एक दिन बलरामजी उन्हें आतिथ्य करने के लिए अपने घर लाये तथा बड़े प्रेम से भोजन कराया। वहां अर्जुन की सुन्दरता देखकर सुभद्रा के मन में भी उन्हें पति बनाने की इच्छा प्रबल हो उठी। अर्जुन इसे ताड़ गये और अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। एक दिन सुभद्राजी देवदर्शन के लिए रथ पर सवार होकर जब द्वारका के दुर्ग से बाहर निकली, उसी समय श्रीकृष्ण तथा वसुदेवजी की अनुमति से अर्जुन उन्हें हर लाये। हरते समय जिन सैनिकों ने उनका प्रतिरोध किया, अर्जुन ने उन्हें अपनी बाण-वर्षा से परास्त

कर भगा दिया। यह सुनकर बलरामजी बड़े क्रोधित हुए ; पर जब श्रीकृष्ण तथा अन्य सम्बन्धियों ने पैर पकड़कर बहुत समझाया-बुझाया तब वे शान्त हो गये।

परीक्षित ! मिथिला में श्रुतदेव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह परमशान्त, विरक्त और भगवान का परमभक्त था। भिक्षा में जो कुछ मिल जाता उसीसे वह अपना निर्वाह करता था। उस देश के राजा बहुलाश्व भी उसी ब्राह्मण के समान भक्तिमान और मनस्वी थे। एक बार भगवान श्रीकृष्ण उन्हें कृतार्थ करने विदेह-यात्रा पर चले। उस समय उनके साथ नारद, अत्रि, वेद-व्यास आदि ऋषि भी थे। उस यात्रा में अनेक प्रान्तों के नर-नारियों ने भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द का मकरन्द-रसपान किया। वे जहां भी जाते, नागरिक उनकी सेवा-पूजा में उपस्थित होते। उन्हें श्रीकृष्ण वैसे ही लगते मानो ग्रहों के साथ सूर्यभगवान उदय हो रहे हों। त्रिलोकगुरु श्रीकृष्ण के दर्शन से उनकी अज्ञान-दृष्टि नष्ट हो जाती थी। प्रभु दर्शनार्थियों को अपने परमकल्याण-प्रद तत्वज्ञान का उपदेश करते हुए जा रहे थे। अन्त में वे विदेह पहुँचे।

भगवान श्रीकृष्ण के आगमन का समाचार सुनकर पुरवासियों के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। मिथिला-नरेश बहुलाश्व और ब्राह्मण श्रुतदेव दोनों ने वहां आकर उनके चरणों में सिर नवाया तथा हाथ जोड़ मुनि-मण्डली के सहित आतिथ्य ग्रहण करने का आग्रह किया। भगवान ने भी उन दोनों की प्रार्थना स्वीकार कर दोनों के घर जाने की कृपा की। विदेहराज बहुलाश्व ने त्रिलोक-पूज्य अतिथि के पैर पखारे और उनके चरणामृत को अपने सिर पर धारण किया। भोजन करने के पश्चात उन्होंने बड़ी मधुर वाणी से भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति की।

प्रभो ! आप समस्त प्राणियों के आत्मा, साक्षी एवं स्वयंप्रकाश

हैं। आपने हम लोगों को दर्शन देकर कृतार्थ किया है। भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो आपकी परम कृपालुता को जानकर भी आपके चरणकमलों का परित्याग कर सकेगा? जिन्होंने आपको प्राप्त करने के लिए जगत की समस्त वस्तुओं का मन से त्याग कर दिया है, उन परमशांत मुनियों को आप अपने आप तक को दे डालते हैं, आपने यदुवंश में अवतार लेकर जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़े हुए मनुष्यों को छुड़ाने के लिए ऐसी विमल कीर्ति का विस्तार किया है, जो त्रिलोक के पाप-संताप को शांत कर देती है। आप कुछ काल इस मुनि-मण्डली के साथ हमारे यहाँ रहकर अपने चरणों की धूल से हमारे वंश को पवित्र कीजिए।' राजा बहुलाश्व की इस प्रकार की विनती सुनकर भगवान ऋषियों के साथ उनके यहाँ कुछ दिन ठहरे। फिर श्रुतुदेव ब्राह्मण के यहाँ पधारे।

परीक्षित! जिस प्रकार राजा बहुलाश्व श्रीकृष्ण के पधारने पर आनन्दमग्न हो गए थे, वैसे ही श्रुतदेव ब्राह्मण भी उनको अपने घर आया देख आनन्दविह्वल हो गया। उसने चटाई, पीढ़े और कुशासनों पर भगवान तथा मुनियों को बिठाया और अपनी पत्नी-सहित बड़े प्रेम से सबके पाँव पखारे। पाँव पखारने के बाद उसने फल, तुलसी और कमल-पुष्प भगवान को अर्पित किये। तदनन्तर भगवान को प्रणाम कर श्रुतदेव इस प्रकार स्तुति करने लगा—'पुरुषोत्तम! आप व्यक्त एवं अव्यक्तरूप प्रकृति और जीव से परे हैं। जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्नावस्था में मन-ही-मन स्वप्न जगत को रच डालता है और उसमें स्वयं अनेक रूपों में अनेक कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही आपने अपनी माया से इस जगत की रचना कर ली है और अब इसमें प्रविष्ट होकर अनेक रूपों से आप प्रकाशित हो रहे हैं। जिन साधनों ने आपके गुणगान से अपने हृदय को शुद्ध कर लिया है, उनके आप अत्यन्त सन्निकट हैं। प्रभो! हम आपके सेवक हैं, हमें

आज्ञा दीजिए कि हम आपकी क्या सेवा करें ? हमारा आपको बार-बार नमस्कार है ।'

भगवान ने मुस्कराते हुए श्रुतदेव ब्राह्मण से कहा—'प्रिय श्रुतदेव ! ये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुमपर अनुग्रह करने के लिए ही यहाँ पधारे हैं । देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदि के द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनों में पवित्र करते हैं ; परन्तु संतपुरुष अपनी दृष्टिमात्र से ही सबको पवित्र कर देते हैं । दुर्बुद्धि मनुष्य इस बात को न जानकर केवल मूर्ति आदि में ही पूज्यबुद्धि रखते हैं और गुणों में दोष निकालकर मेरे स्वरूपमय संतों का तिरस्कार करते हैं । इसलिए श्रुतदेव, तुम इन ब्रह्मर्षियों को मेरा ही स्वरूप समझकर इनकी पूजा करो ।'

परीक्षित ! जैसे भक्त भगवान की भक्ति करते हैं, वैसे ही भगवान भी भक्तों की भक्ति करते हैं । वे अपने दोनों भक्तों को प्रसन्न करने के लिए कुछ दिन मिथिलापुरी में ठहरे और उन्हें साधु-पुरुषों के मार्ग का उपदेश कर द्वारका लौट आए । श्रीकृष्ण के आदेश से श्रुतदेव ने उन ब्रह्मर्षियों की अनन्य भाव से आराधना की और उनकी कृपा से भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लिया । राजा बहुलाश्व को भी वही दुर्लभ गति प्राप्त हुई, जो श्रुतदेव को हुई ।

वेद-स्तुति

परीक्षित ने पूछा—'ब्रह्मर्षे ! आपने मुझे बतलाया है कि ब्रह्म कार्य और कारण से सर्वथा परे है । सत्व, रज और तम–ये तीनों गुण उसमें हैं ही नहीं । मन और वाणी से संकेत-रूप में भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता । समस्त श्रुतियों के विषय ये गुण ही हैं । ऐसी स्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किस प्रकार करती हैं ? क्योंकि निर्गुण वस्तु का स्वरूप तो उनकी पहुँच से बाहर है ।'

शुकदेवजी ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा—'परीक्षित ! परमेश्वर ने जीवों के लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों की सृष्टि की है। इनके द्वारा वे स्वेच्छा से धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष का अर्जुन कर सकते हैं। ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदें यद्यपि स्पष्टतः सगुण का निरूपण करती हैं, तथापि तात्पर्य निर्गुण ही निकलता है। इसे हमारे पूर्वजों के भी पूर्वज सनकादि ऋषियों ने आत्मनिश्चय के द्वारा धारण किया था। जो भी मनुष्य इन्हें श्रद्धापूर्वक धारण करता है, वह अनात्मभाव से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इस विषय में मैं तुम्हें एक प्राचीन गाथा सुनाता हूँ। वह गाथा देवर्षि नारद और ऋषिश्रेष्ठ नारायण का संवाद है—

एक समय देवर्षि नारद घूमते हुए बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ भगवान नारायण समस्त मनुष्यों के कल्याण के लिए महान तप में लीन थे। एक दिन वे ऋषियों की सभा में बैठे उन्हें उपदेश दे रहे थे। देवर्षि नारद ने वहाँ उनसे वही प्रश्न किया, जो आज मुझसे तुम कर रहे हो। भगवान नारायण ने उन्हें उत्तर दिया—'नारद ! प्राचीन काल में एक बार नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनक, सनन्दन, सनातन आदि परमऋषियों का ब्रह्मविषयक प्रवचन हुआ था। उस समय तुम मेरे अनिरुद्धरूप का दर्शन करने श्वेत द्वीप चले गए थे। ब्रह्म के विषय में उस समय बड़ी ही सुन्दर चर्चा हुई थी। यद्यपि सनत्कुमारादि चारों भाई आध्यात्मिक ज्ञान, तप और शीलस्वभाव में समान हैं, तथापि उन्होंने अपने में सनन्दन को वक्ता बना लिया और तीनों भाई श्रोता बनकर बैठ गए। तब सनंदनजी ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

'जिस प्रकार प्रातःकाल होने पर सोते हुए सम्राट को जगाने के लिए बंदीजन उसके पराक्रम और सुयश का गान करते हैं, वैसे ही जब परमात्मा सम्पूर्ण जगत को अपने आपमें लीन करके

अपनी शक्तियों सहित सोया होता है, तब श्रुतियाँ उसका प्रतिपादन करनेवाली इस प्रकार की वाणी से उसे जगाती हैं—

अजित ! आप ही सर्वशक्तिमान हैं, आपको कोई जीत नहीं सकता। आप समस्त ऐश्वर्यों से भरे-पूरे हैं, अतः चराचर प्राणियों को मोहनेवाली इस मया का आप ही शमन कीजिए। इसने जीवों को बांधने के लिए ही तीनों गुणों का आश्रय लिया है। जगत में जितनी भी साधना, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ हैं, उन सबको जगानेवाले एक आप ही हैं। इसलिए आपके मिटाये बिना यह माया मिट नहीं सकती। यद्यपि हम आपका स्वरूपतः वर्णन नहीं कर सकते, तथापि जब कभी माया द्वारा आप जगत को रचकर सगुण हो जाते हैं या स्वरूप-स्थिति की लीला करते हैं, अथवा श्रीविग्रह प्रकट कर क्रीड़ा करते हैं, तभी हम आपका यत्किंचित वर्णन कर पाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हम इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का भी वर्णन करते हैं ; परन्तु हमारी सारी ऋचाएँ इस सम्पूर्ण जगत को ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करती हैं। जैसे घट आदि सारे विकार मिट्टी से ही उत्पन्न होंगे और उसीमें विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय आपमें ही होता है। किन्तु आप पृथिवी के समान विकारी नहीं—वरन् एकरस निर्विकार हैं। इसलिए यह जगत आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत होता है। जैसे घटादि का वर्णन मिट्टी का वर्णन है, वैसे ही समस्त देवताओं का वर्णन भी वस्तुतः आपका ही वर्णन है। जैसे मनुष्य जहाँ कहीं भी पैर रक्खें वह पृथिवी पर ही पड़ेगा, वैसे ही हम जिस किसी भी नाम या रूप का वर्णन करें वह आपका ही वर्णन होगा।

भगवन् ! जीव तो माया-जनित शुभाशुभ भावों या क्रियाओं में उलझ जाया करता है ; परन्तु आप तो मायापति हैं। इसलिए विचारशील साधक आपकी लीला-कथा के अमृतसागर में गोते

लगाते रहते हैं और इस प्रकार अपने सारे पाप-संताप को नष्ट कर डालते हैं। पुरुषोत्तम ! वे धन्य हैं, जो महापुरुष आपके अखण्ड आनन्द-स्वरूप की अनुभूति में मग्न रहते हैं। जीवन की सफलता इसीमें है कि आपका भजन-सेवन और आपकी आज्ञा का पालन किया जाय।

प्रभो ! ऋषियों ने आपको पाने के अनेक मार्ग बतलाये हैं। जो भी आपके ज्योतिर्मय मार्ग को पा जाते हैं, उन्हें जन्म-मृत्यु के चक्कर में फिर नहीं आना पड़ता। भगवन् ! आपने ही देव, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनियाँ रची हैं। जैसे आग छोटी-बड़ी लकड़ियों के अनुसार प्रचुर अथवा अल्प परिमाण में या उत्तम-मध्यम रूप में प्रतीत होती है, वैसे ही सदा सर्वत्र सब रूपों में होते हुए भी आप कहीं उत्तम तो कहीं मध्यम रूप से प्रतीत होते हैं। इसलिए सन्तपुरुष कर्मों के फलों से विरक्त हो कर अपनी निर्मल बुद्धि से सत्य-असत्य और आत्मा-अनात्मा को पहचानकर जगत के मिथ्या रूपों में नहीं फँसते, वरन् समभाव से सबमें स्थित आपके सत्य स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं।

प्रभो ! जीव जिन शरीरों में रहता है, उनके कर्मों से उनका निर्माण होता है। पर वास्तव में वह उससे भिन्न है,क्योंकि वस्तुतः शरीरों की सत्ता है ही नहीं। तत्वज्ञानी पुरुष जीव को आपका ही स्वरूप मानते हैं। स्वरूप होने के कारण अंश न होने पर भी उसे, 'अंश' और निर्मित न होने पर भी 'निर्मित' कहते हैं। इसीसे बुद्धिमान पुरुष जीव के वास्तविक स्वरूप पर विचार कर, आपके चरणकमलों की ही उपासना करते हैं। भगवन् ! परमात्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। उसी परमतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए आप अवतार लेते हैं। यह शरीर जब आपके प्रेम-पथ का अनुगामी हो जाता है, तब आत्मा हितैषी और सुहृद के

समान आचरण करता है। आप जीव के सच्चे कल्याणकारी हैं। इतनी सारी अनुकूलता होते हुए भी लोग मनुष्य-शरीर पाकर आपकी उपासना नहीं करते और इस विनाशी असत् शरीर और उसके सम्बन्धियों में ही रम जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी सारी वृत्तियाँ एवं वासनाएं शरीर में ही लगी रह जाती हैं। उसके अनुसार उन्हें पशुपत्ती आदि के शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं और उनकी अधोगति हो जाती है। बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति भी योगसाधन द्वारा आपकी ही उपासना करते हैं। परन्तु उन्हें जो दुर्लभ पद मिलता है, उसीकी प्राप्ति उन शत्रुओं को भी हो जाती है, जो आपसे दृढ़ वैरभाव रखते हैं। स्त्रियाँ आपमें स्नेहभाव रखकर जिस परमपद को पाती हैं, वही पद हम श्रुतियों को भी प्राप्त होता है, यद्यपि हम सदा-सर्वदा आपके चरणारविन्दों का ही रसपान करती रहती हैं। भगवन्! आप अनादि और अनन्त हैं। जिसका जन्म और मृत्यु काल से सीमित है, वह भला आपको कैसे जान सकता है? कुछ लोग आत्मा को अनेक मानते हैं तो कितने ही लोग कर्म के द्वारा प्राप्त होने-वाले लोक और परलोक को सत्य मानते हैं। पर ज्ञानस्वरूप! आपमें तो किसी ऐसे भेदभाव को स्थान नहीं है।

यह त्रिगुणात्मक जगत तो मन की कल्पनामात्र है। यही नहीं, परमात्मा और जगत से पृथक प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पना-मात्र ही है। इस प्रकार असत होने पर भी आपकी सत्ता के कारण यह सत्य-सा प्रतीत हो रहा है। यह जगत आत्मा से ही कल्पित और आत्मा में ही व्याप्त है। इसलिए आत्मज्ञानी पुरुष सबको आत्मरूप से सत्य ही मानते हैं, जैसे सोने से बने हुए कड़े-कुण्डल आदि वस्तुतः स्वर्ण के ही रूप हैं। भगवन्! जो लोग यह समझते हैं कि आप समस्त प्राणियों और पदार्थों के अधिष्ठान हैं और सर्वात्मभाव से आपका भजन-सेवन करते

हैं, वे न केवल मृत्यु पर ही विजय प्राप्त कर लेते हैं वरन् दूसरों को भी पवित्र कर देते हैं। किंतु जो लोग आपसे विमुख हैं, उनकी दशा पशुवत हो जाती है और वे कर्म-बंधनों में ही फँसे रह जाते हैं।

आप परम दयालु हैं। आकाश के समान सबमें सम होने के कारण न तो कोई आपका अपना है, न पराया। आप परमसत्य तथा एकरस हैं। बाह्य दृष्टि से आप शून्य के समान जान पड़ते हैं, इसलिए यह नहीं जाना जा सकता कि आपका वास्तविक स्वरूप क्या है ? मतों में भी विभिन्नता है, इसलिए उससे भी आपके सच्चे स्वरूप का ज्ञान पा लेना सम्भव नहीं। सिद्धान्त यह है कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही अजन्मा हैं और उनके वास्तविक स्वरूप आप हैं। जैसे जल और वायु का संयोग होने से बुदबुदे बन जाते हैं, वैसे ही पुरुष और प्रकृति के संयोग से जीवों के विविध नाम और गुण हो जाते हैं। किंतु अन्त में जैसे समुद्र में नदियाँ और मधु में समस्त पुष्पों के रस समा जाते हैं, वैसे ही यह चराचर जगत और जीवसमुदाय आपमें ही लीन हो जाता है।

भगवन् ! सारे जीव आपकी माया से भ्रमित होकर अँधेरे में भटक रहे हैं और अपने आपको आपसे अलग मानकर जन्म-मृत्यु के चक्कर काट रहे हैं; परन्तु बुद्धिमान पुरुष इस भ्रम को अच्छी तरह समझकर भक्तिभाव से आपकी शरण ले लेते हैं। कालचक्र आपका भ्रू विलासमात्र है और यह उन्हींको भयभीत करता है, जो आपकी शरण नहीं लेते। जिन योगियों ने इंद्रियों और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी जब सद्गुरु की शरण न लेकर अपने चंचल चित्त को पूरी तरह वश में करने का प्रयत्न करते हैं, तब अपने साधनों में सफल नहीं होते। उनकी ठीक

वही दशा होती है, जैसी समुद्र में बिना कर्णधार की नाव पर पार करने वालों की।

प्रभो ! आप अखण्ड आनन्द-स्वरूप हैं और शरणागतों के सर्वस्व हैं। आपके रहते स्वजन, पुत्र, धन, देह आदि से क्या प्रयोजन ? जो लोग इस सत्य सिद्धान्त को न जानकर सांसारिक विषय-सुखों में हीं रमे रहते हैं, उन्हें वस्तुतः संसार की कोई भी वस्तु सुखी नहीं रख सकती; क्योंकि वे सभी नाशवान और सारहीन हैं।

जिन्होंने ऐश्वर्य, सम्पत्ति, विद्या और तप का भी अभिमान त्याग दिया है, वे सन्तपुरुष इस पृथिवीतल पर परम पवित्र और मूर्तिमान तरण-तारण तीर्थस्थान हैं। उनके हृदय में आप सर्वदा विराजमान रहते हैं। इसलिए उन सन्तपुरुषों का चरणामृत समस्त पापों और तापों को नष्ट कर देता है।

जब यह जीव माया से मोहित होकर अविद्या को अपना लेता है, तब वह नानाविध वृत्तियों और शरीरों में बँध जाता है और उन्हींकी सेवा करने लगता है। परन्तु प्रभो ! जैसे साँप अपने केंचुल से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही वस्तुतः आत्मा अविद्या से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यदि मनुष्य योगी-यति होकर भी अपने अंतर की विषयवासना को उखाड़ नहीं फेंकता तो उसके लिए आप दुर्लभ हैं, जैसे याद न रहने के कारण गले में पहने मणि को ही कोई इधर-उधर ढूँढ़ता फिरता है। जो साधक अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में ही लगा रहता है, विषयों से विरक्त नहीं होता, उसे दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है। भगवन् ! आपके वास्तविक स्वरूप को जाननेवाला पुरुष सुख-दुःख को नहीं जानता, वह भोग्य और भोक्तापन के भाव से ऊपर उठ जाता है। जिसे आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ, वह भी यदि प्रतिदिन आपकी

लीलाओं और गुणों को सुनकर आपको अपने हृदय में बैठा लेता है तो वह सुखों और दुःखों को पार कर जाता है।

भगवान नारायण ने कहा—'नारद ! इस प्रकार सनकादि ऋषियों ने आत्मा और ब्रह्म की एकता बतलानेवाला उपदेश सुन कर आत्मस्वरूप को जाना और नित्यसिद्ध होने पर भी उन्होंने सनंदन की पूजा की। ये ऋषि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए थे, अतः ये सबके पूर्वज हैं। उन्होंने समस्त वेद-पुराणों तथा उपनिषदों का सार यहाँ रख दिया है। तुम भी उन्हींके समान ज्ञान-सम्पति के अधिकारी हो, इसलिए श्रद्धा के साथ ब्रह्मविद्या को धारण कर स्वच्छन्द भाव से पृथिवी पर विचरण करो। यह विद्या समस्त कामनाओं को भस्म कर देनेवाली है।'

परीक्षित ! भगवान नारायण के इस परम कल्याणमय उपदेश को सुनकर देवर्षि नारद ने निवेदन किया—'भगवन् ! आपकी कीर्ति परम पवित्र है। आप केवल लोक-कल्याण के लिए ही अवतार ग्रहण किया करते हैं। मैं आपको बारबार नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार देवर्षि नारद भगवान नारायण तथा उनके ऋषि शिष्यों को प्रणाम कर मेरे पिता वेदव्यास के आश्रम पर आये। पिताजी ने उनका यथोचित सम्मान किया। उन्होंने भगवान नारायण के मुख से जो कुछ सुना था, वह उन्हें सुनाया।

राजन् ! मैंने तुम्हें बतलाया कि मन और वाणी से अगोचर तथा समस्त प्राकृत गुणों से अतीत परब्रह्म का वर्णन श्रुतियाँ किस प्रकार करती हैं। वास्तव में भगवान अभय-स्थान हैं, उनका चिंतन नित्य-निरन्तर करते रहना चाहिए।

भगवान शंकर पर संकट

राजा परीक्षित ने फिर शंका की—महर्षे ! भगवान शंकर ने समस्त भोगों का परित्याग कर दिया है; किंतु जो उनकी उपासना करता

है, वह ऐश्वर्य-सम्पन्न हो जाता है और भगवान विष्णु लक्ष्मीपति हैं, किंतु उनकी आराधना करनेवाला श्रीसम्पन्न नहीं होता। ये दोनों प्रभु जैसे त्याग और भोग की दृष्टि से विपरीत स्वभाववाले प्रतीत होते हैं वैसे ही उनके उपासकों को उनके स्वरूप के विपरीत ही फल मिलता है। मुझे बड़ी शंका है कि त्याग की उपासना से भोग और लक्ष्मीपति की उपासना से त्याग कैसे मिलता है? कृपाकर आप मेरा यह सन्देह दूर कीजिए।'

शुकदेवजी ने इस शंका का निवारण करते हुए कहा—'परीक्षित! शिवजी समस्त गुणों और शक्तियों से युक्त तथा अहंकार के अधिष्ठाता हैं। वैकारिक, तैजस और तामस अहंकार से दस इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन–ये सोलह विकार उत्पन्न हुए हैं। अतः इन सबके अधिष्ठाता देवताओं की उपासना करने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। परंतु भगवान विष्णु तो गुणों से रहित हैं। वे सर्वज्ञ तथा सबके हृदय में वास करनेवाले साक्षी हैं। अतः जो कोई उनका भजन करता है वह स्वयं ही गुणातीत हो जाता है। तुम्हारे दादा धर्मराज युधिष्ठिर ने भी भगवान श्रीकृष्ण से यही प्रश्न किया था, जिसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया था—

राजन्! जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसकी सारी सम्पदा हर लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तब उसके सगे-सम्बंधी उसका त्याग कर देते हैं। इस कारण उसका मन संसार से विरक्त हो जाता है और वह उधर से मुँह मोड़ लेता है। इसके बाद जब वह मेरे भक्तों का सहारा पकड़ लेता है, तब मैं उसपर अपनी अहैतुकी कृपा की वर्षा करता हूँ और उसे मेरी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मेरी प्रसन्नता और मेरी आराधना बहुत कठिन है इसीसे लोग मुझे छोड़कर मेरे अन्यान्य स्वरूपों की उपासना करते हैं। दूसरे देवता थोड़ी ही तपस्या से अपने भक्तों को साम्राज्य तक दे

डालते हैं। पर उसे पाकर प्रमाद ही बढ़ता है और कभी-कभी वे ही भक्त उन्मत्त होकर अपने वरदाता देवताओं का भी तिरस्कार कर बैठते हैं। अन्त में तो यह किसीके भी लिए हितकर नहीं होता और जीव को अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं।'

परीक्षित! ब्रह्मा, विष्णु और महेश—ये तीनों शाप और वरदान देने में समर्थ हैं; परन्तु उनमें ब्रह्मा और शिव शीघ्र ही शाप या वरदान दे डालते हैं, केवल विष्णु वैसा नहीं करते। इस विषय का एक इतिहास है कि किस प्रकार शिवजी एक बार वृकासुर को वरदान देकर संकट में पड़ गए थे।

प्राचीन काल में वृकासुर नाम का एक दैत्य था। वह शकुनि का पुत्र था। उसकी बुद्धि उलटी थी। वह भगवान शंकर की आराधना करने के विचार से केदार-क्षेत्र में गया और वहां अपनी देह के मांस से अग्नि में आहुति दे-देकर उनकी उपासना करने लगा। इस प्रकार छह दिन उपासना करते हुए भी जब उसे शिवजी के दर्शन नहीं हुए, तब सातवें दिन उसने अपना सिर काटकर भी हवन करना चाहा। अब जैसे लोग आत्महत्या करनेवाले को बचा लेत हैं वैसे ही भगवान शंकर ने भी अग्निकुण्ड से प्रकट होकर उसके हाथ पकड़ लिये और उसे सिर काटने से रोक दिया।

उनका स्पर्श होते ही उस असुर के अंग फिर ज्यों-के-त्यों हो गए। भगवान शंकर ने उससे कहा—'वृकासुर! मैं तुझे वर देना चाहता हूँ, तू मुँहमांगा वर माँग ले। मैं तो जल चढ़ाने मात्र से ही अपने भक्तों पर प्रसन्न हो जाया करता हूँ, तब तू अपने शरीर को क्यों पीड़ा दे रहा है?' उस असुर ने तब यह वर माँगा—'भगवन्! मैं यही मांगता हूँ कि जिसके सिर पर मैं हाथ रख दूँ वही भस्म हो जाय।' शंकर भगवान ने उसे यह वर दे डाला—सर्प को मानो अमृत पिला दिया।

उनके 'तथास्तु' कहने के साथ ही वह उस वरदान की परीक्षा लेने के लिए उन्हीं के सिर पर हाथ रखने को दौड़ा। शंकरजी अपने दिये वरदान से ही भयभीत होकर भागने लगे और दैत्य उनका पीछा करने लगा। इस संकट को टालने का कोई उपाय न देखकर वे वैकुण्ठ लोक को गए। भगवान विष्णु ने जब देखा कि शंकरजी तो बड़े संकट में पड़ गये हैं, तब वे अपनी योगमाया से ब्रह्मचारी का वेश धारण कर वृकासुर के सामने खड़े हो गये और बड़ी विनम्रता से उसे प्रणाम कर उन्होंने कहा—

'शुकुनिनन्दन! आप बहुत थके-से जान पड़ते हैं। सम्भव है, दूर से आ रहे हों, अतः तनिक विश्राम कर लीजिए। शरीर के लिए ही सारे सुखों की व्यवस्था की जाती है, इसलिए इसे अधिक कष्ट नहीं देना चाहिए। आप तो सभी प्रकार से समर्थ हैं, फिर भी यदि मेरे योग्य कोई काम हो तो बतलाइए।'

परीक्षित! भगवान की मीठी वाणी से प्रभावित होकर उसने क्रमशः अपनी तपस्या, वरदान-प्राप्ति और भगवान शंकर के पीछे दौड़ने की कथा कह सुनाई। उसकी सारी कहानी सुनकर भगवान ने उससे कहा—'दानवराज! हम तो शिव की बातों पर विश्वास नहीं करते। दक्षप्रजापति के शाप से वे पिशाचभाव को प्राप्त हो गये हैं। आप इतने बड़े होकर भी किस प्रकार उनकी बातों में आ गये। यदि आप अब भी उन्हें जगद्गुरु मानते हैं और उनकी बातों पर विश्वास करते हैं तो अपने सिर पर हाथ रखकर परीक्षा कर लीजिये ना! यदि उनकी बात असत्य निकले तो तुरन्त उन्हें मार डालिये, जिससे वे झूठ बोलकर और किसी सीधे-सादे को धोखा न दे सकें।'

परीक्षित! भगवान ने उसे इस तरह समझाया कि उसकी विवेक-बुद्धि जाती रही और उस दुर्बुद्धि ने अपने ही सिर पर हाथ रख लिया। हाथ का रखना था कि वरदान के प्रभाव से वह तत्काल

पृथिवी पर मरकर ऐसा गिरा, मानो उसपर बिजली आ गिरी हो। उस पापी की मृत्यु से देव, ऋषि और गंधर्व भगवान पर पुष्पवृष्टि करने लगे। जब इस प्रकार शंकरजी इस विकट संकट से मुक्त हो गए, तब भगवान विष्णु ने उनसे कहा—'देवाधिदेव! इस दुष्ट को इसके पापों ने ही नष्ट कर दिया। भला ऐसा कौन प्राणी है, जो महापुरुषों का अपराध कर कुशल से रह सके? फिर विश्वेश्वर! आपका अपराध करके कोई प्राणी सकुशल रह ही कैसे सकता है?'

भगवान विष्णु की श्रेष्ठता

परीक्षित! एक बार सरस्वती नदी के पावन तट पर यज्ञ करने के निमित्त बड़े-बड़े ऋषि-मुनि एकत्र हुए। उन लोगों में इस विषय पर वादविवाद चल पड़ा कि ब्रह्मा, शिव और विष्णु में सबसे बड़ा कौन है? इस विषय का निर्णय करने के विचार से उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और शिव की परीक्षा लेने के लिए महर्षि भृगु को उनके पास भेजा। भृगु सबसे पहले ब्रह्मा की सभा में गये और धैर्य की परीक्षा करने के विचार से उन्होंने न तो उन्हें नमस्कार ही किया और न उनकी स्तुति ही। अपनी यह अवहेलना देख-कर ब्रह्मा को क्रोध आ गया; पर उन्होंने देखा कि यह तो मेरा ही पुत्र है, तब उन्होंने क्रोध को मन ही में दबा लिया। भृगु उनकी यह बात जान गए और वहां से उन्होंने कैलाश की यात्रा की। भगवान शिव ने भृगु को जब वहाँ देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए और उनका आलिंगन करने के लिए उन्होंने अपनी भुजाएं फैलाईं। परन्तु महर्षि भृगु ने उनका आलिंगन नहीं किया और कटाक्ष करते हुए कहा—'तुम लोक और वेद की मर्यादा का उल्लंघन करते रहते हो, इसलिए मैं तुमसे नहीं मिलता। शंकर भगवान क्रोध से तिलमिला उठे और अपना त्रिशूल उठाकर मार

डालने को खड़े हो गए; परन्तु भगवती सती के बहुत अनुनय-विनय करने पर वे शांत हो गए।

अब महर्षि भृगु भगवान विष्णु के निवासस्थान में पहुँचे। उस समय भगवान अपनी शैया पर पौढ़े थे। भृगु ने जाते ही उनके वक्षस्थल पर एक लात मारी; पर विष्णु भगवान ने इसपर भी ध्यान नहीं दिया। लक्ष्मी के साथ भृगुजी को प्रणाम करके उन्होंने कहा—'स्वागत है आपका भूदेव! आप इस आसन पर थोड़ी देर विश्राम कीजिए। मुझे आपके शुभागमन का पता नहीं था, इसीसे मैं आपकी अगवानी भी न कर सका। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। मुनिवर! आपके चरणों का जल पवित्र करने-वाला है। आप अपने चरणोदक द्वारा वैकुण्ठलोक को और मुझे भी पवित्र कीजिए। मेरा वक्षस्थल अब सदा आपके चरणों के चिह्न से अंकित रहेगा।'

भगवान विष्णु की इस कोमल मधुर वाणी और विनय को सुनकर भृगुजी परम सुखी और तृप्त हो गए। भक्ति के उद्वेग से उनका गला भर आया और आँखों में आंसू छलक आए। वैकुण्ठ-धाम से लौट कर उन्होंने अपना सारा अनुभव ऋषियों को सुनाया। इससे मुनियों का रहा-सहा सन्देह भी जाता रहा और सब भगवान विष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगे। परीक्षित! भगवान विष्णु से ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और सुयश मिलता है। वे शान्ति और अभय के जनक हैं, साधु-संतों के एकमात्र परम गति हैं। निष्काम शान्त विवेकी पुरुष उन्हींकी उपासना करते हैं।

ग्यारहवाँ स्कन्ध

राजा निमि को नौ योगीश्वरों के उपदेश

कुरुनंदन ! देवर्षि नारद को भगवान श्रीकृष्ण के सान्निध्य में रहने की बड़ी लालसा रहती थी, इसलिए प्रातः वे द्वारका में ही रहा करते थे। एक दिन जब वे वसुदेवजी के यहाँ पधारे तब उन्होंने उनका समुचित सत्कार करके पूछा—'देवर्षे ! संसार में साधु-संतों का पदार्पण दीन-दुखियों के लिए बड़ा ही सुखकर और मंगलमय होता है। आप तो स्वयं भगवान के रूप ही हैं। आपका पर्यटन समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए ही होता है। जो लोग देवताओं का भजन करते हैं उन्हें देवता अनुरूप फल ही देते हैं; क्योंकि ये भी तो कर्म के अधीन ही हैं। परन्तु संतपुरुष दीन-वत्सल होते हैं। आप कृपया मुझे उन धर्मों का उपदेश कीजिए, जिनसे इस भयदायक संसार से मैं मुक्ति पा सकूँ। जन्म-मृत्यु के इस चक्र से मेरा छुटकारा हो जाय।'

देवर्षि ने वसुदेवजी का प्रश्न सुनकर कहा—'यदुवंश-शिरोमणि ! तुम्हारा यह निश्चय भागवतधर्म-विषयक है, जो सारे विश्व को पवित्र करनेवाला है। इस विषय में संतपुरुष एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह यह है—

नाभिपुत्र ऋषभदेव को शास्त्रों ने भगवान वासुदेव का ही अंश बताया है। मोक्षधर्म का उपदेश करने के लिए उन्होंने अवतार ग्रहण किया था। उनके पुत्र वेदों के पारदर्शी विद्वान थे। उनमें सबसे बड़े राजर्षि भरत भगवान के परम भक्त थे। ऋषभदेव के नौ पुत्र तो नौ द्वीपों के अधिपति और इक्यासी कर्मकांड

के रचयिता हुए। शेष नौ संन्यासी हो गए। वे सभी आत्मविद्या में महान निपुण और जीवनमुक्त थे। प्रायः वे दिगम्बर रहते और सत्पात्रों को परमार्थ वस्तु का उपदेश किया करते थे।

एक बार महात्मा निमि बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा एक महान-यज्ञ करा रहे थे। संयोगवश नौ योगीश्वर भ्रमण करते हुए उनके यज्ञ में जा पहुँचे। उन्हें देखते ही राजा निमि और सब याज्ञिक उनके स्वागतार्थ खड़े हो गये। विदेहराज निमि ने उन्हें योग्य आसनों पर बिठाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की। तदनन्तर राजा ने विनयपूर्वक बड़ी श्रद्धा से उनसे प्रश्न किया—'भगवन्! आप लोग भगवान के साक्षात पार्षद हैं। कहा गया है कि मनुष्य-शरीर पाना बड़ा दुर्लभ है। प्राप्त हो जाने पर भी इसे प्रतिक्षण मृत्यु का भय बना रहता है। अतः मैं आप लोगों से यह जानना चाहता हूँ कि परम कल्याण का स्वरूप और उसका साधन क्या हैं? यदि मैं सुनने का अधिकारी होऊँ तो कृपाकर मुझे उस परमधर्म का उपदेश करें।'

राजा निमि के उन योगीश्वरों से यह प्रश्न करने पर उनमें से प्रथम कवि ने उत्तर देते हुए कहा—'राजन्! भक्तों के हृदय से कभी दूर न होनेवाले अच्युत भगवान के चरणों की नित्य-निरन्तर उपासना ही जीव का आत्यन्तिक क्षेम है। इस संसार में यही परम कल्याणप्रद तथा सर्वथा निर्भय करनेवाला पुरुषार्थ है। देह, गेह आदि असत पदार्थों में अहंता और ममता हो जाने से जिनकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही हो, उनकी भी भगवदुपासना से इनसे निवृत्ति हो जाती है। अज्ञानी पुरुषों के लिए भी सुगमता से भगवान की प्राप्ति के जो सरल उपाय हैं, उन्हें ही भागवत-धर्म कहते हैं। इनके सहारे से मनुष्य कभी विघ्नों से पीड़ित नहीं होता। शरीर, वाणी, मन, इन्द्रियों और बुद्धि से जो भी कर्म किया जाय वह सब भगवान पुरुषोत्तम को समर्पित

कर देना चाहिए। परमेश्वर के अतिरिक्त वस्तुतः और कुछ है ही नहीं। परन्तु न होने पर भी इसकी प्रतीति उधर मन लगाने से ही होती है—जैसे स्वप्न के समय कल्पना से अथवा जाग्रत अवस्था में अनेक प्रकार के मनोरथों से एक विलक्षण ही सृष्टि दीखने लगती है। इसलिए विचारवान पुरुष को संकल्प-विकल्प करनेवाले इस मन को रोक लेना चाहिए। तब चित्त-वृत्तियों के निरोध से वह परमात्मा की प्राप्ति कर लेगा। भगवान की लीलाओं की बहुत-सी मंगलमयी कथाएं प्रसिद्ध है—उन्हें सदा सुनते रहना और उनके नामों का कीर्तन करते रहना चाहिए। प्रभु के नाम-कीर्तन से अनुराग का अंकुर उग आता है और चित्त द्रवित हो जाता है। जैसे भोजन करनेवाले को तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति एकसाथ ही होती है, वैसे ही जो मनुष्य भगवद्-भजन करने लगता है, उसे भजन के प्रत्येक क्षण में भगवान के प्रति प्रेम, उनके स्वरूप का अनुभव और अन्य वस्तुओं से वैराग्य हो जाता है और इन्हें पाकर वह परम शान्ति का अनुभव करने लगता है।

राजा निमि ने फिर प्रश्न किया—'योगीश्वर! अब आप कृपाकर भगवद्भक्त के लक्षण बतलाइए। उसके क्या धर्म हैं? उसका स्वभाव कैसा होता है और वह मनुष्यों के साथ कैसा आचरण करता है?'

इसपर योगीश्वर हरि ने उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'राजन्! परमात्मा सबमें नियन्ता रूप से स्थित हैं। जो सर्वत्र भगवत्सत्ता को ही देखता है और समस्त प्राणियों व पदार्थों को भगवत्स्वरूप ही अनुभव करता है, उसे परम प्रेमी उत्तम भक्त समझना चाहिए। विषयों के प्रति भगवान की माया समझकर जिसकी समदृष्टि रहती है और जो उनमें राग-द्वेष नहीं रखता—वह उत्तम भक्त है। जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा—ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रियों, मन और बुद्धि को

अभिभूत करते ही रहते हैं। भगवान की स्मृति में जो इतना अधिक तन्मय रहता है कि विषयों के बार-बार आक्रमण होते रहने पर भी उनसे मोहित नहीं होता, वह उत्तम भक्त है। जो अपने-पराये का भेद-भाव नहीं रखता, जो किसी भी घटना से विक्षिप्त न होकर सदा शान्त रहता है, वह भगवान का उत्तम भक्त है। भगवान के चरण-कमलों में जो नित्य-निरन्तर अनुरक्त रहता है और भगवत्स्मरण का तार कभी नहीं तोड़ता, वही श्रेष्ठ भक्त है। जो भगवान से प्रेम, भगवद्-भक्तों से मित्रता, दीन-दुखियों और अज्ञानियों पर कृपा-भाव तथा भगवान से द्वेष करनेवालों की उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटि का भक्त है और जो भगवान की पूजा-अर्चा आदि श्रद्धा-भावना से करता हैं; परन्तु भक्तों या दीन-दुखियों की विशेष सेवा-सुश्रूषा नहीं करता, वह साधारण भक्त है।

राजा निमि ने फिर प्रश्न किया—'महर्षे! भगवान की माया सबको मोहित कर देती है, उसे कोई पहचान भी नहीं पाता। मैं उस माया का स्वरूप जानना चाहता हूँ। अतः आप मुझे कृपा कर इस विषय का उपदेश कीजिए।'

तब तीसरे योगीश्वर अन्तरिक्ष ने कहा—'राजन्! अनिर्वचनीय होते हुए भी भगवान की माया के स्वरूप का निरूपण उसके कार्यों से ही किया जाता है। परमात्मा जिस शक्ति से सम्पूर्ण भूतों का कारण बनता है, अथवा पंचभूतों के द्वारा नाना प्रकार की सृष्टि करता है, उसीको माया कहते हैं। इस प्रकार पंच महाभूतों से बने हुए शरीरों में परमात्मा ने अन्तर्यामी रूप से प्रवेश किया और अपने आपको ही मन, पंच ज्ञानेन्द्रियों व पंच कर्मेन्द्रियों के रूपों में विभक्त कर दिया। अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रकाशित इस पंचभौतिक शरीर को ही आत्मा मानकर उसी-में आसक्त हो जाता है और कर्मेन्द्रियों द्वारा सकाम कर्म करता हुआ, कर्मों के शुभ या अशुभ होने के अनुसार, सुख-दुःख भोगता

हुआ इस संसार में भटकने लगता है—यही भगवान की माया है। इस प्रकार यह जीव अनेक कर्म-गतियों और अनेक फलों को पाता है और जन्म-मृत्यु के चक्र से उसका छुटकारा नहीं हो पाता—यही भगवान की माया है। जब महाप्रलय का समय आ जाता है तब पृथिवी पर लगातर वर्षों तक वर्षा नहीं होती और सूर्य की उष्णता इतनी बढ़ जाती है कि तीनों लोक जलने लग जाते हैं। उस समय भगवान संकर्षण के मुँह से अग्नि की प्रचण्ड लपटें निकलने लगती हैं और भयंकर वायु की प्रेरणा से वे लपटें पाताल से लेकर स्वर्ग तक को भस्म कर डालती हैं। इसके बाद मेघगण वर्षों तक हाथी की सूँड के समान मोटी-मोटी धाराओं की वर्षा करते रहते हैं। इस काल में पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश अपने तामस अहंकार में तथा मन सात्विक अहंकार में प्रवेश कर जाता है। इसके बाद अहंकार भी महत्तत्व में, महत्तत्व प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में लीन हो जाती है। उस समय विराट-पुरुष भी अपने ब्रह्माण्ड शरीर को छोड़कर अपने सूक्ष्म अव्यक्त तत्त्व में लीन हो जाता है। यही सृष्टि,-स्थिति और संहार करनेवाली भगवान की त्रिगुणात्मिका माया है।'

राजा निमि ने फिर प्रश्न किया—'महर्षे! जो लोग अपने मन को वश में नहीं कर पाये हैं, उनके लिए तो भगवान की माया का पार पाना अत्यन्त कठिन है। इसलिए आप कृपाकर मुझे यह बताने का कष्ट करें कि जिनकी बुद्धि मोटी है और जो अपने शरीर में ही आत्मबुद्धि रखते हैं, वे किस उपाय से सुगमतापूर्वक इसे पार कर सकते हैं?'

इसका उत्तर चौथे योगीश्वर प्रबुद्ध ने इस प्रकार दिया—'राजन्! सांसारिक बंधनों में बँधे हुए मनुष्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए बड़े-बड़े कर्म करते रहते हैं; किंतु उनके कर्मफल विपरीत ही होते हैं। कर्मों से सुख के बदले दिनोंदिन

उनके दुःख बढ़ते हैं और उन्हें शान्ति नहीं मिलती। जैसे एक तो धन को पाना ही कठिन है; यदि किसी पकार यह मिल भी जाय तो वह आत्मा के लिए मारक ही है। जो इसकी उलझन में पड़ जाता है, वह अपने-आपको भूल जाता है। इसी प्रकार गृह, स्वजन, सम्बन्धी, धन आदि अनित्य पदार्थ हैं। मरने के बाद मिलनेवाले लोक भी नाशवान हैं, क्योंकि वे भी कुछ कर्मों के सीमित फलमात्र हैं और कर्मों का फल पूरा हो जाने पर पुनः वहाँ से भी पतन होता है। इसलिए जो परमकल्याण का जिज्ञासु हो, उसे तत्वज्ञानी, अनुभवी, शान्तचित्त और व्यवहार-प्रपंच से दूर रहनेवाले सद्‌गुरू की शरण लेनी चाहिए। वह गुरु को ही अपना इष्टदेव माने और उसकी सेवा में रहकर भगवद्-भक्ति के साधनों की शिक्षा ग्रहण करे। अनासक्ति तथा सब प्राणियों के प्रति दया, मैत्री और विनय आदि सद्‌गुणों का अभ्यास करे। बाहरी और भीतरी पवित्रता, अपने धर्म का अनुष्ठान, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में हर्ष-विषाद-रहित होना सीखे। वह सभी वस्तुओं में नित्यता-रूप ईश्वर को देखने, एकान्तसेवन, जो कुछ मिल जाय उसीमें संतोष करने, शास्त्रों में श्रद्धा, मन और वाणी का संयम रखने, सत्य-भाषण, भगवान की लीलाओं का श्रवण-कीर्तन और ध्यान तथा यज्ञ, दान, तप, जप और सदाचार के विधिपूर्वक पालन करने का अभ्यास करे। इस प्रकार का अनुष्ठान करते-करते प्रेमा भक्ति का उदय हो जाने से साधक के हृदय की विलक्षण स्थिति हो जाती है। जिसे प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है, वह भग-वत्परायण होकर उनकी माया को अनायास ही पार कर जाता है।'

राजा निमि ने पुनः प्रश्न किया—'महर्षियो! आप लोग परमात्मा का वास्तविक स्वरूप जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इस-लिए मुझे अब यह बतलाइए कि जिस परब्रह्म का 'नारायण' नाम

से वर्णन किया जाता है, उसका स्वरूप क्या है ?'

पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायन ने राजा निमि के इस प्रश्न का यह उत्तर दिया—'राजन् ! जो इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के निमित्त और उपादान दोनों ही कारण हैं और स्वयं कारणरहित होते हुए भी बननेवाला और बनानेवाला भी है ; जो स्वप्न, जाग्रत तथा सुषुप्ति इन तीनों ही अवस्थाओं में साक्षी-रूप से विद्यमान रहता है और इनके अतिरिक्त समाधि में भी ज्यों-का-त्यों एकरस रहता है ; जिसकी सत्ता से ही शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपना-अपना काम करने में सक्षम होते हैं, उसी परम सत्य-वस्तु को आप नारायण समझें। जिस प्रकार चिनगारियाँ न तो अग्नि को प्रकाशित ही कर सकती हैं और न जला ही, वैसे ही उस आत्मस्वरूप में न तो मन की गति है और न वाणी की। नेत्र उसे देख नहीं सकते और बुद्धि उसे सोच नहीं सकती। श्रुतियाँ भी उसका रूप-वर्णन नहीं करतीं, बल्कि उसका बोध करानेवाले जितने भी साधन हैं उनके तात्पर्य का मूल बतला देती हैं। जब सृष्टि नहीं थी, तब केवल एक वहही था। सृष्टि का निरूपण करने के लिए, उसीका 'त्रिगुणात्मिका' प्रकृति कहकर वर्णन किया गया है। फिर उसीको ज्ञानप्रधान होने से महत्तत्त्व, क्रिया-प्रधान होने से सूत्रात्मा और जीव की उपाधि होने से अहंकार के रूप में वर्णन किया गया है। वास्तव में जितनी भी शक्तियां हैं, वे सब ब्रह्मरूप ही हैं। जो कुछ दृश्य-अदृश्य, कार्य-कारण, सत्य और असत्य है—सभी ब्रह्म है। वह ब्रह्मरूप आत्मा न तो कभी जन्म लेता है, न मरता है। जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं—चाहे वे क्रिया, संकल्प और उनके अभाव के रूप में ही क्यों न हों—सबकी भूत, भविष्यत् और वर्तमान सत्ता का वही साक्षी है। वह सबमें या सब होता हुआ भी देश, काल, वस्तु से अपरिछिन्न और अविनाशी है। जैसे प्राण तो एक ही रहता

है; परन्तु स्थान-भेद से उसके अनेक नाम हो जाते हैं—वैसे ही ज्ञान एक होने पर भी इंद्रियों के सहयोग से उसमें अनेकता की कल्पना की जाती है। जगत में अनेक प्रकार के जीव हैं, किंतु भिन्न-भिन्न शरीरों के होते हुए भी प्राण सबमें एक ही रहता है। सुषुप्ति की अवस्था में जब इंद्रियां निश्चेष्ट हो जाती हैं, उस समय यदि कूटस्थ आत्मा भी न हो तो इस बात का पीछे स्मरण ही कैसे हो कि 'मैं सुख से सोया था।' बाद में होनेवाली यह स्मृति ही उस समय आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। भगवद्-भक्ति चित्त के समस्त मलों को जला डालती है। चित्त के परिशुद्ध होने पर आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है—नेत्रों के निर्विकार हो जाने पर सूर्य के प्रकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।'

इसके बाद राजा निमि ने उन ऋषियों से निवेदन किया—'योगीश्वरो ! अब कृपाकर मुझे आप कर्मयोग का उपदेश कीजिए।'

इसपर छठे योगीश्वर आविर्होत्र ने कहा—'राजन् ! कर्म (शास्त्रविहित) अकर्म (निषिद्ध) और विकर्म (विहित कर्म का उल्लंघन) ये तीनों एकमात्र वेद के द्वारा ही जाने जाते हैं। वेद अपौरुषेय, ईश्वररूप हैं। इसलिए वेद का तात्पर्य निश्चय करना अत्यन्त कठिन है। वेद के शब्दार्थ और तात्पर्यार्थ में अन्तर होता है। यह कर्मों की निवृत्ति के लिए कर्म का ही विधान बतलाता है। जैसे बालक को मिठाई आदि का लोभ देकर औषधि खिलाते हैं, वैसे ही यह अज्ञानियों को स्वर्गादि का लोभ देकर श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्त करता है। जो अज्ञानी है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह यदि वेदोक्त कर्मों का परित्याग कर देता है तो विहित कर्मों का आचरण न करने से वह अधर्म ही करता है और मृत्यु के बाद फिर मृत्यु को प्राप्त होता है। किन्तु फल की अभिलाषा छोड़-

कर जो वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, उसे ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है। इसलिए वेदों में स्वर्गादि-रूपी फलों का वर्णन कर्मों में रुचि उत्पन्न कराने के लिए ही है। राजन्! जो हृदय-ग्रन्थि खुल जाने की इच्छा करता है उसे वैदिक और तान्त्रिक पद्धतियों से परमेश्वर की आराधना करनी चाहिए। पहले गुरु से दीक्षा लेकर अनुष्ठान की विधि सीखे, फिर भगवान की जो भी मूर्ति प्रिय लगे, उसीकी पूजा करे। जो इस प्रकार निष्ठापूर्वक पूजा करता है वह शीघ्र ही इस भव-बन्धन को काट देता है।

फिर राजा निमि ने पूछा—'योगीश्वरो! भगवान भक्तों के अधीन होकर अनेक अवतार ले-लेकर विविध लीलाएं करते हैं। अब आप कृपाकर उन लीलाओं का वर्णन कीजिए।'

तब सातवें योगीश्वर द्रुमिल ने कहा—'राजन्! भगवान अनन्त हैं और उनके गुण भी अनन्त हैं। जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणों को गिन लूँगा वह मूर्ख है। भगवान ने पंचभूतों को रचा है। जब वे पंचभूतों से विराट् ब्रह्माण्ड को रचकर उसमें अपने अंश-रूप से प्रवेश करते हैं, तब उस आदिदेव नारायण को विराट् पुरुष नाम से पुकारा जाता है और वही उनका पहला अवतार है। उन्हींके इस विराट् ब्रह्माण्ड शरीर में तीनों लोक स्थित हैं। उन्हींकी इन्द्रियों से समस्त देहधारियों की इन्द्रियाँ बनी हैं। उनके स्वरूप से ही ज्ञान का संचार होता है। उनके श्वास-प्रश्वास से सब शरीरों में बल है, तथा इन्द्रियों में कर्म करने की क्षमता आ जाती है। उन्हींके सत्व आदि गुणों से संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। जगत् की उत्पत्ति और पालन के लिए उनके अंश से ब्रह्मा तथा विष्णु हुए और उन्होंने ही इसके संहार के लिए रुद्र का नाम ग्रहण किया।

दक्ष प्रजापति की एक कन्या का नाम मूर्ति था। वह धर्म की पत्नी थी। उसके गर्भ से भगवान ने 'नर' और 'नारायण' के

रूप में जन्म लिया। नर-नारायण ने परमात्मा की आराधना के ही कर्म का उपदेश किया, जो वास्तव में कर्मबन्धन से छुड़ानेवाला, और नैष्कर्म्य स्थिति को दिलानेवाला है। वे आज भी बदरिकाश्रम में उसी कर्म का आचरण कर रहे हैं। इन्द्र ने अपने पदच्युत होने की आशंका से जब उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए कामदेव को भेजा तब इन्द्र का कुचक्र जानकर आदिदेव नर-नारायण ने कामदेव से हँसकर कहा—

'काम ! तुम हमारा आतिथ्य स्वीकार करो और यहीं ठहरो।' उनके इस मधुर सम्भाषण से कामदेव का सिर स्वयं लज्जा से झुक गया। उसने कहा—'प्रभो ! आप माया से परे और निर्विकार हैं। बड़े-बड़े आत्माराम निरन्तर आपके चरणकमलों में प्रणाम करते रहते हैं। आपके भक्त आपकी भक्ति के प्रभाव से ही परमपद का लाभ करते हैं। अतः जब वे भजन करने लगते हैं तो देवता तरह-तरह से उनकी साधना में विघ्न डालने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु जो यज्ञादि द्वारा उनका भाग देते रहते हैं, उनका अनिष्ट वे नहीं करते। भक्तजन उन विघ्नों की चिन्ता नहीं करते और न अपने मार्ग को छोड़ते हैं। बहुत से लोग भूख-प्यास और गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों के असह्य कष्टों को भी सह लेते हैं; किन्तु इतना कुछ कर लेने के बाद भी क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं और इसके फेर में पड़कर अपने कठिन तप को खो बैठते हैं। आपने इस परमशत्रु क्रोध को जीत लिया है। मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

कामदेव की स्तुति सुनकर भगवान ने उसे स्वर्ग चले जाने का आदेश दिया। वहाँ उसने इन्द्र की सभा में जाकर जब उनकी महिमा का प्रसन्न चित्त से वर्णन किया, तब इन्द्र बड़ा चकित हुआ।

इसी प्रकार भगवान ने जगत् के कल्याणार्थ राम, कृष्ण आदि अनेक कलावतार ग्रहण किये हैं।

राजा निमि ने तब प्रश्न किया—योगीश्वरो ! अब आप कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि जिनकी काम-वासनाएं शान्त नहीं हुई हैं, मन और इन्द्रियाँ भी जिनके वश में नहीं हैं और जो प्रायः भगवान का भजन नहीं करते—ऐसे लोगों की क्या गति होती है ?'

तब आठवें योगीश्वर चमस ने उत्तर देते हुए कहा—'राजन् ! जो मनुष्य भगवान का भजन नही करते, उलटा उनका अनादर करते हैं, उनका अधःपतन हो जाता है। जो वेदों का असली तात्पर्य न समझकर अर्थवाद के फेर में ही पड़े रहते हैं, उन्हें कर्म का सच्चा रहस्य मालूम नहीं होता और मूर्ख होने पर भी वे पाण्डित्य का अभिमान करते हैं। वे भगवद्भक्तों की हँसी उड़ाया करते हैं और यदि यज्ञादि भी करते हैं तो अहंभाव से ही। वे धन, वैभव, कुलीनता, विद्या, दान, सौन्दर्य और बल के गर्व में अन्धे बने फिरते हैं। धन का एकमात्र फल है धर्म, क्योंकि धर्म से ही परमतत्व का ज्ञान और उसकी निष्ठा सिद्ध होती है तथा निष्ठा में ही परम शान्ति निहित है। यह शरीर मृतक शरीर है। इसके स्वजन-सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं। जो लोग इस शरीर से तो प्रेम की गाँठ जोड़ते और आत्मा से द्वेष करते हैं उन मूर्खों का अधःपतन निश्चित है। जो अर्थ, धर्म और काम के पुरुषार्थों में ही फँसे रहते हैं, उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिलती। काल सदा उनके मनोरथों पर पानी फेरता है। उनके अन्तर का विषाद भी मिटने का नहीं। राजन् ! जो लोग अन्तर्यामी भगवान से विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके धन-संपत्ति का संग्रह करते हैं; पर अंत में स्वजन-सम्बन्धियों सहित उसे यहीं छोड़कर उन्हें नरकवास करना पड़ता है।'

राजा निमि ने अब यह अन्तिम प्रश्न किया—'योगीश्वरो! किस समय, किन नामों तथा किन विधियों से भगवान की उपासना की जाती है?'

नवें योगीश्वर करभाजन ने उत्तर दिया—'राजन्! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग हैं। सत्ययुग के मनुष्य बड़े शांत, परस्पर वैर-रहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे तपस्या द्वारा हंस, धर्म, ईश्वर, अव्यक्त और अमल आदि नामों का अवलम्बन कर परमात्मा की आराधना करते हैं। त्रेतायुग के मनुष्य धर्म में बड़ी निष्ठा रखनेवाले और वेदों के अध्ययन-अध्यापन में प्रवीण होते हैं। वे विष्णु, यज्ञ, पृष्णिगर्भ आदि नामों से भगवान के गुणों और लीलाओं का कीर्तन करते हैं। द्वापर के मनुष्य भगवान की वैदिक और तान्त्रिक विधि से आराधना करते हैं। कलियुग के मनुष्य भगवान के नाम, लीला और गुणों का कीर्तन कर आराधना करते हैं। कलियुग में केवल संकीर्तन से ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं। इसलिए इस युग के इस अनुपम गुण को जाननेवाले इसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। भगवत्-संकीर्तन से परमशांति का अनुभव होता है। जो लोग कर्मवासना और भेद-बुद्धि को छोड़कर भगवान की शरण में आ जाते हैं, वे देवताओं, ऋषिओं और पितरों से उऋण हो जाते हैं।'

नारदजी कहते हैं—'वसुदेवजी! मिथिलानरेश राजा निमि उन नौ योगीश्वरों से इस प्रकार भागवतधर्मों का वर्णन सुनकर बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने उनका भक्तिपूर्वक पूजन किया। राजा निमि को उन धर्मों के आचरण से परम गति प्राप्त हुई।

परीक्षित! देवर्षि नारद के मुख से यह सब सुनने से वसुदेव और देवकी के मन में जो-कुछ माया-मोह शेष रह गया था, उसे भी उन्होंने छोड़ दिया।

यदुवंशियों को ब्रह्मशाप

शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! यह जानकर कि भगवान श्रीकृष्ण के महाप्रस्थान का समय निकट आ गया है, सनकादिकों और प्रजापतियों के साथ ब्रह्माजी, भूतगणों के साथ सर्वेश्वर शिवजी और मरुद्गणों के साथ देवराज इन्द्र द्वारकापुरी में आये। द्वारकापुरी में उन्होंने भगवान का दर्शन कर इस प्रकार स्तुति की—'प्रभो ! कर्मों के बन्धन से छूटने की इच्छा करनेवाले मुमुक्षुजन भक्तिभाव से अपने हृदय में जिसका चिन्तन करते रहते हैं, आपके उन्हीं चरणकमलों की हम लोग आज वन्दना करने आये हैं। आप माया के द्वारा संसार का सृजन, पालन और संहार करते हैं; पर उसमें लिप्त नहीं होते, क्योंकि आप राग-द्वेषादि दोषों से सर्वथा मुक्त हैं। जिन लोगों की चित्तवृत्ति इनसे कलुषित है, उनकी उपासना, ध्यान-तप और यज्ञादि कर्मों से वैसी शुद्धि नहीं हो सकती, जैसी कि आपकी लीला-कथा तथा यशोगान सुनने से होती है। आपके ये चरणकमल साधुस्वभाव पुरुषों के लिए वैकुण्ठ-प्राप्ति और दुष्टों के लिए अधोगति का कारण हैं। प्रभो ! आप प्रकृति, पुरुष और महत्तत्व का नियंत्रण करनेवाले काल हैं। आपकी गति अबाध है। आप चराचर जगत के अधीश्वर हैं। मननशील मुमुक्षुजन मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिन्हें हृदय में धारण करते हैं, उपासना करनेवाले भक्तजन ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए जिनका पूजन करते हैं, जितेन्द्रिय पुरुष परमधाम में स्थान पाने के लिए जिनकी आराधना करते हैं, योगीजन जिनके ध्यान में अनुरक्त रहते हैं और जिनको प्रेमी भक्त अपना आराध्यदेव मानते हैं, वे ही आपके पद-सरोज हमारी अशुभ वासनाएं नष्ट करने के लिए अग्नि-स्वरूप हों।'

परीक्षित ! देवताओं के इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति

करने के पश्चात ब्रह्मजी ने कहा—'प्रभो ! पहले हमने आपसे अवतार लेकर पृथिवी का भार उतारने के लिए प्रार्थना की थी। वह काम हमारी प्रार्थना के अनुरूप ही आपने पूरा कर दिया और साधु पुरुषों के कल्याणार्थ धर्म की स्थापना की। नाथ ! यदुवंश में अवतार लिये आपको एक सौ पच्चीस वर्ष बीत गये हैं। अब हम लोगों का ऐसा कोई काम शेष नहीं रहा है, जिसे पूरा करने के लिए आपके यहाँ रहने की आवश्यकता हो। इसलिए यदि आप उचित समझें तो अपने परमधाम में पधारें।'

भगवान श्रीकृष्ण ने ब्रह्माजी से कहा—'आप जैसा कहते हैं, मैं पहले से ही वैसा निश्चय कर चुका हूं। परन्तु अभी यदुवंशी अपने बल, वीर्य और धन-सम्पत्ति से उन्मत्त हो रहे हैं। यदि मैं इन्हें नष्ट किये बिना ही चला जाऊँगा तो ये सारे लोक का संहार कर डालेंगे। अतः इनका भी अन्त करके मैं इस लोक से महाप्रस्थान करूँगा।'

देवताओं सहित ब्रह्माजी के चले जाने पर भगवान श्रीकृष्ण ने सोचा —'मेरे आश्रित ये यदुवंशी किसीसे भी पराजित नहीं हो सकते। अतः बाँस के वन में परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि के समान इनमें कलह पैदा कर देना ही उचित होगा। इसलिए ब्राह्मणों के शाप के बहाने अपने ही वंश का संहार कराकर सब-को निज धाम में ले जाने का उन्होंने निश्चय किया।

परीक्षित ने पूछा—'भगवन् ! यदुवंशी बड़े उदार, भक्त तथा कुलवृद्धों की नित्य-निरन्तर सेवा करनेवाले थे। उनका चित्त तो सदा भगवान में ही लगा रहता था। फिर उनसे ब्राह्मणों का अपराध कैसे हुआ ? ब्राह्मणों ने उन्हें क्यों शाप दिया ? उनमें फूट कैसे हुई ? यह सब कृपाकर मुझे बतलाइये।'

शुकदेवजी ने इस शंका का उत्तर देते हुए कहा—'परीक्षित ! भगवान श्रीकृष्ण ने इस पृथिवी पर मंगलमय कल्याणकारी कर्मों

का ही आचरण किया था। अब पृथिवी का भार उतारने में केवल अपने वंश का संहार-कार्य ही शेष रह गया था—इसलिए उन्होंने इसकी भी इच्छा की। उनके द्वारका में रहते समय कुछ बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी द्वारका के पास ही रहने लगे थे। एक दिन यदुवंश के कुछ उद्दण्ड कुमार खेलते-खेलते उनके एक आश्रम के पास जा निकले। वे जाम्बवतीनन्दन साम्ब को स्त्री के वेश में सजाकर वहाँ ले गये और बनावटी नम्रता से प्रणाम करके उनसे प्रश्न किया—

'ऋषियो! यह गर्भवती है। आप सर्वज्ञ हैं। इसलिए यह आपसे एक बात पूछना चाहती है; परन्तु स्वयं पूछने में सकुचाती है। कृपाकर आप इसे बता दीजिये कि यह कन्या जनेगी या पुत्र? इसे पुत्र की बड़ी कामना है।'

उन कुमारों ने ऋषि-मुनियों को जब इस प्रकार धोखा देना चाहा, तब वे क्रोधित हो उठे और उन्होंने उनसे कहा—'मूर्खो! यह एक ऐसा मूसल पैदा करेगी, जो तुम्हारे कुल का नाश करने-वाला होगा।'

ऋषि-मुनियों की यह भविष्यद्वाणी सुनते ही वे यदुवंशी कुमार बहुत डर गए। जब उन्होंने साम्ब के पेट पर बँधी पट्टी खोली तो देखा कि सचमुच ही उसमें लोहे का एक मूसल बँधा है, तब वे और भी घबराए। उस मूसल को वे महाराजा उग्र-सेन की सभा में ले गए। वहां उन्होंने सारी कहानी सुनाई और यादवों के सामने वह मूसल भी रख दिया। जब यादवों ने ऋषियों के शाप की बात सुनी और उस मूसल को प्रत्यक्ष अपनी आँखों के सामने देखा तो उनके भय और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

महाराजा उग्रसेन की आज्ञा से उस मूसल का चूर्ण बनाकर उसके कण और बचे हुए टुकड़ों को समुद्र में फेंकवा दिया गया।

पर वह ब्रह्म-शाप कभी झूठा होनेवाला थोड़े ही था ? उस लोहे के टुकड़े को एक मछली निगल गई और चूर्ण समुद्र की तरंगों के साथ किनारे आ लगा। वह वहाँ थोड़े ही दिनों बाद 'एरक' के रूप में उग आया। मछुओं ने समुद्र में अन्य मछलियों के साथ उस मछली को भी पकड़ लिया, जिसके पेट में वह लोहे का टुकड़ा था। लोहे के उस टुकड़े को 'जरा' नाम के व्याध ने अपने बाण की नोक में लगा लिया। भगवान यह सब कुछ जानते थे; पर उन्होंने ब्राह्मणों के शाप का अनुमोदन ही किया।

द्वारकापुरी में बड़े-बड़े अपशकुन होने लगे। उन्हें देख-देखकर यदुवंश के वयोवृद्ध पुरुष जब श्रीकृष्ण के पास आये तो उनसे उन्होंने कहा—'गुरुजनो! आप लोग जानते ही हैं कि ऋषियों ने हमारे वंश को ऐसा शाप दे दिया है, जिसे टालना अत्यन्त कठिन है। हम लोगों को तो द्वारका छोड़कर अब प्रभासक्षेत्र को चलना चाहिए। वहाँ हम लोग पितरों का तर्पण और श्रेष्ठ ब्राह्मणों का पूजन करेंगे। इन शुभ कार्यों से ही हम इन संकटों से पार होने की कुछ आशा कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।'

यदुवंशियों ने एकमत से प्रभासक्षेत्र जाने का निश्चय किया।

श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद

उद्धवजी श्रीकृष्ण के सच्चे प्रेमी और सेवक थे। उन्होंने जब द्वारका में बहुतेरे अपशकुन होते देखे, तब भगवान श्रीकृष्ण के पास जाकर इस प्रकार प्रार्थना की—'योगेश्वर! आप देवाधिदेवों के भी अधीश्वर हैं। यदि आप चाहते तो ब्राह्मणों के इस शाप को मिटा सकते थे; किंतु आपने ऐसा नहीं किया। इससे मैं समझता हूँ कि अब आप यदुवंश का संहार करके ही इस लोक से महाप्रस्थान करेंगे। परंतु मैं क्षण भर के लिए भी आपके चरण-कमलों के त्याग की बात सोच नहीं सकता। आप मुझे भी अपने धाम साथ

ही ले चलिए। आप मेरे प्रियतम और आत्मा हैं, मैं आपको कैसे छोड़ सकता हूँ ? मैं जानता हूँ कि माया को पार कर लेना अत्यंत कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि अध्यात्मविद्या प्राप्त करने के लिए जब कठिन साधना करते हैं, तब कहीं वे आपका परमधाम पाते हैं, किंतु मैं तो कर्म-मार्ग में ही भटक रहा हूँ। फिर भी भक्तजनों के साथ आपके गुणों और लीलाओं की चर्चा तथा आपने जो कुछ कहा है उसका स्मरण और कीर्तन मैं करता रहूँगा।'

परीक्षित ! उद्धव को आश्वासन देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'उद्धव ! मैं वही करना चाहता हूँ, जो तुमने मुझसे कहा है। पृथिवी पर जितना काम करना था, मैं उसे पूरा कर चुका। अब यह यदुवंश आपस की फूट से नष्ट हो जानेवाला है। आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारकापुरी को डुबो देगा। जिस दिन मैं मर्त्यलोक छोड़ दूँगा, उसी दिन यहाँ कलियुग का प्रवेश हो जायगा। अतः जब मैं इस पृथिवी को छोड़ दूं, तब तुम अपने आत्मीय स्वजन, बंधु-बान्धवों का स्नेह-बंधन तोड़कर अनन्य प्रेम से, मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्ट हो पृथिवी पर विचरण करना। इस जगत की सभी वस्तुएँ नाशवान हैं। इन्हें मिथ्या समझकर इनमें आसक्ति मत रखना। पहले तुम अपनी इंद्रियों को वश में कर लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि 'यह सारा जगत मुझ सर्वात्मा ब्रह्म में ही स्थित है।' जिसने श्रुतियों के तात्पर्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह समस्त प्राणियों का हितैषी होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शांत रहती हैं। वह समस्त विश्व को मेरा ही स्वरूप देखता है; इसलिए उसे फिर कभी जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता।'

भगवान का यह उपदेश सुनकर तत्वज्ञान पाने की जिज्ञासा से उद्धव ने कहा—'भगवन् ! आप ही योगों के कारण और योगेश्वर हैं; मेरे परम-कल्याण के लिए आपने मुझे त्याग का

उपदेश किया है। पर जो विषयों के सेवन और चिन्तन से विष-यात्मा हो गये हैं, उनके लिए तो विषय-भोगों और कामनाओं का त्याग अत्यंत कठिन है। उनमें भी जो आपसे विमुख हैं, उनके लिए तो इनका त्याग सर्वथा असम्भव-सा ही है। मेरी मति भी इतनी मूढ़ हो गई है कि 'मैं' और 'मेरेपन' के भाव तथा स्त्री, पुत्र और धन की ममता में मैं डूब रहा हूँ। अतः आपने जिस संन्यास-मार्ग का उपदेश किया है, उसे मुझे इस प्रकार सम-झाइये कि मैं सुगमता से उसको साध सकूँ।'

भगवान ने कहा—'उद्धव! संसार में जो मनुष्य विचार करने में निपुण हैं, वे अशुभ वासनाओं से अपने आपको प्रायः विवेक-शक्ति द्वारा बचा लेते हैं। आत्मा ही मनुष्य का एक गुरु और उसके हित और अहित का उपदेशक है, क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमान से अपने हित-अहित का निर्णय भली-भांति कर सकता है। मैंने जिन अनेक प्रकार के शरीरों को रचा है, उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्य-शरीर ही लगता है। मनुष्य-शरीर में ही बुद्धि से ईश्वर का साक्षात् अनुभव किया जाता है। इस विषय में महात्मा लोग एक प्राचीन इतिहास कहते हैं। वह इतिहास परमतेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदु के संवाद के रूप में है। उसे तुम ध्यान देकर सुनो।

दत्तात्रेयजी के चौबीस गुरु

एक बार धर्म के मर्मज्ञ राजा यदु ने एक अवधूत महात्मा को निर्भय विचरते हुए देखकर पूछा—ब्रह्मन्! आप कोई कर्म तो करते नहीं, फिर यह अत्यन्त निर्मल बुद्धि आपको कैसे प्राप्त हुई, जिसके बल पर पूर्ण विद्वान होते हुए भी आप एक बालक के समान पृथिवी पर विचरते हैं? मनुष्य आयु, यश, सौन्दर्य और धन-सम्पत्ति की ही इच्छा से धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्व-जिज्ञासा में प्रवृत्त

होते हैं। अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति इनमें नहीं देखी जाती ; पर मैं देख रहा हूँ कि कर्म करने में सक्षम, विद्वान, निपुण और सुन्दर होते हुए भी आप जड़ और उन्मत्त के समान विचरण कर रहे हैं। संसार के अधिकांश लोग काम और लोभ के वश होकर कष्ट पा रहे हैं, पर आप तो जीवनमुक्त प्रतीत होते हैं। कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि आपको अपने आत्मा में ही परमानन्द का अनुभव कैसे होता है ?'

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजी ने प्रसन्न मुद्रा में उत्तर दिया—'मैंने अपनी बुद्धि से जिन अनेक गुरुओं का सहारा लिया है, उनसे मूक उपदेश लेकर मैं मुक्तभाव से इस जगत में स्वच्छन्द विचरता हूं। मेरे गुरुओं के नाम हैं पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, मधु निकालने वाला, हरिण, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुंआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट। मैंने जो-जो इन गुरुओं से सीखा है, वह सब तुम्हें सुनाता हूं।

मैंने पृथिवी से धैर्य और क्षमा की शिक्षा ली है। लोग पृथिवी पर कितना आघात और उत्पात करते रहते हैं ; पर न तो यह किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। प्राणी जान या अनजान में एक-दूसरे का अपकार कर ही डालते हैं। धीर-पुरुष को चाहिए कि दूसरे की विवशता को समझकर वह न तो अपना धीरज खोवे और न किसी पर क्रोध ही करे। जैसे पर्वत और वृक्षों की सारी प्रवृत्तियाँ सदा दूसरों के हित के लिए ही होती हैं, वैसे ही साधु पुरुषों को सदा परोपकार में निरत रहना चाहिए।

प्राणवायु से मैंने यह शिक्षा ली है कि जैसे वह आहारमात्र की इच्छा रखता है और उसके प्राप्त हो जाने से ही सन्तुष्ट हो

जाता है, वैसे ही साधक को चाहिए कि जितने से काम चल जाय उताना ही भोजन करे।

वायु से मैंने यह सीखा है कि जैसे अनेक स्थानों में जाने पर भी वह कहीं आसक्त नहीं होता और किसीका भी दोष-गुण नहीं अपनाता, वैसे ही साधक भी किसीका न तो दोष ग्रहण करे और न किसीसे आसक्ति और द्वेष करे। गन्ध वायु का गुण नहीं, पृथिवी का गुण है; परन्तु वायु को गन्ध का वहन करना पड़ता है। फिर भी वायु शुद्ध ही रहता है। वैसे ही साधक का जबतक शरीर से सम्बन्ध है, तबतक उसे इसकी भूख-प्यास आदि को सहन करना पड़ता है। परन्तु अपने आप-को आत्मा के रूप में देखनेवाला साधक उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति नहीं करनी चाहिए, नहीं तो बुद्धि अपना स्वातंत्र्य खोकर दीन हो जाती है और जीव को तरह-तरह के क्लेश उठाने पड़ते हैं। जिन्हें कुटुम्बियों और विषयों के चिन्तन में ही सुख मिलता है, और जो अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में ही सारी सुध-बुध खो बैठे हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

जितने भी चल या अचल पदार्थ हैं, उनका कारण आकाश है—एक एवं अपरिछिन्न! इसी प्रकार चर-अचर जितने भी शरीर हैं, उन सब में ब्रह्म आत्मारूप से सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए साधक को आत्मा की आकाशरूपता की भावना करनी चाहिए। आकश में प्रकृति के सारे विकार होते हुए भी जैसे वह उनसे निर्लिप्त रहता है, वैसे ही नाम और रूप बनते और मिटते रहते हैं, पर आत्मा सदा इनसे निर्लिप्त रहता है।

जैसे जल स्वभाव से ही स्वच्छ, मधुर और पवित्र है, वैसे ही साधक को भी स्वभाव से ही शुद्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिए।

अग्नि तेजस्वी तथा ज्योतिर्मय होती है और उसे अपने तेज से कोई दबा नहीं सकता। जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रह के लिए कोई पात्र नहीं और वह सब-कुछ भस्म कर डालती है, किन्तु दग्ध कर डालने पर भी किसी वस्तु के दोषों से वह लिप्त नहीं होती, उसी तरह साधक को भी तेजस्वी, इन्द्रियों से अपराजित और अपने मन को वश में रखते हुए दोषों से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

जैसे चन्द्रमा की गति नहीं जानी जा सकती; पर काल के प्रभाव से उसकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, हालांकि वास्तव में वह न तो घटता ही है, न बढ़ता ही, वैसे ही पूर्वजन्म से लेकर मृत्युतक जितनी भी अवस्थाएँ हैं सब शरीर की ही हैं। आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे आग की लपट क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, वैसे ही काल के द्वारा प्राणियों के शरीर की उत्पत्ति और विनाश होते रहते हैं।

जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी का जल खींचता और समय पर उसे बरसाता है,वैसे ही योगी पुरुष समय पर ही विषयों का ग्रहण और त्याग करते हैं, किन्तु उनमें सूर्य की आसक्ति नहीं होती। जैसे स्थूलबुद्धि मनुष्य को जल के विविध पात्रों में प्रतिबिम्बित सूर्य उन्हींमें प्रविष्ट-सा दिखाई पड़ता है परन्तु उससे सूर्य अनेक नहीं हो जाता, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा अलग-अलग प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में सूर्य के समान एक ही है, स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं।

प्राणियों को बिना किसी इच्छा या प्रयत्न के पूर्वकर्मानुसार सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। अतः इस रहस्य के जाननेवाले बुद्धिमान साधक को चाहिए कि बिना माँगे या बिना प्रयत्न के जो कुछ मिल जाय, वह चाहे रूखा, मधुर या सुस्वादु हो, अजगर के समान उसे ही ग्रहण कर जीवन-यापन करे।

समुद्र की तरह साधक को गम्भीर और प्रसन्न रहना चाहिए। किसी भी कारण से उसे क्रोध नहीं करना चाहिए। जैसे समुद्र वर्षा ऋतु में भी नदियों की बाढ़ के कारण बढ़ता नहीं है और न ग्रीष्म ऋतु में घटता ही है, वैसे ही साधक को भी सांसारिक पदार्थ मिलने पर प्रफुल्लित और नष्ट हो जाने से खिन्न नहीं होना चाहिए।

जैसे पतंगा रूप पर मोहित हो दीपक पर कूदकर जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियों को वश में न रखनेवाला पुरुष नरक में गिरकर अपना सत्यानाश कर डालता है। जो मूढ़ नाशवान पदार्थों में ही फँसा रहता है, जिसकी सारी चित्तवृत्तियाँ उनके उपभोग के लिए ही लालायित रहती हैं, वह अपनी विवेक-बुद्धि खोकर पतंगे के समान नष्ट हो जाता है।

राजन्! संन्यासी को चाहिए कि गृहस्थों को किसी प्रकार का कष्ट न दे और भौंरे की तरह अपना जीवन-निर्वाह करे। जैसे भौंरा अनेक छोटे-बड़े पुष्पों से उनका सारमात्र संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह छोटे-बड़े सभी शास्त्रों से उनका सारमात्र ग्रहण करे। मैंने मधुमक्खी से यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासी को सायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिए भिक्षा का संग्रह नहीं करना चाहिए, नहीं तो मधुमक्खियों के समान उनका जीवन कष्टमय हो जावेगा और जीवन का सच्चा लक्ष्य वह खो बैठेगा।

हाथी से मैंने यह सीखा कि संन्यासी काठ की बनी पुतली से भी स्नेह न करे, क्योंकि वह उसकी मूर्तिमयी मृत्यु है।

मैंने मधु निकालनेवाले से यह शिक्षा ली है कि लोभी मनुष्य बड़ी कठिनाई से धन जोड़ते हैं, किंतु उस संचित धन का न तो दान करते हैं और न उपभोग ही। जैसे मधु निकालने-

वाला मधुमक्खियों द्वारा संचित रस निकाल ले जाता है, वैसे ही ऐसे मनुष्य के संचित धन को भी कोई दूसरा ही भोगता है।

हरिण से मैंने यह सीखा है कि संन्यासी को गान-वाद्य के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। जैसे हरिण व्याध के गीत से मोहित होकर मारा जाता है, वैसे ही संन्यासी के लिए भी गान-वाद्य भव-बन्धन का कारण है।

मैंने मछली से यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे मछली काँटे से लगे हुए माँस के टुकड़े के लोभ से अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वाद का लोभी मनुष्य भी अपनी जिह्वा के वश होकर मारा जाता है। विवेकी मनुष्य अनशन द्वारा दूसरी इंद्रियों पर तो शीघ्र विजय प्राप्त कर लेता है; परन्तु इससे उसकी रसनेन्द्रिय वश में नहीं होती, वह तो उससे और भी प्रबल हो उठती है। इसलिए साधक को चाहिये कि वह रसनेन्द्रिय को सबसे पहले वश में करे, उससे सभी इन्द्रियाँ स्वतः वश में हो जायंगी और वह जितेन्द्रिय हो जायगा।

प्राचीनकाल में विदेहनगरी में पिंगला नाम की एक वेश्या रहती थी। वह रूपवती थी; पर थी स्वेच्छाचारिणी! उसके मन में धन की कामना इतनी अधिक जड़ पकड़ गई थी कि वह सदा यही सोचती रहती कि निश्चय ही कोई धनी पुरुष आकर उसे अपना धन दे जायगा। एक दिन आधी रात तक वह इसी तरह प्रतीक्षा में खड़ी रही। अत्यधिक देर हो जाने से उसका मुँह सूख गया और चित्त व्याकुल हो गया; पर उस रात को उसे निराश ही रहना पड़ा। अतः अब उसे इस वृत्ति से वैराग्य हो गया। राजन्! आशा की फाँसी पर लटके हुए मनुष्य का बंधन काटने की तलवार एकमात्र वैराग्य ही है। जिसे वैराग्य नहीं हुआ, जो इन बखेड़ों से ऊबा नहीं, वह शरीर और उसके बंधन से उसी

प्रकार मुक्त होना नहीं चाहता, जैसे अज्ञानी मनुष्य ममता को नहीं छोड़ना चाहता।

पिंगला वेश्या के मन में जब इस प्रकार वैराग्य की भावना जाग गई, तब उसने अपने आपको धिक्कारते हुए कहा—'हाय! मैं इन्द्रियों के अधीन हो विषय-सुख की ही लालसा करती रहती हूँ। यद्यपि मेरे हृदय में ही सच्चा प्रेमसुख और परमार्थ का सच्चा धन देनेवाले मेरे सच्चे स्वामी विराजमान हैं,फिर भी मैं सांसारिक वासनाओं में सुख की कल्पना करती हूँ। मैं कैसी मूर्ख हूँ? यह जगत अनित्य है; किंतु इसके स्वामी भगवान नित्य हैं। मैंने भगवान को छोड़कर उन तुच्छ मनुष्यों का ही सेवन किया, जो दुःखमय आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। मैं मूर्ख और दुष्टा हूँ, क्योंकि परम प्रियतम परमात्मा को छोड़कर दूसरे पुरुषों की अभिलाषा करती हूँ। अब मैं अपने आपको देकर इन्हें खरीद लूँगी। अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्म से भगवान मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो मुझे वैराग्य हुआ है। अब मैं भगवान का यह उपकार स्वीकार करती हूँ और उन्हीं जगदीश्वर की शरण लेती हूँ। यह जीव संसार के कुएँ में गिरा पड़ा है, विषयों ने इसे अन्धा बना रखा है और कालरूपी अजगर ने इसे अपने मुँह में दबा रक्खा है। भगवान को छोड़कर इसकी रक्षा भला दूसरा कौन कर सकता है?'

पिंगला ऐसा निश्चय कर शान्तभाव से जाकर सो गई। सच-मुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है। आशा का त्याग करने के बाद ही पिंगला सुख की नींद सो सकी।

मनुष्यों को जो वस्तुएं अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दुःख का कारण होता है। यह शिक्षा मैंने भ्रमण करते समय कुरर पक्षी से ली है। एक कुरर पक्षी अपनी चोंच

में मांस का टुकड़ा लिये बैठा था। उसे छीनने के लिए दूसरे बलवान पक्षियों ने अपनी चोंचों की मार से उसे आहत कर दिया। किन्तु जब उस कुरर पक्षी ने उस मांस के टुकड़े को फेंक दिया, तब वह कष्ट से मुक्त हो गया।

मुझे मानापमान और परिवार की चिन्ता नहीं है। मैं अपने आत्मा में ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीड़ा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने एक बालक से ली और उसीके समान मैं भी मौज से रहता हूँ। इस जगत में दो ही प्रकार के मनुष्य परमानन्द में मग्न रहते हैं—एक तो बालक और दूसरा गुणातीत, अर्थात् जो तीनों गुणों को पार कर गया हो।

एक बार किसी कुमारी कन्या के घर उसे वरण करने के लिए कई वर पहुँचे। पर उस दिन उसके घर के लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिए उसने स्वयं ही उनका आतिथ्य-सत्कार किया और उनको भोजन कराने के लिए वह घर के भीतर एकान्त में धान कूटने लगी। धान कूटते समय उसकी कलाई की चूड़ियाँ बज रही थीं। इससे उसे बड़ी लज्जा मालूम दी और उसने एक-एक करके सारी चूड़ियाँ उतार डालीं। घूमता-घामता मैं भी वहाँ पहुँच गया। मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जहाँ बहुत लोग एकसाथ रहते हैं, वहाँ कलह होता है। इसलिए जैसे कुमारी ने लज्जावश एक-एक करके सारी चूड़ियाँ हाथ से निकाल दीं, वैसे ही संन्यासी को सबको छोड़कर अकेले ही विचरना चाहिए।

मैंने बाण बनानेवालों से यह सीखा है कि साधक आसन और श्वास को जीतकर वैराग्य और अभ्यास के द्वारा अपने मन को वश में करले और फिर बड़ी सावधानी के साथ उसे एक लक्ष्य में लगादे। जब परमात्मा में मन स्थिर हो जाता है, तब वह कर्म-वासनाओं की धूल को धो डालता है और वह वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे ईन्धन के बिना अग्नि। इस प्रकार जिसका चित्त

अपने आत्मा में ही स्थिर हो जाता है, उसे कहीं किसी भी पदार्थ का भान नहीं होता। बाण बनानेवाला अपने कार्य में इतना तन्मय हो गया था कि पास से ही राजा की सवारी दलबल के साथ चली गई; पर उसका उसे भान भी नहीं हुआ। उससे मैंने तन्मयता की शिक्षा ली।

संन्यासी को मठ या मण्डली के चक्कर में भी नहीं पड़ना चाहिए। यह शिक्षा मैंने साँप से ली है।

मैंने मकड़ी से सर्वशक्तिमान भगवान के विश्वरचना के कार्य को समझने का प्रयत्न किया है। जैसे मकड़ी बिना किसी सहायक के अपने ही मुँह के तारों द्वारा जाला बना लेती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे ही निगल जाती है, वैसे ही भगवान बिना ही किसी सहायक के अपनी ही माया से इस ब्रह्माण्ड को रचते हैं, उसमें जीवरूप से विहार करते हैं और कालशक्ति द्वारा उसे अपने आप में ही लीन करके अंत में अकेले ही शेष रह जाते हैं।

प्राणी यदि स्नेह, द्वेष या भय से भी एकाग्रता से अपना मन किसीमें लगादे तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है—यह बात मैंने भृंगी से सीखी है। जैसे भृंगी किसी कीड़े को लेकर अपने रहने की जगह में बन्द कर देता है, और कीड़ा भय से उसीका चिन्तन करते-करते उसीमें तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार साधक को भी केवल परमात्मा का ही चिन्तन करके परमात्मारूप हो जाना चाहिए।

विवेक और वैराग्य की शिक्षा देने के कारण यह मेरा शरीर भी मेरा एक गुरु है। मरना-जीना और दुःख भोगना तो इसके साथ लगा ही रहता है। यद्यपि शरीर से तत्वविचार करने में सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे कभी अपना नहीं समझता और इससे असंग होकर विचरता हूँ। जीव जिस शरीर का प्रिय करने के लिए ही अनेक प्रकार की कामनाएं और कर्म करता है, तथा

परिजनों के पालन-पोषण में लगा रहता है, किन्तु आयु पूरी हो जाने पर वही शरीर स्वयं तो नष्ट हो जाता है, परन्तु वृक्ष के समान दूसरे शरीर के लिए बीज बोकर उसके लिए भी दुःख की व्यवस्था कर जाता है। जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पति को अपनी-अपनी ओर खींचती रहती हैं, वैसे ही जीव को भिन्न-भिन्न कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सताती रहती हैं। यद्यपि यह शरीर अनित्य है तो भी इससे परम पुरुषार्थ का लाभ हो सकता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह मृत्यु के पूर्व ही मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न करले; क्योंकि इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषयभोग तो सभी योनियों में प्राप्त हो सकते हैं, उनके संग्रह के पीछे यह अमूल्य जीवन खोना उचित नहीं है। यही सब सोच-विचारकर मुझे जगत से वैराग्य हो गया और मेरे हृदय में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति जगमगाने लगी है। अब मैं स्वच्छन्दरूप से इस पृथिवी पर विचरण करता रहता हूँ। राजन्! अकेले गुरु से ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, इसके लिए अपनी बुद्धि से भी बहुत-कुछ सोचने-समझने की आवश्यकता है।'

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'प्यारे उद्धव! अवधूत दत्तात्रेयजी ने जिज्ञासु श्रेष्ठ राजा यदु को इस प्रकार तत्त्वोपदेश किया। उनका उपदेश लेकर हमारे पूर्वज राजा यदु समस्त आसक्तियों से छुटकारा पाकर समदर्शी हो गये।

साधक के कर्त्तव्य

उद्धव! साधक को चाहिए कि वह सब तरह से मेरी शरण लेकर और स्वधर्म में निरत रहकर निष्काम भाव से कर्त्तव्य-कर्मों को करता रहे। वह निश्चल चित्त से इसका विचार करे कि जगत के विषयी प्राणी सत्य समझकर सुख-लाभ के लिए जो

प्रयत्न करते हैं उनसे उन्हें सुख के बदले दुःख ही मिलते हैं। उसे विचारना चाहिये कि स्वप्न अथवा जाग्रत अवस्था में मनुष्य अनेक प्रकार के विषयों का अनुभव करता है, परन्तु उसकी सारी कल्पनाएं शून्य और असत् ही होती हैं। ऐसा सोचते-सोचते वह निष्काम हो जायगा। जो साधक मेरी शरण में आना चाहते हैं, उन्हें सकाम कर्मों का सर्वथा परित्याग कर निष्काम कर्त्तव्य-कर्म ही करने चाहिए। आत्मज्ञानी को तो कर्म-सम्बन्धी विधि-विधानों का भी आश्रय नहीं लेना चाहिए। उसे अहिंसा आदि यमों का अवश्य आदरपूर्वक पालन करना चाहिए। जिज्ञासु के लिए यम-नियमों के पालन से भी बढ़कर मेरे स्वरूप को जाननेवाले सद्-गुरु की, मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करना कर्त्तव्य है। वह किसीका बुरा न सोचे, कभी किसीसे डाह न करे और अभिमान को सर्वथा त्याग दे। उसे आलस्य और ममता का लेश भी नहीं होना चाहिए। वह किसीके गुणों में दोष न निकाले और व्यर्थ की बातें न करे। 'आत्मा' ही जिज्ञासु का परमधन है, इसलिए वह स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थों में एक आत्मा को ही देखे और सबकी ओर से उदासीन रहे। जैसे जलनेवाली लकड़ी से उसे जलानेवाली आग सर्वथा भिन्न है, ठीक वैसे ही पंचभूतों तथा मन, बुद्धि आदि तत्वों से बना हुआ शरीर दृश्य और जड़ है तथा आत्मा इससे भिन्न है। शरीर अनित्य और जड़रूप है; किन्तु उसे प्रकाशित करनेवाला आत्मा नित्य, साक्षी, स्वयंप्रकाश और चेतन है। जब आग लकड़ी में जलती है, तब लकड़ी के उत्पत्ति-विनाश, बड़ी-छोटी और अनेकता आदि गुणों को वह स्वयं ग्रहण कर लेती है, परन्तु लकड़ी के उन गुणों से वस्तुतः आग का कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही जब आत्मा अपने को शरीर मान बैठता है, तब वह जड़ता, अनित्यता, स्थूलता, अनेकता आदि देह के गुणों से सर्वथा अलग होते हुए भी उनसे युक्त-

सा जान पड़ता है। ईश्वर-द्वारा नियन्त्रित मांया के गुणों ने ही सूक्ष्म और स्थूल शरीर का निर्माण किया है। शरीर को जीव और जीव को शरीर समझ लेने के कारण ही स्थूल शरीर के जन्म-मरण और सूक्ष्म शरीर के आवागमन का आत्मा पर आरोप किया जाता है। किन्तु आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उसकी जड़ कट जाती है।

इस जन्म-मृत्युरूप संसार का मूल कारण केवल अज्ञान ही है। इसलिए अपने सच्चे स्वरूप-आत्मा को जानने की ही इच्छा करनी चाहिए। सच्चा स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत से परे, द्वैत की गन्ध से रहित तथा अपने आपमें ही स्थित है। विद्यारूपी अग्नि प्रकट करने के लिए आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपर की अरणियाँ है तथा तत्त्वोपदेश मन्थन-काष्ठ है। इनसे जो ज्ञानाग्नि पैदा होती है, वह अलौकिक आनन्द देनेवाली है। इस ज्ञान-यज्ञ में बुद्धिमान शिष्य सद्गुरू के द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है, वह विषयों के प्रपंच को भस्म कर देता है। विषयों के भस्म हो जाने पर जब आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी ठीक वैसे ही अपने वास्तविक रूप में शान्त हो जाती है, जैसे समिधा न रहने पर आग स्वतः बुझ जाती है।

उद्धव! यदि तुम कर्मों के कर्त्ता और सुख-दुःख के भोक्ता जीव को अनेक तथा जगत, काल और आत्मा को नित्य मानते हो, साथ ही समस्त पदार्थों को स्थिति-प्रवाह से नित्य और यथार्थ स्वीकार करते हो तथा यह समझते हो कि घट-पट आदि बाह्य आकृतियों के भेद से उनके अनुसार ज्ञान उत्पन्न होता है और बदलता रहता है, तो ऐसा मत मानने से अनर्थ हो जायगा। यदि ऐसा स्वीकार कर भी लिया जाय तो जीवों की जन्म-मरण आदि अवस्थाएं भी नित्य होने के कारण दूर न हो सकेंगी, क्योंकि तुम

देहादि पदार्थ और काल की नित्यता स्वीकार करते हो। इसके सिवा, यहाँ भी कर्मों का कर्त्ता तथा सुख-दुःख का भोक्ता जीव परतन्त्र ही दिखाई देता है। यदि वह स्वतंत्र हो तो दुःख का फल क्यों भोगना चाहेगा? अतः इस मत के अनुसार जीव को कभी मुक्ति या स्वतन्त्रता प्राप्त नं हो सकेगी। जब जीव स्वरूपतः परतन्त्र और विवश है, तब तो स्वार्थ या परमार्थ के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करेगा। ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कुशल विद्वानों को भी कुछ सुख नहीं मिलता, और मूढ़ों को कभी दुःख से पाला नहीं पड़ता। इसलिए जो लोग अपनी बुद्धि या कर्म से सुख पाने का गर्व करते हैं उनका यह गर्व व्यर्थ है। यदि यह मान लिया जाय कि वे लोग सुख की प्राप्ति और दुःख की हानि का ठीक-ठीक उपाय जानते हैं तो भी उन्हें ऐसे उपाय का पता नहीं है, जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके, और वे कभी मरें ही नहीं। जब मृत्यु उनके सिर पर नाच रही है, तब ऐसी कौनसी भोग-सामग्री है जो उन्हें सुखी कर सके? भला जिस मनुष्य को फाँसी पर लटकाने के लिए वधस्थल पर ले जाया जा रहा है, उसे क्या फूल-चन्दन-स्त्री आदि पदार्थ सन्तुष्ट कर सकते हैं?

उद्धव! लौकिक सुख के समान पारलौकिक सुख भी दोषयुक्त ही हैं। प्रतिदिन पुण्य क्षीण होने के साथ ही वहाँ के सुख भी क्षय के निकट पहुँचते रहते हैं। जैसे हरी-भरी खेती भी अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कारणों से नष्ट हो जाती है, वैसे ही स्वर्ग भी प्राप्त होते-होते विघ्नों के कारण नहीं मिल पाता। कहते हैं कि यज्ञ करनेवाला पुरुष देवताओं की आराधना करके स्वर्ग में जाता है और वहाँ अपने उपार्जित दिव्य भोगों का उपभोग करता है। वह इनमें इतना अचेत हो जाता है कि उसे इस बात का पता भी नहीं चलता कि जब मेरे पुण्य समाप्त हो जायंगे तब मैं यहाँ से ढकेल

दिया जाऊँगा। जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्ग में चैन की वंशी बजाता रहता है, परन्तु पुण्यक्षीण होते ही इच्छा के प्रतिकूल उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि काल की चाल ही ऐसी है।

यदि कोई मनुष्य दुष्टों की कुसंगति में पड़कर अधर्मरत हो जाय, तब तो वह अवश्य ही नरक में गिरता है और उसे घोर अन्धकार में भटकना पड़ता है। सकाम कर्मों का फल दुःख ही है। जो जीव शरीर में अहंता-ममता रखकर उसीमें लग जाता है, उसे बार-बार जन्म और मरण प्राप्त होता रहता है। ऐसी स्थिति में वह कैसे सुखी रहा सकता है? जबतक शरीर में 'मैं और मेरेपन' का अभिमान शेष है, तभीतक एकत्व की अनुभूति नहीं होती और तबतक उसे काल या कर्म में से किसीके अधीन रहना ही पड़ेगा।'

आत्मा बँधा हुआ है कि मुक्त?

भगवान का यह उपदेश सुनकर उद्धव ने पूछा—'प्रभो! यह जीव देह के रूप-गुणों में ही रह जाता है, तो भी देह से होनेवाले कर्मों या उनके सुख-दुःख आदि फलों में यह क्यों नहीं बँधता? अथवा यह आत्मा गुणों से निर्लिप्त है, देह के सम्पर्क से सर्वथा रहित है, फिर उसका बंधन कैसे होता है? मुक्त पुरुष किन लक्षणों से पहचाना जाता है और उसका कैसा आहार-विहार होता है? एक ही आत्मा अनादि गुणों के सम्पर्क से नित्यबद्ध भी मालूम पड़ता है और असंग होने के कारण नित्यमुक्त भी। कृपाकर मेरे इस भ्रम का निवारण कीजिये।'

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'उद्धव! आत्मा बद्ध है अथवा मुक्त, इस प्रकार की व्याख्या त्रिगुण की उपाधि से ही होती है, तत्त्वदृष्टि से नहीं। ये गुण जादू के खेल के समान हैं। इसलिए न मेरा मोक्ष है, न बंधन। जैसे स्वप्न बुद्धि का विवर्त है—अर्थात्

बिना हुए भी भासित होता है—वैसे ही शोक-मोह, सुख-दुःख, शरीर की उत्पत्ति और मृत्यु यह सब माया के कारण भासित होते हुए भी वास्तविक नहीं हैं। शरीरधारियों को मुक्ति का अनुभव तथा बंधन करानेवाली आत्मविद्या और अविद्या दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं। मेरी माया से ही इनकी रचना हुई है। जीव भी मेरा अंश होने से वस्तुतः मेरे स्वरूप-जैसा एक ही है। आत्म-ज्ञान से सम्पन्न होने पर उसे मुक्त कहते हैं और अज्ञान-युक्त होने से बद्ध। जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्त के भेद से भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही शरीर में नियन्ता और नियंत्रित के रूप से स्थित हैं।

ऐसा समझो कि शरीर एक वृक्ष है। इसमें घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होने से समान और कभी न बिछुड़ने के कारण सखा हैं। इनके निवास करने का कारण केवल लीला ही है। इतनी समानता होते हुए भी जीव तो शरीररूपी-वृक्ष के फल सुख-दुःख आदि भोगता है; परंतु ईश्वर उनसे अनासक्त और उनका साक्षीमात्र रहता है। अभोक्ता होते हुए भी ईश्वर ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदि में भोक्ता जीव से बढ़कर है। ईश्वर अपने स्वरूप और जगत को जानता है, परंतु जीव नहीं। अविद्या के कारण जीव नित्यबद्ध है, पर ईश्वर नित्यमुक्त।

उद्धव! ज्ञानसम्पन्न पुरुष भी मुक्त ही है। जैसे स्वप्न टूट जाने पर जागा हुआ मनुष्य स्वप्न से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरों में रहते हुए भी उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। इंद्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं, क्योंकि गुण ही गुण को ग्रहण करते हैं—आत्मा नहीं। इसलिए जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूप को समझ लिया है, वह उन विषयों के ग्रहण और त्याग में किसी भी प्रकार का

अभिमान नहीं रखता। शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं—सब गुणों की प्रेरणा से होते हैं। किंतु अज्ञानी मनुष्य झूठमूठ अपने को कर्मों का कर्त्ता मान बैठता है और यही उसके बंधन का कारण होता है। विवेकी मनुष्य समस्त विषयों से विरक्त रहता है और अपने आप को कर्त्ता नहीं मानता। गुणों को ही कर्त्ता-भोक्ता जानकर विद्वान पुरुष कर्मवासना और कार्यफलों से नहीं बँधते। वे प्रकृति में भी रहकर वैसे ही अनासक्त रहते हैं, जैसे स्पर्श से आकाश, जल की आर्द्रता से सूर्य और गंध से वायु। वे देह में रहकर भी उसके गुणों से मुक्त रहते हैं। उनके शरीर को हिंसक जन पीड़ा कितनी ही पहुँचायँ या कोई पूजा ही करे, वे उससे दुखी या सुखी नहीं होते।

जो समदर्शी महात्मा भेददृष्टि से ऊपर उठ जाते हैं, वे न तो किसीकी स्तुति करते हैं, न किसीकी निन्दा। जीवनमुक्त न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं और न भला या बुरा कहते-सुनते वा सोचते ही हैं। वे जड़ की भाँति विचरण करते रहते हैं। जो वेदों का तो पारगामी विद्वान है ; परन्तु परब्रह्म के ज्ञान से शून्य है, वह बिना दूध की गाय का पालनेवाला ही है।

उद्धव ! मनुष्य को जिज्ञासा और तत्त्व-विचार के द्वारा आत्मा में जो अनेकता का भ्रम भरा पड़ा है, उसे दूर कर मुझ सर्वव्यापी में मन लगाना चाहिए। मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिए धर्म, काम और अर्थ का सेवन करना चाहिए। जो ऐसा करता है, उसे मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है। मेरी उपासना से भक्त को मेरे सान्निध्य का अनुभव होता है। इस प्रकार जब उसका हृदय शुद्ध हो जाता है, तब वह मेरे सच्चे स्वरूप को सहज ही पा जाता है।'

सन्त पुरुषों के लक्षण और उनकी भक्ति

उद्धवजी ने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा—'सर्वेश्वर ! कृपाकर

मुझे सन्तपुरुष के लक्षण बतलाइये। वे आपकी भक्ति कैसे करते हैं?'

भगवान ने कहा—'उद्धव ! मेरा भक्त अत्यन्त कृपालु होता है। वह किसीसे भी वैरभाव नहीं रखता। दुःख को वह प्रसन्नतापूर्वक सहता है, सत्य को ही वह जीवन का सार मानता है। उसके मन में किसी भी प्रकार की पाप-वासना नहीं आती। वह समदर्शी, सबका भला करनेवाला और स्थिर-बुद्धि होता है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है। सदा वह आत्मतत्व के चिन्तन में ही लगा रहता है। प्रमादरहित गम्भीरता और धैर्य उसके गुण होते हैं। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु उसके वश में रहते हैं। वह प्राणिमात्र के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करता है। उसका हृदय करुणा से भरा हुआ होता है। जो अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं, वे ही मेरे परमभक्त हैं।

उद्धव ! मुमुक्षु पुरुष को सदा ही मेरी स्तुति और कथा सुनने में श्रद्धा रखकर मेरा ध्यान करते रहना चाहिए। उसे मेरे तीर्थ-स्थानों की यात्रा करनी चाहिए। सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, जल, पृथिवी और समस्त प्राणी सभी मेरी पूजा के स्थान हैं। 'सभी स्थानों में भगवान स्थित हैं'—ऐसा ध्यान करते हुए एकाग्रतापूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिए।

उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्संग और भक्तियोग को छोड़कर संसार-सागर से पार होने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। सन्तपुरुष मुझे अपना एकमात्र आश्रय मानते हैं और मैं सदा सर्वथा उनके पास रहता हूँ। सारी ही सांसारिक आसक्तियों को सत्संग नष्ट कर देता है। सत्संग से भक्त जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है, वैसा साधन योग, सांख्य और स्वाध्याय से भी नहीं बनता। तप, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। वृत्रासुर, प्रह्लाद, बलि, बाणासुर, विभीषण, हनुमान,

जाम्बवान, जटायु, गजेन्द्र, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, व्रज की गोपियाँ और दूसरे साधक भी सत्संग के प्रभाव से ही मुझे प्राप्त कर सके। उन लोगों ने न तो वेदों का स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक उपासना ही की थी। अतः उद्धव ! तुम श्रुति, स्मृति, विधि-निषेध आदि का परित्याग कर सब प्रकार से मेरी ही भावना करते हुए सर्वात्मना मुझ एक की ही शरण ग्रहण करो। मेरी शरण में आ जाने से तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे।'

उद्धवजी ने फिर पूछा—'प्रभो ! आपका उपदेश सुनकर भी मेरे मन का सन्देह दूर नहीं हो रहा है। मुझे स्वधर्म का पालन करना चाहिए अथवा सबकुछ छोड़कर आपकी शरण ग्रहण करनी चाहिए ? मेरा मन इसी दुविधा में पड़ा है।'

भगवान श्रीकृष्ण ने पुनः कहा—'प्रिय उद्धव ! जिस परमात्मा का परोक्षरूप से वर्णन किया जाता है, वह साक्षात प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि वही समस्त वस्तुओं को सत्ता-स्फूर्ति देता है। काष्ठमंथन से अग्नि जैसे पहले अत्यन्त सूक्ष्म चिनगारी के रूप में प्रकट होती है और आहुति मिलने पर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मैं भी शब्दब्रह्मरूप से वाणी द्वारा प्रकट होता हूँ। सबको जीवन देनेवाला परमेश्वर ही इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमल का कारण है। यह आदिपुरुष पहले एक और अव्यक्त था। जैसे उपजाऊ खेत में बोया हुआ बीज शाखा, पत्र, पुष्पादि अनेक रूप धारण कर लेता है, वैसे ही कालगति से माया का आश्रय लेकर परमेश्वर भी अनेक रूपों में प्रतीत होने लगता है। जैसे तागों के ताने-बाने में वस्त्र ओतप्रोत रहता है, वैसे ही यह सारा विश्व परमात्मा में ही ओतप्रोत है। जैसे सूत के बिना वस्त्र का अस्तित्व नहीं है ; किन्तु सूत बिना वस्त्र के भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत के न रहते हुए भी परमात्मा रहता है ; किन्तु परमात्मा के बिना इस जगत का कोई अस्तित्व नहीं है।

यह संसार-वृक्ष अनादि और प्रवाह-रूप से नित्य है और इसके फल मोक्ष और भोग तथा इसके बीज पाप और पुण्य-ये दो हैं। असंख्य वासनाएं इसकी जड़ें, तीनों गुण तना, पाँचों भूत प्रधान शाखाएँ, शब्दादि रस तथा इन्द्रियाँ इसकी छोटी शाखाएं हैं। जीव और ईश्वर, ये दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर निवास करते हैं। संसार-वृक्ष में सुख और दुःख ये दो फल लगते हैं। जो मनुष्य विषयों में फँसे हैं, वे इस वृक्ष का दुःखरूपी फल भोगते हैं और जो विरक्त हैं वे इसके सुखरूपी फल का सेवन करते हैं। उद्धव! वास्तव में मैं एक ही हूँ। यह मेरा जो अनेक प्रकार का रूप है, वह तो केवल मायामय है। जो इस तथ्य को समझ लेता है, वही वास्तव में समस्त वेदों का रहस्य जानता है। अतः तुम परमात्मास्वरूप होकर वृत्तिरूप वस्त्रों को भी छोड़ दो और अपने अखण्डस्वरूप में ही स्थित हो जाओ।

जब सत्वगुण की बुद्धि बढ़ती है, तभी जीव मेरे भक्तिरूपी-स्वधर्म को प्राप्त करता है। निरन्तर सात्विक वस्तुओं का सेवन करने से सत्वगुण की वृद्धि होती है। जिस धर्म के पालन से सत्वगुण की वृद्धि होती हो, वही श्रेष्ठ है। इसकी वृद्धि से अधर्म के कारण रज और तम आप ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे बांसों की रगड़ से आग पैदा होती है और फिर वह सारे वेणु-वन को जलाकर शान्त हो जाती है, वैसे ही यह गुणों के प्रभाव से उत्पन्न शरीर विचार द्वारा प्रज्वलित ज्ञानाग्नि से समस्त गुणों को भस्म करके स्वयं भी शांत हो जाता है।'

उद्धवजी ने फिर विनयपूर्वक पूछा—'भगवन्! प्रायः सभी विषयों को विपत्ति का घर जानते हैं। फिर भी वे अनेक दुःख सहते हुए विषयों का उपभोग करते रहते हैं। ऐसा क्यों?'

भगवान श्रीकृष्ण ने शंका का निवारण करते हुए कहा—'उद्धव! जीव जब अज्ञानवश अपने 'स्वरूप' को भूलकर अहंबुद्धि

से काम लेता है, तब उसका सत्वप्रधान मन घोर रजोगुण की ओर झुक जाता है और मन में रजोगुण की प्रधानता होते ही संकल्प-विकल्पों का ताँता बँध जाता है। विषयों का निरन्तर चिन्तन करता हुआ, जानकर भी वह इन्द्रियों के जाल में फँस जाता है और अत्यन्त दुःख पाता है। यद्यपि विवेकी पुरुष का चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुण के वेग से विक्षिप्त हो जाता है, तथापि उसकी विषयों के प्रति दोषदृष्टि बनी ही रहती है। इसलिए चित्त को एकाग्र कर वह उसे विषयों से विरक्त करने का प्रयत्न करता रहता है। अतः साधक को अपनी शक्ति और समय के अनुसार बड़ी सावधानी से उत्साहपूर्वक धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगाना चाहिए। अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर उसे ऊबना या घबराना नहीं चाहिए।

सांख्यज्ञान तथा भक्तियोग

उद्धवजी ने जिज्ञासा की—'भगवन्! आपने जिस समय, जिस रूप से सनकादि ऋषियों को योग-मार्ग का उपदेश दिया था, उस रूप को मैं जानना चाहता हूँ।'

भगवान ने कहा—'प्रिय सखा! सनकादि ऋषियों ने अपने पिता ब्रह्माजी से एक बार योग की सूक्ष्म सीमा के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रश्न किया था-

पिताजी! चित्त विषयों में ओतप्रोत रहता है और तीनों गुण भी चित्त की एक-एक वृत्ति में व्याप्त रहते हैं, ऐसी स्थिति में जो मनुष्य इस संसार से पार होना चाहता है; वह उन दोनों को एक-दूसरे से अलग कैसे करे?

यद्यपि ब्रह्माजी समस्त प्राणियों के स्रष्टा हैं, फिर भी वे सनकादि के उस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दे सके। अतः उसका उत्तर देने के लिए उन्होंने भक्तिभाव से मेरा चिन्तन किया।

तब मैं एक हंस का रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ। उन्होंने मेरी वन्दना करके पूछा—'आप कौन हैं।' ? मैंने उनसे कहा, ऋषियो ! यदि परमार्थ-वस्तु नानात्व से सर्वथा भिन्न है, तब आत्मा के सम्बन्ध में आप लोगों का ऐसा प्रश्न कैसे युक्ति-संगत हो सकता है ? सभी शरीर पंचभूतात्मक होने के कारण तथा परमार्थरूप से भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थिति में 'आप कौन हैं' आपका यह प्रश्न केवल वाणी का व्यवहार है तथा विचारपूर्वक किये जाने के कारण निरर्थक भी है। मन, वाणी, दृष्टि तथा इन्द्रियों से जो भी ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। यह सिद्धान्त आप लोग तत्वविचार द्वारा समझ लीजिए। यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में व्याप्त हो जाते हैं, यह सत्य हैं। तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरुपभूत जीव के देह हैं—आत्मा का चित्त और विषय के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इन दोनों को अपने आत्मा से भिन्न समझ कर मुझ परमात्मा का साक्षात्कार कर इस मिथ्या भेद क त्याग देना चाहिए। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ तो केवल बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्द का स्वभाव नहीं है। इन वृत्तियों का साक्षी होने के कारण जीव इनसे भिन्न है, विलक्षण है, यह सिद्धान्त श्रुति-संगत, युक्तियुक्त और अनुभूति-पूर्ण है, क्योंकि बुद्धि की वृत्तियों द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मा में त्रिगुणमयी वृत्तियाँ का आरोप करता है। इसलिए मनुष्य को मुझ परमतत्व में स्थित होकर इस बन्धन को त्याग देना ही उचित है। यह बन्धन अहंकार की ही रचना है और यही आत्मा के स्वरूप को छिपा देता है।

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त मनुष्य यह नहीं देखता कि उसके शरीर पर का वस्त्र शरीर पर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष, जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है,

वह खड़ा, बैठा, कहीं गया या आया है इन बातों पर दृष्टि नहीं डालता। शारीरिक क्रिया तो रही दूर, वह वैसे ही शरीर को भी अपना नहीं मानता, जैसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्नावस्था के शरीर को सत्य नहीं मानता। सनकादि ऋषियो! मैंने तुमसे जो-कुछ कहा है वह सांख्य और योग दोनों का ही गोपनीय रहस्य है।'

उद्धवजी ने फिर प्रश्न किया—'श्रीकृष्ण! महात्माओं ने कल्याण के जो अनेक साधन बतलाये हैं वे सभी उत्तम हैं अथवा कुछ ही? आपने तो अभी भक्तियोग को ही सबसे अधिक कल्याणकारी बतलाया है, क्योंकि इसीसे मन आप में दृढ़ता से तन्मय हो जाता है।'

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'उद्धव! प्रलय के समय यह वेद-वाणी लुप्त हो गई थी। इसका पुनः उपदेश मैंने ब्रह्मा को किया। इसमें मेरे भागवत-धर्म का ही वर्णन है। सभी व्यक्तियों के स्वभाव और वासनाएँ भिन्न-भिन्न हैं, इसीलिए उनकी बुद्धियों में भी भेद है। इसलिए वे सभी अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल वेद-वाणी का भिन्न-भिन्न अर्थ लेते हैं और उसीके अनुसार आत्म-कल्याण के अनेक साधन बताते हैं। पर ये सब कर्म ही हैं और कर्मों का फल दुःख ही है। लेकिन जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के बड़े ढेर को भी जलाकर राख कर डालती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पापराशि को स्वाहा कर देती है। योगसाधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग आदि साधन मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी कि नित्य प्रेमपरा मेरी अनन्य भक्ति। मेरी भक्ति दुष्ट से भी दुष्ट को पवित्र कर डालती है। जो भक्ति से वंचित हैं, उनके चित्त को सत्य, दया, धर्म और तप भी भलीभाँति पवित्र नहीं कर सकते। जैसे आग में तपाने पर सोना अपना मैल त्यागकर अपने असली शुद्ध रूप में आ जाता है, वैसे ही मेरे भक्त भक्तियोग द्वारा कर्मवासनाओं से

मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए तुम दूसरे तमाम साधनों और उनके फलों का चिंतन छोड़ दो।

अब मैं तुम्हें भक्ति के सरल साधन बताता हूँ। जो मेरी भक्ति करना चाहता हो, वह मेरी कथा में श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुणों, लीलाओं और नामों का संकीर्तन और मेरी स्तुति करे। वह मेरे भक्तों की पूजा मेरी भी पूजा-अर्चा से बढ़कर समझे और समस्त प्राणियों में मुझे ही देखे। अपने एक-एक अंग की चेष्टा केवल मेरे लिए ही करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित करदे। मेरे लिए वह धन, भोग और सुखों को भी त्याग दे। यज्ञ, दान, जप, व्रत और तप जो भी वह करे, वह सब मेरे ही प्रीत्यर्थ हो। जिस किसी भी साधन से मेरी भक्ति सधे वही धर्म है। जिससे ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हो वही ज्ञान! विषयों से असंग रहना ही परम वैराग्य है।'

उद्धवजी ने पूछा–'मुमुक्षु पुरुष को आपका ध्यान किस रूप से, किस प्रकार और किस भाव से करना चाहिए?'

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'युक्त को आसन पर बैठकर सबसे पहले अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करना चाहिए। फिर धीरे-धीरे प्राणायाम का अभ्यास करते हुए इंद्रियों को जीत लेना चाहिए। 'ॐकार' का हृदय में चिंतन करते हुए साधक घण्टानाद के समान स्वर को स्थिर करे और उस स्वर का ताँता टूटने न दे। इसी प्रकार मेरे स्वरूप का ध्यान प्रतिदिन करते रहना चाहिए। जब चित्त समाहित हो जाता है, तब जैसे एक ज्योति से दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही जीव अपने में मुझे और मुझ सर्वात्मा में अपने आपको अनुभव करने लगता है।

जिसने मेरे स्वरूप में अपना चित्त पूर्णतया स्थिर कर दिया है, वह जो भी संकल्प करता है, वह सिद्ध हो जाता है। जैसे जल

द्वारा जल में रहनेवाले प्राणियों का नाश नहीं होता, वैसे ह
योगमाय शरीर को अग्नि, जल आदि कोई भी तत्त्व नष्ट नहीं कर सकता। जो योगधारणा द्वारा मेरी उपासना और मेरा चिंतन करता है, उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु भक्तियोग अथवा ज्ञान-योग के साधक के लिए सिद्धियाँ विघ्नरूप ही हैं। सिद्धियाँ तो योग-साधन के द्वारा मिल जाती हैं; परन्तु मेरा सारूप्य, बिना मुझमें चित्त लगाये, किसी भी अन्य साधन से प्राप्त नहीं हो सकता। सभी साधनों का एकमात्र मैं ही आदिहेतु, मैं ही नियन्ता और मैं ही प्रभु हूँ।'

भगवान की विभूतियाँ

उद्धवजी ने पुनः निवेदन किया—'भगवन्! बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आपके जिन रूपों और विभूतियों की उपासना करके सिद्धि पाते हैं, उनका आप कृपाकर निरूपण कीजिए। प्रभो! पृथिवी, स्वर्ग और पाताल में आपसे प्रभावित जो भी विभूतियाँ हैं, उनके विषय को मैं आपसे सुनना चाहता हूँ।'

भगवान ने अपनी विशिष्ट विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा—'उद्धव! जिस समय कुरूक्षेत्र में कौरवों और पाण्डवों का भीषण युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय अर्जुन ने भी मुझसे यही प्रश्न किया था। अर्जुन के मन में ऐसी धारणा हुई कि कुटुम्बियों को मारना और वह भी राज्य पाने के लिए बहुत ही निंदनीय कर्म हैं। साधारण जनों के समान वह भी यही सोच रहा था कि 'मैं मारनेवाला हूँ और ये सब मरनेवाले हैं।' उस समय मैंने उसे रणभूमि में जो उपदेश किया था, वही मैं तुम्हें सुनता हूँ।

मैं सब प्राणियों का आत्मा और उनका नियामक हूँ। मैं ही इन समस्त प्राणियों और पदार्थों में व्याप्त हूं और उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण भी मैं ही हूँ। मैं ही गतिशील पदार्थों

की गति और मैं ही सबका काल हूँ। गुणों में मैं उनकी मूलस्वरूपा साम्यावस्था हूँ और जितने भी सगुण पदार्थ हैं, उनमें मैं स्वभाविक गुण हूँ। सूक्ष्म वस्तुओं में मैं जीव हूँ और कठिनाई से वश में होनेवाला मैं मन हूँ, वेदमन्त्रों में मैं ओंकार हूँ। अक्षरों में अकार, छन्दों में गायत्री, देवताओं में इन्द्र, वसुओं में अग्नि, आदित्यों में विष्णु और रुद्रों में मैं नीललोहित नाम का रुद्र हूँ। मैं ब्रह्मर्षियों में भृगु, राजर्षियों में मनु, देवर्षियों में नारद और गौओं में कामधेनु हूँ। सिद्धेश्वरों में कपिल, पक्षियों में गरुड़, प्रजापतियों में दक्षप्रजापति और पितरों में मैं अर्यमा हूँ। दैत्यों में प्रह्लाद, नक्षत्रों में चन्द्रमा, औषधियों में सोमरस तथा यक्षों में मैं कुबेर हूँ। मैं हाथियों में ऐरावत, जलनिवासियों में वरुण, प्रभावानों में सूर्य तथा मनुष्यों में राजा हूँ। मैं घोड़ों में उच्चैश्रवा, धातुओं में सोना, दण्डधारियों में यम, सर्पों में वासुकि, नागराजों में शेष, पशुओं में उनका राजा सिंह, आश्रमों में संन्यास और वर्णों में ब्राह्मण हूँ। मैं तीर्थों और नदियों में गंगा, जलाशयों में समुद्र, अस्त्र-शस्त्रों में धनुष तथा धनुर्धरों में त्रिपुरारि शंकर हूं।

निवास-स्थानों में मैं सुमेरु हूँ, दुर्गमस्थानों में हिमालय हूँ तथा वनस्पतियों में पीपल और धान्यों में जौ हूँ। मैं पुरोहितों में वसिष्ठ, वेदवेत्ताओं में स्वामिकार्तिक और सन्मार्ग-प्रवर्तकों में ब्रह्मा हूँ। पंचमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, व्रतों में अहिंसाव्रत और शुद्ध करनेवाले पदार्थों में वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी एवं आत्मा हूँ। मैं योगों में समाधि, विजय-इच्छुकों में नीतिबल, कौशलों में विवेक तथा ख्यातिवादियों में विकल्प हूँ। मैं स्त्रियों में शतरूपा, पुरुषों में स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरों में नारायण और ब्रह्मचारियों में सनत्कुमार हूँ। मैं धर्मों में कर्म-संन्यास, अभय के साधनों में आत्मस्वरूप का अनुसन्धान, ऋतुओं में वसन्त, महीनों में मार्गशीर्ष और नक्षत्रों में अभिजित हूँ। युगों में सत्ययुग, विवेकियों में

महर्षि देवल और असित, व्यासों में श्रीकृष्ण द्वैपायन तथा कवियों में मैं मनस्वी शुक्राचार्य हूँ। महापुरुषों में वासुदेव, भक्तों में उद्धव, किम्पुरुषों में हनुमान, विद्याधरों में सुदर्शन, रत्नों में पद्मराग, सुन्दर वस्तुओं में कमल की कली, तृणों में कुश और हविष्यों में मैं गाय का घृत हूँ। मैं व्यापारियों में रहनेवाली लक्ष्मी और सात्विक पुरुषों में रहनेवाला सद्गुण हूँ। बलवानों में उत्साह और भक्तों में भक्तियुक्त निष्काम कर्म मैं ही हूँ। गन्धर्वों में विश्वावसु और अप्सराओं में मैं पूर्वचित्ति हूँ। पर्वतों में स्थिरता और पृथिवी में शुद्ध गन्ध मैं ही हूँ। जल में रस, तेजस्वियों में अग्नि; सूर्य, चन्द्र और तारों में प्रभा तथा आकाश में मैं उसका एकमात्र गुण शब्द हूँ। मैं ब्राह्मणभक्तों में बलि और वीरों में अर्जुन हूँ। समस्त इन्द्रियों की इन्द्रियशक्ति मैं ही हूँ। अहंकार, महत्तत्व, पंचमहाभूत, जीव, प्रकृति, सत्व, रज, तम और ब्रह्म-ये सब मैं ही हूँ। मैं ही सबका आत्मा और मैं ही यावन्मात्र सबकुछ हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं भी नहीं है। जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है।

उद्धव! मैंने संक्षेप से विभूतियों का वर्णन कर दिया है। ये सब परमार्थ वस्तु नहीं, वरन् मनोविकारमात्र हैं, क्योंकि मन से सोची और वाणी से कही हुई कोई भी वस्तु परमार्थ नहीं होती, उसकी एक कल्पना ही होती है। अतः तुम वाणी का संयम करो और मन के संकल्प-विकल्पों को रोको। इसके लिए प्राणों को वश में करो और इन्द्रियों का दमन करो! जो सात्विक बुद्धि द्वारा वाणी और मन को पूर्णतया वश में नहीं कर लेता, उसके व्रत, तप, और दान कच्चे घड़े में भरे हुए जल की तरह क्षीण हो जाते हैं।

इसलिए मेरे भक्त को बुद्धि से वाणी, मन और प्राणों का संयम करना चाहिए।

वर्णाश्रमधर्म

उद्धवजी ने पूछा—'माधव! अब आप कृपाकर यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकार अपने धर्म का अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणों में उसे सहज ही भक्ति प्राप्त हो जाय? आप उस धर्म का वर्णन कीजिए, जो आपकी भक्ति को सुलभ करानेवाला हो।'

भगवान श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर अपने प्रिय सखा उद्धव को सनातन धर्मों का उपदेश करते हुए कहा—'सखे! सत्ययुग में मनुष्यों का हंस नाम का एक ही वर्ण था। उस युग में सब लोग जन्म से ही कृतकृत्य होते थे, इसलिए उसका नाम कृतयुग भी है। उस समय केवल प्रणव ही वेद था, और तप, शौच, दया एवं सत्य इन चार चरणों से युक्त मैं ही वृषभरूपधारी धर्म था। उस युग के भक्तजन मुझ हंसस्वरूप परमात्मा की उपासना करते थे।

त्रेतायुग में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद की त्रयी विद्या प्रकट हुई और विद्या से यज्ञ के रूप में मैं प्रकट हुआ। मुझ विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। उनकी पहचान उनके अपने-अपने आचरण से होती है। विराट् पुरुष के ही उरुस्थल से गृहस्थाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षस्थल से वानप्रस्थाश्रम और मस्तक से संन्यासाश्रम की सृष्टि हुई है। इन वर्णों और आश्रमों के मनुष्यों के स्वभाव भी उनके जन्मस्थानों के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हो गये।

उद्धव! चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए साधारण धर्म यह है कि मनुष्य मन, वाणी और शरीर से किसीकी हिंसा न करे, सत्य पर दृढ़ रहे, चोरी न करे, काम, क्रोध और लोभ से

बचे और जिन कर्मों के करने से सभी प्राणियों की प्रसन्नता और उनका भला हो, उन्हीं कर्मों को वह करे। शौच, सरलता, तीर्थ-सेवन और शरीर का संयम--यह सभी के लिए एक समान नियम हैं।

शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सरलता, ईश्वर-भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण-वर्ण के स्वाभाविक गुण हैं। ब्राह्मण दान लेनें की वृत्ति को तपस्या, तेज और यश का नाश करनेवाली समझकर पढ़ाने और यज्ञ कराने के द्वारा ही अपना जीवन-निर्वाह करे। जो ब्राह्मण अपने धर्म का निष्काम भाव से पालन करता है, सन्तोषपूर्वक अपना जीवन-निर्वाह करता है, और अनासक्त होकर अपना अन्तःकरण और आत्मा मुझे समर्पित कर देता है, वह बिना संन्यास लिये ही मेरा परमपद प्राप्त कर लेता है।

तेज, बल, सहिष्णुता, वीरता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मणभक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय के स्वभावज गुण हैं। राजा पिता के समान सारी प्रजा को कष्ट से बचाए और धैर्यपूर्वक स्वयं अपनें आपका भी उद्धार करे। जो राजा इस प्रकार प्रजा की रक्षा करता है, वह पापमुक्त होकर अन्त में स्वर्ग-लोक पाता है।

आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, कृषि, गोरक्षा और व्यापार—ये वैश्य के स्वाभाविक गुण हैं।

गो, देवता और स्वामी की परिचर्या—ये शूद्रों के स्वभावज गुण हैं।

यदि ब्राह्मण अध्यापन अथवा यज्ञ-यागादि से अपनी जीविका न चला सके तो वैश्यवृत्ति अथवा क्षत्रिय-वृत्ति से भी अपना निर्वाह कर सकता है। यदि क्षत्रिय भी प्रजापालन आदि से जीवन का निर्वाह न कर सके तो वह वैश्यवृत्ति को अपना सकता है। परन्तु उद्धव ! यह व्यवस्था आपत्तिकाल के लिए ही है।

ब्रह्मचारी को पवित्रता के साथ अग्नि, सूर्य, आचार्य गौ, ब्राह्मण, वृद्धजनों और देवताओं की उसासना करनी चाहिए तथा सायं और प्रातःकाल सन्ध्योपासन और गायत्री का जप करना चाहिए। जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाय, उसे यह भाव रखना चाहिये कि सबके हृदय में परमात्मा का समान रूप से वास है। वेदाध्ययन समाप्त करने के पश्चात ब्रह्मचारी को गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।

गृहस्थ को विविध सत्कर्मों के अनुष्ठान द्वारा ऋषियों, देवताओं पितरों, अतिथियों एवं समस्त प्राणियों की यथाशक्ति प्रतिदिन सेवा-पूजा करते रहना चाहिए। उसे कुटुम्ब में लिप्त नहीं होना चाहिए। जो शरीर में अहंकार और घर-गृहस्थी में ममता नहीं रखता, उसे गृहस्थी के फंदे बाँध नहीं सकते। भक्तिमान गृहस्थ शास्त्रोक्त कर्मों द्वारा मेरी आराधना करता हुआ घर में ही रहे। यदि पुत्रवान हो तो वानप्रस्थ या संन्यासाश्रम गृहण करले। इस प्रकार गृहस्थ अपने धर्मपालन के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है॥

मनुष्य वानप्रस्थ-आश्रम में अपनी पत्नी को पुत्रों के हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ लेकर शान्तचित्त से वन में निवास करे। उसे वन के पवित्र कन्दमूल और फलों से निर्वाह करते हुए तपोमय जीवन व्यतीत करना चाहिए। जब वह अपने आश्रमोचित नियमों का पालन करने में असमर्थ हो या उसके मन में पूर्ण वैराग्य हो जाय, तब उसे संन्यास ले लेना चाहिए।

संन्यासी दण्ड और कमण्डलु के अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास न रखे। वह धरती को देख-देखकर पैर रखे, सत्य बोले और सभी काम खूब सोच-विचार कर करे। उसकी वाणी के लिए मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिए प्राणायाम दण्ड है। जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं हैं, वह केवल बाँस का

दण्ड धारण कर लेने से दण्डीस्वामी नहीं हो जाता। संन्यासी को चाहिए कि पतितों को छोड़कर चारों वर्णों की भिक्षा ले और केवल सात घरों से जितना भी मिल जाय, उतने से ही सन्तोष करले, परन्तु दूसरे समय के लिए कुछ बचा न रखे।

संन्यासी को पृथिवी पर अकेले ही विचरना चाहिए। वह अपने आपमें मस्त और आत्म-प्रेम में ही तन्मय रहे। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी धैर्य रखे और सर्वत्र समान रूप से परमात्मा की व्यापकता का अनुभव करता रहे। संन्यासी को निर्जन और निर्भय स्थान में रहना चाहिए। उसका हृदय निरन्तर मेरी भावना से विशुद्ध बना रहे और अपने आपको मुझसे अभिन्न समझे। संन्यासी को चाहिये कि वह मन एवं पाँचों ज्ञानेद्रियों को जीत ले और क्षुद्र विषय-भोगों से अपने को हटाले। वह बुद्धिमान होकर भी बालक के समान सरल, निपुण होकर भी जड़वत और विद्वान होकर भी उन्मत्त की तरह रहे। संन्यासी कर्मकाण्ड की व्याख्या में न पड़े, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्क से बचे और वाद-विवाद में किसीका भी पक्ष न ले। वह इतना धैर्यवान हो कि उसके मन में किसी भी प्रणी से उद्वेग न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणी को उद्विग्न न करे। वह किसीकी निन्दा व अपमान न करे और किसीसे वैर न बाँधे। वह अपने मन में न हर्ष आने दे न विषाद। भिक्षावृति से अपना निर्वाह करे, क्योंकि भिक्षा से ही प्राणों की रक्षा होती है, प्राण रहने से ही तत्व का विचार बनता है और तत्वविचार से तत्वज्ञान प्राप्त होकर मुक्ति मिलती है। जैसे मैं परमेश्वर होने पर भी शास्त्रोक्त नियमों का पालन करता हूँ, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी शौच, आचमन, स्नान और दूसरे नियमों का आचरण करे। यदि वह मुझे प्राप्त करने के साधनों को न जानता हो तो मेरे ही चिन्तन में तन्मय रहनेवाले सद्गुरू की शरण लेकर जबतक ब्रह्म का परिज्ञान न हो, तबतक

उन्हें ही भगवद्रूप समझकर उनकी सेवा करे।

उद्धव ने निवेदन किया—'प्रभो ! आपका यह वैराग्य और विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकार सुदृढ़ हो सकता हो, उस प्रकार मुझे स्पष्ट करके समझाइये। आप कृपाकर मुक्त करनेवाली वाणी की सुधा-धारा में मुझे सराबोर कर दीजिये न !'

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'उद्धव ! जिसने इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त नहीं की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथि बिगड़े हुए हों और जिसके हृदय में ज्ञान और वैराग्य का उदय नहीं हुआ है, वह यदि संन्यासी का वेश धारण करके पेट पालता है तो वह मुझको ठगने की चेष्टा करता है। संन्यासी का मुख्य धर्म-शान्ति और अहिंसा, वानप्रस्थ का तप और भगवद्ध्यान तथा गृहस्थ का प्राणियों की रक्षा तथा यज्ञानुष्ठान है। गृहस्थ के लिए भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियों के प्रति प्रेमभाव—ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभी आश्रमों में रहकर करनी चाहिए। मैंने तुम्हें यह वर्णाश्रम धर्म बतलाया है। यदि इस धर्मानुष्ठान से मेरी भक्ति की जाय तो अनायास ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

जिसने शास्त्रों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर लिया है, जो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ है, जिसका निश्चय केवल युक्तियों और अनुमानों पर ही निभर नहीं करता, उसे मायारूप सम्पूर्ण द्वैतप्रपंच और उसकी निवृत्ति के साधनों को मुझमें लीन कर देता है, जो ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न सिद्धपुरुष है, वह ही मेरे वास्तविक स्वरूप को जानता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष मुझे सबसे प्रिय है। ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के द्वारा निरन्तर मुझे अपने अन्तःकरण में धारण करता है। तत्वज्ञान का उदय होने से जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह तप, तीर्थ, जप, दान अथवा अन्तः-करण की शुद्धि के अतिरिक्त और किसी भी साधन से पूर्णतया

प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए उद्धव! तुम ज्ञानपूर्वक अपने आत्मस्वरूप को जान लो और फिर अनन्य भक्तिभाव से मेरा भजन करो। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों विकारों की समष्टि ही शरीर है और वह सर्वथा तुम्हारे आश्रित है। यह पहले नहीं था और अन्त में नहीं रहेगा, केवल बीच में ही दीख रहा है। इसलिए इसे जादू के खेल के समान माया ही समझना चाहिए।'

यम और नियम

उद्धवजी ने कितने ही प्रश्न पूछे—'मधुसूदन! यम और नियम कितने प्रकार के हैं? शम, दम, तितिक्षा और धैर्य क्या हैं? आप मुझे दान, तप, शौर्य, सत्य और ऋत का भी स्वरूप बतलाइए। अभीष्ट धन कौन-सा है? यज्ञ किसे कहते हैं? दक्षिणा, सच्चा बल और लाभ क्या वस्तु हैं? विद्या, घर, लज्जा, श्री तथा सुख और दुःख क्या हैं? पण्डित और मूर्ख के क्या लक्षण हैं? सुमार्ग और कुमार्ग किसे कहते हैं? स्वर्ग और नरक क्या हैं? भाई-बन्ध किसे मानना चाहिए और धनवान और निर्धन किसे कहते हैं? कृपण कौन? ईश्वर क्या है? प्रभो! आप कृपाकर मेरे इन सब प्रश्नों के उत्तर दीजिये।'

भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धव के प्रश्नों के उत्तर देते हुए कहा—'अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, अनासक्ति, लज्जा, असंचय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय—ये बारह यम हैं। शौच, जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, भगवत सेवा, तीर्थयात्रा, परोपकार, सन्तोष और गुरुसेवा ये बारह नियम हैं। जो साधक इनका पालन करता है, ये यम और नियम, उसकी इच्छानुसार उसे भोग और मोक्ष दोनों ही देते हैं। बुद्धि का मुझ—में लग जाना ही 'शम' है। इन्द्रियों के संयम का नाम 'दम' है।

दुःख के सहने का नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय पा लेना 'धैर्य' हैं। किसी भी प्राणी से द्रोह न करना और सबको अभय देना 'दान' है। कामनाओं का त्याग करना ही तप है। अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करना ही 'शौर्य' है। सर्वत्र सत्यरूप परमात्मा का दर्शन ही 'सत्य' है।

सत्य और मधुर भाषण ही 'ऋत' है। कामों में आसक्त न होना ही 'शौच' है। कामना का सच्चा त्याग ही 'संन्यास' है। धर्म ही मनुष्यों का सच्चा धन है। परमेश्वर ही 'यज्ञ' हैं। ज्ञानोपदेश देना ही 'दक्षिणा' है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'बल' है और मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है। सच्ची 'विद्या' वही है, जिससे ब्रह्म और आत्मा के बीच का भेद मिट जाता है। पाप करने से घृणा होने का नाम ही 'लज्जा' है। मनुष्य-शरीर ही सच्चा घर है। निर-पेक्षता ही शरीर की सच्ची 'सौन्दर्य-श्री' है। सुख और दुःख की भावना का सदा के लिए नष्ट हो जाना ही 'सुख' है और विषय-भोगों की कामना ही दुःख है। जो बन्धन और मोक्ष का तत्व जानता है वही 'पण्डित' है। शरीर आदि में जिसका 'मैंपन' है वही 'मूर्ख' है। जो मुझे प्राप्त करा देता है वही सच्चा 'सुमार्ग' है। चित्त की बहिर्मुखता ही कुमार्ग है। सत्वगुण की वृद्धि 'स्वर्ग' और तमोगुण की वृद्धि 'नरक' है। गुरू ही सच्चा 'भाई-बन्धु' है और वह गुरू मैं ही हूँ। सद्गुणों से सम्पन्न ही सच्चा 'धनी' है और जिसके चित्त में असन्तोष है वही दरिद्र है। जो जितेन्द्रिय नहीं है वही 'कृपण' हैं। समर्थ, स्वतंत्र और 'ईश्वर' वह है, जिसकी चित्तवृत्तियाँ विषयों में आसक्त नहीं हैं। इसके विपरीत 'असमर्थ' हैं। सबका सारांश इतना ही समझ लो कि गुणों और दोषों की ओर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है और शांत निःसंकल्प स्थिति ही सबसे बड़ा गुण है।

वेदों का तात्पर्य

ना-शक्ति
मनुष्यता

उद्धवजी ने फिर शंका की—'कमलनयन ! वेद में ता है, न
के करने की विधि है तो कुछ का निषेध। वर्णाश्रम-धर्म है।
अनुपयुक्त, कर्म, काल तथा स्वर्ग और नरक के भेदों गेकों को
वेदों से ही होता है। वेद ही श्रेष्ठ मार्ग दिखाते हैं अ अभि-
लोक में भी किसी पुरुष का कौन-सा साध्य है और क्यारती है,
इसका निर्णय भी वेदों से होता हैं। गुणों और दोषों में रोचक
वेद के ही अनुसार होती है; पर आपकी वाणी इसका नि मनुष्य
करती है। यह विरोध देखकर मेरे मन में शंका हो रही है उसकी
कृपया मेरा यह भ्रम मिटा दें।' त्य हैं,

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'उद्धव! मैंने ही वेदों फिर से
अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए तीन प्रकार के का यह
का उपदेश किया है। वे योग हैं ज्ञान, कर्म और भक्ति। मन परम-
कल्याण के लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। ऐसा
मनुष्य कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त है, वह ज्ञानयो
अधिकारी है। इसके विपरीत, जिसके चित्त में कर्मों और सब-
फलों से वैराग्य का उदय नहीं हुआ है, वह कर्मयोग का अधि र' का
हैं। कर्म तभी तक करना चाहिए जबतक कि उससे प्राप्त होने की,
स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय, अथवा जबतक मेरी ल षय-
कथा के श्रवण-कीर्तन में श्रद्धा न हो जाय। इस प्रकार अ ल-
वर्ण और आश्रम के अनुकूल उसे धर्म में स्थित रहकर यज्ञों लिए
आराधना करते रहना चाहिए। यदि विहित कर्मों का ही हैं।
आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरक में नहीं जाना पड़ता। पर

ज्ञों
अपने धर्म में निष्ठा रखनेवाला मनुष्य इस शरीर से ही क न
का परित्याग कर मुक्त हो जाता है और सहज ही उसे मे हैं
भक्ति प्राप्त हो जाती है। मेरी भक्ति ही संसार-सागर से पा

दुःख के ही सुदृढ़ नौका है। भक्तियोग द्वारा निरन्तर मेरा भजन
विजय पाने से साधक के हृदय में मेरे प्रपि विश्वास दृढ़ हो जाता
सबको इससे उसके हृदय की सारी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।
है। अक भक्तिपूर्वक मेरे चिन्तन में ही मग्न रहता है, उसके
सर्वत्र स्न या वैराग्य आवश्यक नहीं है।

सत ा उद्धव ! अपने-अपने धर्म में निष्ठा रखना ही गुण कहा
होना है और इसके विपरीत दोष। पृथिवी, जल, तेज, वायु और
ही मनु ही ब्रह्मा से लेकर पर्वत-वृक्ष पर्यन्त सभी प्राणियों के शरीरों
देना है कारण हैं। इस तरह वे सब शरीर की दृष्टि से तो समान
भक्ति सबका आत्मा भी एक ही है। इनके ऐसा होने पर भी
और इनके वर्णाश्रम अलग-अलग इसलिए बना दिये हैं कि ये
होने क प्रवृत्तियों को संकुचित कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन
पेक्षता पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकें। देश, काल, फल, निमित्त,
भावन ारी और धान्य आदि वस्तुओं के गुण और दोष का विधान
भोगों ीलिए किया गया है कि मर्यादा का भंग न होने पाये।
जानत में वह देश अपवित्र है, जहाँ सत्पुरुष न हों, समय वही
वही है, जिसमें करने योग्य कर्म हो सके। गुरुमुख से सुन लेने
चित्त न्त्र की और मुझे समर्पित कर देने से कर्म की शुद्धि होती है।
तमो प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्त्ता, मन्त्र और कर्म इन छहों
वह ुद्ध होने से धर्म और अशुद्ध होने से अधर्म होता है। कहीं-
जिस शास्त्र-विधि से गुण तो हो जाता है दोष और दोष गुण
है जाता है।

चि विषयों में कहीं भी गुणों का आरोप करने से उस वस्तु के
हैं आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होने से उसे अपने पास
अने की कामना और कामना की पूर्ति में बाधा पड़ने से कलह
त्पन्न होता है। कलह से क्रोध की उत्पत्ति होती है और क्रोध
समय अपने हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता। इस अज्ञान से

शीघ्र ही कार्याकार्य का निर्णय करनेवाली व्यापक चेतना-शक्ति लुप्त हो जाती है और इसके लुप्त होने पर मनुष्य में मनुष्यता नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में न तो उसका स्वार्थ सधता है, न परमार्थ। विषयों का चिंतन करते-करते वह जड़ हो जाता है।

यह स्वर्गादि फलों का वर्णन करनेवाली श्रुति उन लोकों को परमपुरुषार्थ नहीं बतलाती। परन्तु बहिर्मुख मोक्ष की उत्कट अभिलाषा से कर्मों में रुचि उत्पन्न करने के लिए वैसा वर्णन करती है, जैसे कड़वी औषधि में रुचि पैदा करने के लिए बच्चों से रोचक वाक्य कहे जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विषय-भोगों में मनुष्य अपने जन्म से ही आसक्त है और यह आसक्ति ही उसकी आत्मोन्नति में बाधक है। इसलिए स्वर्गादि का वर्णन सत्य है, ऐसा विश्वास कर कोई भी विद्वान मनुष्य अथवा वेद ही फिर से उन्हें विषयों में क्यों प्रवृत्त करेंगे? मंदबुद्धि जन वेदों का यह अभिप्राय नहीं समझ पाते। वे तो स्वर्गादि लोकों को ही परम-फल मानकर झपट जाते हैं; परन्तु वेदवेत्ता पुरुष श्रुतियों का ऐसा तात्पर्य नहीं बतलाते।

विषय-वासनाओं में फँसे हुए लोग स्वर्ग-प्राप्ति को ही सब-कुछ समझ बैठते हैं। फिर भला उन्हें निज धाम 'आत्मपद' का पता लगे तो कैसे? उनके पास साधना है तो केवल कर्म की, और उसका कोई फल है तो इन्द्रियों की मात्र तृप्ति। ऐसे विषय-लोलुप लोग मेरे परोक्ष अभिप्राय को न जानकर हिंसा का खिल-वाड़ करते हैं और दुष्टतावश अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए वध किये हुए पशुओं के मांस से यज्ञ करने का ढोंग रचते हैं।

वास्तव में स्वर्ग स्वप्न के दृश्यों के समान असत् है; पर सकाम मनुष्य जब यह सुनते हैं कि हम लोग इस लोक में यज्ञों के द्वारा स्वर्ग में जायंगे, और वहाँ आनन्द भोगने के बाद कुलीन सम्पन्न परिवारों में जन्म लेंगे, तब उनके चित्त क्षुब्ध हो उठते हैं

और वे मेरी ओर से इतने उदासीन हो जाते हैं कि उन्हें मेरे विषय की चर्चा भी नहीं सुहाती।

उद्धव! वेदों में तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। पर इन तीनों काण्डों द्वारा प्रतिपादित विषय एक ही है और वह है—ब्रह्म और आत्मा की एकता। वेदों के सभी मन्त्र तथा मंत्र-द्रष्टा ऋषि इसी विषय को गुप्तभाव से बतलाते हैं। वेदों का एक नाम 'शब्दब्रह्म' भी है, क्योंकि वे मेरी मूर्ति हैं, इसलिए उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। यही नहीं, वे समुद्र के समान सीमारहित तथा अत्यन्त गम्भीर भी हैं। मैंने ही वेदवाणी का विस्तार किया है। भगवान हिरण्यगर्भ स्वयं वेदमूर्ति एवं अमृतमय हैं। उसकी उपाधि प्राण है और उसकी अभिव्यक्ति स्वयं अनाहत शब्द ओंकार के द्वारा हुई है। यह वेदवाणी कर्मकाण्ड में क्या विधान करती है, उपासना-काण्ड में किन देवताओं का वर्णन करती है और ज्ञानकाण्ड में किन प्रतीतियों का अनुवाद कर उनमें अनेक प्रकार के विकल्प करती है—श्रुतियों के इस सब रहस्य को मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। वास्तव में सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्ड में मेरा ही विधान करती हैं, उपासना-काण्ड में मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्ड में आकाशादि-रूप से मुझमें ही अन्य वस्तुओं का आरोप कर उनका निषेध कर देती हैं। समस्त श्रुतियों का केवल यही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्त में सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठानरूप से मैं ही शेष रह जाता हूँ।'

तत्व-विचार

उद्धवजी ने पुनः शंका की—'प्रभो! ऋषियों ने तत्वों की संख्या कितनी बतलाई है? आपने तो अट्ठाईस तत्व गिनाये हैं।

कुछ तत्त्वज्ञ छब्बीस बतलाते हैं तो कुछ पच्चीस। कोई सात, नौ अथवा छह स्वीकार करते हैं, और कोई चार बतलाते हैं, तो कोई ग्यारह। कई ऋषि-मुनियों के मत से तत्वों की संख्या सत्रह हैं, परन्तु कोई सोलह और कोई तेरह भी बतलाते हैं। ऋषि-मुनियों ने तत्वों की इतनी भिन्न-भिन्न संख्याएँ किस अभिप्राय से बतलाई हैं? आप कृपाकर मेरी इस शंका का निवारण कीजिए।'

भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धव की इस शंका का निवारण करते हुए कहा—'उद्धव! वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषय में जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है। क्योंकि सभी तत्व सबमें अन्तभू त हैं। जगत के कारण के सम्बन्ध में वाद-विवाद इसलिए होता है कि लोग मेरी शक्तियों का गूढ़ रहस्य नहीं समझ पाते। सत्व आदि गुणों के क्षोभ से ही यह विविध कल्पनारूप प्रपंच, जो 'वस्तु' नहीं केवल नामभात्र है—उठ खड़ा हुआ है। यही वादविवाद करनेवालों के विवाद का विषय है। जब इंद्रियाँ वश में हो जाती हैं और चित्त प्रशान्त हो जाता है, तब यह प्रपंच भी निवृत्त हो जाता है और इसकी निवृत्ति के साथ ही सारे वाद-विवाद भी मिट जाते हैं। तत्वों का एक-दूसरे में अनुप्रवेश है, इसलिए वक्ता तत्वों की जितनी संख्या बतलाना चाहता है उसके अनुसार कारण को कार्य में अथवा कार्य को कारण में मिलाकर अपनी मनचाही संख्या सिद्ध कर लेता है। ऐसा देखा जाता है कि एक ही तत्व में बहुत से दूसरे तत्वों का अन्तर्भाव हो गया है। इसलिए वादी प्रतिवादियों में से जिसकी वाणी ने जिस कार्य को जिस कारण में अथवा जिस कारण को जिस कार्य में अन्तभू त करके तत्वों की जितनी संख्या स्वीकार की है, वह हम निश्चय ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका वह उपपादन युक्तिसंगत ही है।

उद्धव! जिन लोगों ने तत्वों की संख्या छब्बीस मानी है, वे ऐसा कहते हैं कि जीव अनादिकाल से अविद्या से ग्रस्त हो रहा

है वह स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता; उसे आत्मज्ञान कराने के लिए किसी अन्य सर्वज्ञ की आवश्यकता है। इस तरह वे प्रकृति के कार्य-कारणरूप चौबीस तत्व, पुरुष और ईश्वर इन छब्बीस तत्वों का प्रतिपादन करते हैं। पच्चीस तत्वों के माननेवाले कहते हैं कि इस शरीर में स्थित जीव और ईश्वर में अणुमात्र भी अन्तर या भेद नहीं है। इसलिए उनमें भेद की कल्पना करनी व्यर्थ है। रही ज्ञान की बात, सो वह तो सत्वात्मिका प्रकृति का गुण है। तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है, इसलिए सत्व, रज और तम ये तीनों गुण आत्मा के नहीं, प्रकृति के ही हैं। इन्हींके द्वारा जगत की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय हुआ करते हैं। इस प्रसंग में सत्वगुण को ही ज्ञान, रजोगुण को ही कर्म और तमोगुण को ही अज्ञान कहा गया है। गुणों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ही काल है और सूत्र अर्थात् महत्तत्व ही स्वभाव है। यदि तीनों गुणों को प्रकृति से अलग मान लिया जाय तो तत्वों की संख्या स्वतः अट्ठाईस हो जाती है। उन तीनों के अतिरिक्त पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी, पाँच कर्मेन्द्रियां तथा मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी हैं। इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय—ये अट्ठाईस तत्व हो जाते हैं। कर्मेद्रियों द्वारा होनेवाले कर्म से तत्वों की संख्या नहीं बढ़ती। सृष्टि के आरम्भ में कार्य (ग्यारह इन्द्रियाँ और पंचभूत) और कारण (महत्तत्व आदि) के रूप में प्रकृति ही रहती है और वही सत्व, रज और तमोगुण की सहायता से जगत की स्थिति, उत्पत्ति और संहार-सम्बन्धी अवस्थाएँ धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओं का केवल साक्षीमात्र बना रहता है।

जो तत्त्वज्ञ तत्वों की संख्या सात स्वीकार करते हैं, उनके मत

से पाँच भूत, जीव और परमात्मा ये ही तत्व हैं। उनके अनुसार देह, इंद्रियों और प्राणों की उत्पत्ति तो पंचभूतों से हुई है। जो केवल छह तत्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और छठा परमपुरुष परमात्मा। परमात्मा पंचभूतों से देह आदि की सृष्टि करके उनमें जीवरूप से प्रवेश करता है। जो तत्त्वज्ञ केवल चार ही तत्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्मा से तेज, जल और पृथिवी की उत्पत्ति हुई है और जगत में जितने भी पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं। अतः इनके मत से तत्वों की संख्या चार ही हुई। जो तत्वों की संख्या सत्रह बतलाते हैं, वे पाँचभूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा के क्रम से इनकी गणना करते हैं। तत्वों की सोलह की संख्या बतलानेवाले आत्मा में मन का समावेश कर लेते हैं। जो लोग तेरह तत्व मानते हैं वे पाँचभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, जीवात्मा और परमात्मा इनको ही तत्व कहते हैं। ग्यारह संख्या माननेवालों ने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। जो नौ तत्व माननेवाले हैं, वे आकाशादि पाँच भूत, मन, बुद्धि, अहंकार और नवाँ पुरुष इन्हींको तत्व मानते हैं। उद्धव! इस प्रकार ऋषि-मुनियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्वों की गणना की है। सबका कहना उचित ही है, क्योंकि संख्या सभी की युक्तियुक्त है। तत्वज्ञानी किसी भी मत में दोष नहीं देखते।'

उद्धवजी ने फिर पूछा—'यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि वे आपस में इतने घुले-मिले हैं कि साधारणतः उनका भेद नहीं जान पड़ता। इनकी भिन्नता स्पष्ट कैसे हो? इनकी भिन्नता और अभिन्नता को लेकर मेरे मन में बहुत बड़ा संदेह है। आप ही मेरा यह संदेह दूर कर सकते हैं।'

भगवान ने उद्धव की शंका को दूर करते हुए कहा—'उद्धव!

प्रकृति और पुरुष—शरीर और आत्मा—इन दोनों में आत्यन्तिक भेद है। इस जगत् में जन्म-मरण एवं वृद्धि-ह्रास आदि विकार लगे ही रहते हैं। कारण इसका यह है कि संसार की सृष्टि गुणों के क्षोभ से ही हुई है। मेरी माया त्रिगुणात्मिका है। वही अपने गुणों से अनेक प्रकार की भेद-वृत्तियाँ पैदा कर देती है। सृष्टि तीन भागों में बँटी है—अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव। नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म, उसका विषयरूप अधिभूत और नेत्र-गोलक में स्थित सूर्यदेवता का अंश अधिदेव है। ये तीनों परस्पर एक-दूसरे के आश्रय से सिद्ध होते हैं। इसलिए अध्यात्म, अधि-देव और अधिभूत तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। परन्तु आकाश में स्थित सूर्यमण्डल इन तीनों की अपेक्षा से मुक्त है, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा भी उपर्युक्त तीनों भेदों का मूल-कारण, उनका साक्षी और उनसे परे है। वही अपने प्रकाश से समस्त सिद्ध पदार्थों की मूल सिद्धि है। उसीके द्वारा सबका प्रकाश होता है। जिस प्रकार चक्षु के तीन भेद बताये गये, इसी प्रकार त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका और चित्त आदि के भी तीन-तीन भेद हैं। प्रकृति से महत्तत्व बनता है और महत्तत्व से अहंकार। इस प्रकार अहंकार प्रकृति का ही एक विकार है। यह अहंकार ही अज्ञान और सृष्टि की विविधता का मूल कारण है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका इन पदार्थों से न तो कोई सम्बन्ध है और न उसमें विवाद की ही कोई बात है। विवाद का मूल-कारण तो भेद-दृष्टि है। जो लोग मुझसे विमुख हैं, वे इस व्यर्थ के विवाद से मुक्त नहीं हो पाते।'

उद्धव ने पूछा—'भगवन्! जीव पुण्य-पापों के परिणाम-स्वरूप अनेक योनियों में आते-जाते रहते हैं। व्यापक आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, अकर्त्ता का कर्म करना

और नित्य वस्तु का जन्म-मरण कैसे सम्भव है ? कृपाकर मुझे आप इसका आन्तरिक रहस्य समझाइये ।'

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'उद्धव ! मनुष्यों का मन कर्म-संस्कारों का एक पुंज है । वही कर्मों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में और एक लोक से दूसरे लोक में आता-जाता रहता है । आत्मा शरीर से सर्वथा पृथक् है ; परन्तु जब वह अपने आप-को शरीर समझ बैठता है, तब उसे भी अपना आना-जाना प्रतीत होने लगता है । मन कर्मों के अधीन है । वह देखे हुए या सुने हुए विषयों का चिन्तन करने लगता है और उनमें तदाकार हो जाता है । जब यह जीव किसी भी शरीर को 'मैं' के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं । जैसे मनुष्य पहले के स्वप्न और मनोरथों को भूल जाता है, वैसे ही वर्तमान देह में स्थित जीव को पूर्व देह का स्मरण नहीं रहता ।

काल की गति सूक्ष्म है । उसके द्वारा प्रतिक्षण शरीरों की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं ! सूक्ष्म होने के कारण ही प्रति-क्षण होनेवाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते । जैसे काल के प्रभाव से दिये की लौ, नदियों के प्रवाह अथवा वृक्ष के फलों की अवस्थाएं बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियों के शरीरों की अवस्था भी बदलती रहती है । जैसे 'यह ज्योतियों का वही दीपक है,' 'प्रवाह का यह वही जल है'–ऐसा समझना और कहना मिथ्या है, वैसे ही अविवेकी पुरुषों का ऐसा कहना और समझना कि यह वही पुरुष है, सर्वथा मिथ्या है । यद्यपि वह भ्रान्त पुरुष कर्मों के द्वारा न पैदा होता न मरता ही है, वह भी अजन्मा और अमर ही है, फिर भी भ्रान्ति से वह उत्पन्न होता और मरता-सा भी है, जैसे कि काष्ठ से युक्त अग्नि पैदा होती है और नष्ट होती-सी दिखाई पड़ती है ।

जन्म-मृत्यु आदि अवस्थाएं शरीर की ही हैं । यह शरीर जीव से

भिन्न है ; परन्तु जीव अज्ञानवश गुणों के संग से शरीर को अपना मान कर भटकने लगता है, और कभी-कभी विवेक हो जाने पर इन्हें छोड़ भी देता है । पिता को पुत्र के जन्म से और पुत्र को पिता की मृत्यु से अपने-अपने जन्म-मरण का अनुमान कर लेना चाहिए। जैसे, जौ-गेहूं आदि की फसल बोने पर उग आती है और पक जाने पर काट दी जाती है ; किंतु जो कृषक उनका उगाने और काटनेवाला है वह उनसे सर्वथा पृथक है, वैसे ही जो शरीर और उसकी अवस्थओं का साक्षी है, वह शरीर से सर्वथा प्रथक है। अज्ञानी जन इस प्रकार प्रकृति और शरीर से आत्मा का विवेचन नहीं करते । जीव जब जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकने लगता है, तब वह सात्विक कर्म करने से ऋषिलोक और देवलोक, राजसिक कर्मों की आसक्ति से मनुष्य तथा असुर-योनियों, तथा तामसी कर्मों द्वारा भूत-प्रेत एवं पशुपक्षी आदि योनियों को पाता है !

जैसे मनुष्य किसीको नाचते-गाते हुए देखकर स्वयं भी उसका अनुकरण करने लगता है, वैसे ही जीव बुद्धि के गुणों को देखकर, स्वंय निष्क्रय होते हुए भी, उसका अनुकरण करने के लिए बाध्य हो जाता है। जैसे तेजी से चक्कर मारनेवाले यंत्र पर चढ़े हुए मनुष्य को उसपर से उतरने के बाद पृथिवी घूमती हुई-सी दिखाई पड़ती है, और जैसे मन से सोचे गये तथा स्वप्न में देखे गये भोग्य पदार्थ सर्वथा मिथ्या होते हैं, वैसे ही यह संसार सत्य दीखने पर भी वस्तुतः सर्वथा असत्य है। जैसे स्वप्न के दुःख-क्लेश जागे बिना नष्ट नहीं होते वैसे ही सत्य न होते हुए भी जो जीव मिथ्या विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसका जन्म-मृत्युरूपी संसार-चक्र भगवान के चरणों की शरण लिये बिना निवृत्त नहीं होता। अतः जो अपने कल्याण को चाहता हैं उसे सभी कठिनाइयों से विवेक-बुद्धि द्वारा अपने आपको बचा लेना चाहिए।

दुःख का कारण—मन

उद्धवजी ने निवेदन किया—'भगवन् ! मैं दुर्जनों द्वारा किये गए तिरस्कार को अत्यन्त असह्य समझता हूं। अतः जिस साधन से मैं उसे सहन कर आपका उपदेश धारण कर सकूँ, वह मुझे बतलाइए।'

उद्धवजी की इस प्रार्थना पर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'उद्धव, इस संसार में प्रायः ऐसे सन्तपुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनों की कटुवाणी से विचलित न हों। इस विषय में तुम्हें प्राचीन इतिहास सुनाता हूं।

प्राचीनकाल की बात है। उज्जैन में एक ब्राह्मण रहता था। उसने खेती और व्यापार से बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी करली ; किन्तु वह अत्यन्त कामी, क्रोधी और लोभी था। उसने अपने बन्धु-बान्धवों और अतिथियों को मीठी बातों से भी कभी प्रसन्न नहीं किया। अतः उसकी कृपणता और बुरे स्वभाव के कारण उसके पुत्र, भाई-बन्धु और पत्नी सभी दुखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्ट सोचा करते थे। अपने धन से न तो वह धर्म ही कमाता था और न उसका भोग ही करता था। वह लोक और परलोक दोनों से ही गिर गया। बहुत दिनोंतक इस प्रकार का जीवन बिताते-बिताते पंचमहायज्ञ के भागी देवता उसपर क्रुद्ध हो गये और उनके तिरस्कार से उसके पूर्व पुण्यों का सहारा भी जाता रहा। इसलिए उसका सारा संचित्त धन उसकी आँखों के सामने ही नष्ट हो गया। धन के नष्ट हो जाने से उसके सगे-सम्बन्धियों ने भी उससे मुँह मोड़ लिया। अब उसके मन में सदा ही खेद रहने लगा। चिन्ता करते-करते उसके मन में संसार के प्रति वैराग्य हो गया। वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा—

"हाय ! जिस धनोपार्जन के लिए मैंने इतना कठिन परिश्रम

किया, वह न तो धर्म में लगा और न मेरे सुख-भोग के काम ही आया। धन कमाने और कमा लेने पर उसके रखने, बढ़ाने आदि में निरन्तर परिश्रम, भय और चिन्ता का ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जुआ और शराब—ये पन्द्रह अनर्थ धन से हो जाते हैं। भाई-बन्धु, स्त्री-पुरुष, माता-पिता, सगे-संबंधी जो स्नेह-बन्धन से बँधकर एक हुए रहते हैं, वे सबके-सब धन के कारण एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर जो इस धन के पीछे अपने सच्चे स्वार्थ—परमार्थ का इस प्रकार नाश करते हैं, वे अशुभ गति को ही पाते हैं। मैं अब आत्म-लाभ में ही सन्तुष्ट रह अपने परमार्थ को साध कर, चित्त को तपस्या के द्वारा ब्रह्म में लीन कर लूँगा। तीनों लोकों के स्वामी नारायण मेरे इस संकल्प का अनुमोदन करें।'

उद्धव! उस विरक्त ब्राह्मण ने ऐसा निश्चय कर संन्यास ग्रहण कर लिया। उसके चित्त में किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्ति नहीं रही। उसने अपने मन, इन्द्रियों और प्राणों को भी वश में कर लिया और स्वच्छन्दता से वह पृथिवी पर विचरने लगा। चूंकि वह भिक्षुक बहुत ही बूढ़ा हो गया था। इसलिए दुष्ट लोग उसका तरह-तरह से तिरस्कार करते; परन्तु वह सबकुछ चुपचाप सह लेता। उसे कभी दैहिक, दैविक और भौतिक पीड़ा सहनी पड़ती, परन्तु वह भिक्षुक मन में इनसे संतप्त नहीं होता था। वह समझता था कि यह सब मेरे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है, और यह मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा। यद्यपि नीच लोग उसे उसके धर्म से गिराने का भरसक प्रयत्न किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़ता से अपने धर्म पर स्थिर रहता और धैर्यपूर्वक कहा करता—

"मेरे सुख अथवा दुःख के कारण मनुष्य, देवता, ग्रह, कर्म

एवं काल नहीं हैं। महात्मागण तथा श्रुतियाँ मन को ही इसका परम कारण बताती हैं। आत्मा निष्क्रिय है। वह जीव का सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञान से सब-कुछ देखता है। जब वह मन को स्वीकार कर उसके द्वारा विषयों का भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मों के साथ आसक्ति होने के कारण वह उनसे बँध जाता है।"

दान, स्वधर्म का पालन, यम, नियम, वेदाध्ययन सत्कर्म तथा ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत–इन सब साधनों का अन्तिम फल है मन का एकाग्र होकर भगवान में लग जाना। जिसका मन शांत और स्थिर हो गया है, उसे समस्त सत्कर्मों का फल प्राप्त हो चुका है और जिसका मन चंचल है, उसको शुभ कर्मों से कुछ भी लाभ नहीं हुआ, यह मानना चाहिए। सारी ही इंद्रियाँ मन के वश में हैं; मन किसी भी इंद्रिय के वश में नहीं है। यह बलवान से भी बलवान एवं अत्यन्त भयंकर है। जो इसे अपने वश में कर लेता है, वही इंद्रियों का विजेता है। मन मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है। इसका आक्रमण असह्य है। यह केवल बाहरी शरीर को ही नहीं वरन् अंदर के मर्मस्थानों को भी बेधता रहता है। अतः मनुष्य को सबसे पहले अपने मन पर ही विजय प्राप्त करन चाहिए।

यदि यह मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःख का कारण है तो भी उससे आत्मा का क्या सम्बन्ध है? क्योंकि सुख-दुःख देनेवाला और भोगनेवाला भी तो यह मिट्टी का शरीर ही है? कभी भोजन के समय यदि अपने दाँतों से ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे तो मनुष्य किसपर क्रोध करेगा?

यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःख के कारण हैं तो भी इस दुःख से आत्मा की क्या हानि है? क्योंकि यदि दुःख के कारण देवता हैं तो उसके भोक्ता भी तो वे ही हैं? कारण कि देवता सभी शरीर में हैं और जो देवता एक शरीर में हैं, वे ही दूसरे में

भी हैं। दूसरा जो कुछ भी प्रतीत होता है, मिथ्या है। इसलिए न सुख है, न दुःख। फिर क्रोध कैसा और किसपर ?

यदि ग्रहों को सुख-दुःख का निमित्त माना जाय तो उनसे भी अजन्मा आत्मा की क्या हानि है। उनका प्रभाव जन्म-मरणशील शरीर पर ही होता है। ग्रहों की पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीर को ही होती है। आत्मा उन ग्रहों और शरीरों से सर्वथा परे है।

यदि कर्मों को ही हम सुख-दुःख का कारण मानें तो उनसे आत्मा का क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे तो एक पदार्थ के जड़ और चेतन होने पर ही संपन्न हो सकते हैं ? देह तो जड़ है और उसमें रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मों का तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता।

यदि काल ही सुख-दुःख का कारण है तो आत्मा पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है ? जैसे आग आग को नहीं जला सकती और बर्फ बर्फ को नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्मा को ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता।

यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःख का कारण है तो वही सुख-दुःख का देनेवाला और भोगनेवाला भी है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत है। इन द्वन्द्वों का प्रभाव तो जन्म-मृत्यु में भटकनेवाले जीव पर ही होता है! जो इस सत्य को जान लेता है, वह फिर किसीसे भयभीत नहीं होता।'

उद्धव! उस ब्राह्मण का धन नष्ट क्या हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। इसलिए तुम अपनी सारी चित्त-वृत्तियों को मुझमें तन्मय कर मन को अपने वश में करलो! सारे योग-साधनों का बस इतना ही सार-संग्रह है।'

सांख्य दर्शन

उद्धव ! अब तुम सांख्यदर्शन का निष्कर्ष सुनो। सत्ययुग में तथा जब कभी मनुष्य विवेकयुक्त होते हैं—तब वे सभी अवस्थाओं में विकल्पशून्य केवल ब्रह्मस्वरूप ही होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं है। ब्रह्म ही माया और जीव के रूप में दो भागों में विभक्त है। उनमें से एक वस्तु को प्रकृति कहते हैं। उसीने जगत में कार्य और कारण के रूप धारण कर रखे हैं ; दूसरी वस्तु को, जो ज्ञानस्वरूप है, पुरुष कहते हैं। मैंने ही जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार प्रकृति को क्षुब्ध किया, तब उससे गुण प्रकट हुए और उनसे सूत्र और महत्तत्व की उत्पत्ति हुई। महत्तत्व में विकार होने पर अहंकार हुआ। यह अहंकार ही जीवों को मोह में डालनेवाला है। अहंकार से पंचतन्मात्राएं और उनसे पांच भूतों की उत्पत्ति हुई। ये सभी पदार्थ मेरी प्रेरणा से परस्पर मिल गये और इन्होंने यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया। जब यह अण्ड जल में स्थित हो गया, तब मैं नारायण रूप से उसमें स्थित हो गया। मेरी नाभि से विश्वकमल की उत्पत्ति हुई और उसीपर ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ। मेरा कृपाप्रसाद प्राप्त कर ब्रह्मा ने भूः 'भुवः' स्वः अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनों लोकों और इनके लोकपालों की रचना की। इन्हीं तीनों लोकों में कर्मों के अनुसार विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं। योग, तप और संन्यास के द्वारा उत्तम गति मिलती है तथा भक्तियोग से मेरा परमधाम प्राप्त होता है।

यह सारा जगत कर्म और उसके संस्कारों से युक्त है। मैं ही कालरूप से कर्मों के अनुसार उनके फल का विधान करता हूं। जगत में जितने भी पदार्थ हैं, सब प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही बनते हैं। जिसके आदि और अन्त में जो है, वही बीच

में भी है और वही सत्य है। इस विश्वप्रपंच का उपादान कारण प्रकृति है, परमात्मा अधिष्ठान है और इसको प्रकट करनेवाला काल है। व्यवहार काल की यह त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है और मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूं।

यह विराट् ही विविध लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार की लीलाभूमि है। जब मैं कालरूप से इसमें व्याप्त होता हूँ तब यह भुवनों के साथ विनाशवान विभागों में लीन हो जाता है। लीन होने की प्रक्रिया यह है कि पहले प्राणियों के शरीर अन्न में, अन्न बीज में, बीज भूमि में और भूमि गन्ध में लीन हो जाती है। इसके बाद गन्ध जल में, जल रस में, रस तेज में और तेज रूप में लीन हो जाता है। फिर रूप वायु में, वायु स्पर्श में, स्पर्श आकाश में तथा आकाश शब्द में लीन हो जाता है। तदनन्तर शब्द तामस अहंकार में, और त्रिविध अहंकार महत्तत्व में लीन हो जाते हैं। अन्त में महत्तत्व गुणों में, गुण अव्यक्त प्रकृति में और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी काल में लीन हो जाती है, तथा काल जीव में और जीव मुझ अजन्मा आत्मा में लीन हो जाता है। किंतु आत्मा किसीमें भी लीन नहीं होता, वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। वह जगत की सृष्टि और लय का अधिष्ठान है। जो इस प्रकार विवेकदृष्टि से देखता है, उसके चित्त में यह प्रपंच का भ्रम स्थान पा ही नहीं सकता। उद्धव! मैं ही कार्य और कारण दोनों का साक्षी हूँ।

उद्धव! यद्यपि व्यवहार में पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्य के भेद से दो जान पड़ते है, तथापि परमार्थ-दृष्टि से देखने पर अधिष्ठानस्वरूप एक ही है। इसलिए किसीके कर्मों की न स्तुति करनी चाहिए, न निन्दा। जो मनुष्य दूसरों के स्वभाव और उनके कर्मों की प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं, वे अपने परमार्थ-साधन से च्युत हो जाते हैं। उद्धव! सारी ही इन्द्रियाँ राजस अहंकार के कार्य हैं। उनके निद्रित हो जाने पर जीव चेतनाशून्य हो जाता है

और उसे बाहरी शरीर की स्मृति नहीं रहती। उस समय यदि मन बच रहा तो वह सपने के झूठे दृश्यों में भटकने लगता है और यदि वह भी लीन हो गया तब जीव मृत्यु के समान सुषुप्ति-अवस्था में प्रवेश कर जाता है। इसी प्रकार जब जीव अपने आत्मस्वरूप को भूलकर नाना वस्तुओं का दर्शन करने लगता है, तब वह स्वप्न के समान झूठे दृश्यों में फँस जाता है अथवा मृत्यु के समान घोर अज्ञान उसे ढक लेता है!

उद्धव ने इसपर प्रश्न किया—'भगवन्! आत्मा द्रष्टा और देह दृश्य है। आत्मा स्वयंप्रकाश और देह जड़ है। ऐसी स्थिति में जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीर को हो सकता है और न आत्मा को ही। परन्तु इसका 'होना' भी होता है। तब यह होता किसे है?

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—'उद्धव! वस्तुतः संसार का अस्तित्व है ही नहीं। परन्तु जबतक देह, इन्द्रियों तथा प्राणों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की भ्रान्ति है, तबतक वह अविवेकी पुरुष को सत्य-सा भासित होता है। जैसे स्वप्न में अनेक विपत्तियाँ आती हैं और स्वप्न-भंग तक उनका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही संसार के न होने पर भी, जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयों का चिन्तन करते रहते हैं, उनका जन्म-मृत्युरूपी संसार नहीं छूटता। अहंकार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्यु का शिकार बनता है; आत्मा से तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। देह, इन्द्रियों, प्राणों और मन में स्थित आत्मा ही जब इन्हें अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसका नाम जीव हो जाता है। उस आत्मा की मूर्ति ही शरीर है। उसे ही कहीं तो सूत्रात्मा कहा जाता है, और कहीं महत्तत्व। उसके और भी बहुत-से नाम हैं। वही कालरूप परमेश्वर के अधीन होकर जन्म-मृत्युरूपी संसार में इधर-उधर भटकता रहता है। वास्तव में मन, वाणी, प्राण और शरीर अहंकार के ही कार्य हैं। यह है तो

निर्मूल ; परन्तु देव, मनुष्य आदि अनेक रूपों में इसकी प्रतीति होती है।

पृथिवी का विकार होने के कारण शरीर आत्मा नहीं है। इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवता, प्राणवायु, जल, अग्नि तथा मन भी आत्मा नहीं हैं। क्योंकि इनका पोषण भी शरीर के समान ही अन्न के द्वारा होता है। बुद्धि, चित्त, अहंकार, आकाश, पृथिवी तथा शब्दादि विषय और गुणों की साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं है, क्योंकि ये सबके-सब दृश्य तथा जड़ हैं।

सत्व, रज और तम गुण

उद्धव ! अलग-अलग गुणों के कारण प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में भी भेद हो जाता है। सत्वगुण की वृत्तियाँ शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, सन्तोष, त्याग, विषयों के प्रति अनिच्छा, श्रद्धा, दान, विनय और सरलता आदि हैं। रजोगुण की वृत्तियाँ इच्छा, अभिमान, भेद-बुद्धि, विषयभोग, अपने यश में प्रेम, पराक्रम और हठपूर्वक उद्योग करना आदि हैं। तमोगुण की वृत्तियाँ क्रोध, लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, पाखण्ड, कलह, शोक, मोह, विषाद, निद्रा और अकर्मण्यता आदि हैं। उनके मेल से 'मैं हूँ और यह मेरा है' इस प्रकार के विचार में तीनों गुणों का मिश्रण है। मन, शब्दादि विषय, इन्द्रियों और प्राणों के कारण सात्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ प्रकट होती हैं। जब मनुष्य धर्म, अर्थ और काम में लगा रहता है, तब उसे सत्व-गुण से श्रद्धा, रजोगुण से रति और तमोगुण से धन प्राप्त होता है।

मानसिक शान्ति और जितेन्द्रियता जैसे सद्गुणों से सत्व-गुणी, विवध कामनाओं से रजोगुणी और क्रोध, हिंसा आदि से तमोगुणी मनुष्य पहचाना जाता है। स्त्री हो या पुरुष, जब वह

निष्काम होकर अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों द्वारा मेरी आराधना करता है, तब उसे सत्वगुणी जानना चाहिए। सकाम भाव से मेरा भजन-पूजन करनेवाला रजोगुणी तथा किसीका अनिष्ट चाहने और करने के लिए मेरा पूजन करनेवाला तमोगुणी होता है।

जिसकी मृत्यु सत्वगुण बढ़ जाने के समय होती है उसे स्वर्ग, रजोगुण बढ़ने के समय मनुष्य-लोक और तमोगुण बढ़ जाने के समय उसे नरक मिलता है। परन्तु जो पुरुष जीवन्मुक्त हो गए हैं, उन्हें मेरी प्राप्ति होती है।

जब निष्काम भाव से धर्म का आचरण किया जाता है, तब वह सात्विक और फल की कामना से राजसिक तथा जिस कर्म में किसीके सताने अथवा दिखावे का भाव रहता है, तब वही धर्माचरण तामसिक हो जाता है।

आरोग्यदायक पवित्र आहार सात्विक, स्वाद की दृष्टि से किया गया रुचिकर आहार राजस और दुःखदायी तथा अपवित्र भोजन तामस है।

जीव के गुणों और कर्मों के अनुसार ही उसे नाना योनियाँ प्राप्त होती हैं। सारे गुण चित्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए जो जीव उनपर विजय पा लेता है, वह भक्तियोग द्वारा मुझमें ही अनन्य निष्ठा रखकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

उद्धव! यह मनुष्य-शरीर मुझे पाने का मुख्य साधन है। इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेम से मेरी भक्ति करता है वह मुझ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान हो जाने के बाद मनुष्य, गुणों के बीच रहते हुए भी, उनसे नहीं बँधता, क्योंकि गुणों की वास्तविक सत्ता ही नहीं है। किन्तु जो लोग विषयों के सेवन में ही लगे हैं। उनका संग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका अनुगमन करनेवाले की वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अन्धे के सहारे चलनेवाले दूसरे अन्धे की। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य सत्पुरुषों का

ही संग करे, क्योंकि वे अपने सदुपदेशों से उसकी विषयासक्ति नष्ट कर देंगे। सन्त पुरुषों की कभी किसी वस्तु में आसक्ति नहीं होती। उनका चित्त सदा मुझमें लगा होता है। उनके हृदय में शांति का अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा सर्वत्र सबमें सर्वान्तर्यामी भगवान का ही दर्शन करते हैं और उनमें अहंकार का लेश भी नहीं होता। वे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में सदा एकरस रहते हैं। जो लोग आदर और श्रद्धा से मेरी लीला-कथाओं का श्रवण, गान तथा अनुमोदन करते हैं, वे भगवत्-परायण होकर अनन्य भक्ति प्राप्त कर लेते हैं। जिसे मेरी भक्ति मिल गई, वह तो स्वतः संत हो ही गया, जिसने उस भक्त की संगति की, उसके भी भय और अज्ञान का नाश हो जाता है। जिसने भगवान का आश्रय ले लिया, भला उसे दुःख कैसे हो सकता है? इसलिए जो लोग इस घोर संसार-सागर में डूब रहे हैं, उनके लिए ब्रह्मवेत्ता संत ही सुदृढ़ नौका हैं। जैसे अन्न से प्राणों की रक्षा होती है, वैसे ही मैं दीन व दुःखियों का परम रक्षक हूं। जो लोग संसार से भयभीत हैं, उनके लिए संतजन ही परम-आश्रय हैं। जैसे सूर्य नारायण आकाश में उदय होकर लोगों को, जगत तथा अपने आपको देखने के लिए भी, ज्योति-दान करते हैं, वैसे ही सन्तपुरुष अपने को तथा भगवान को देखने के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

मननशील साधक उपासना की सान पर ज्ञान की तलवार को चढ़ाकर अत्यन्त तीक्ष्ण कर लेता है और उससे देहाभिमान का मूलोच्छेद कर पृथिवी पर निर्भय विचरता है। फिर उसमें किसी प्रकार की आशा-तृष्णा नहीं रहती। आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेना ही ज्ञान है। हृदय को शुद्ध कर शास्त्रों का श्रवण तथा महापुरुष का उपदेश-ग्रहण ही उसका साधन है।

उद्धव ! जिसे मेरे स्वरूप का भलीभाँति ज्ञान हो गया है, उसकी वृत्तियाँ और इन्द्रियाँ यदि समाहित अथवा विक्षिप्त ही रहती हैं तो उनसे उसकी लाभ-हानि ही क्या है ? क्योंकि अन्तः-करण और बाह्यकरण तो सभी गुणमय हैं और आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे बादलों के आकाश में छा जाने अथवा तितर-बितर हो जाने से सूर्य का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। ऐसा होने पर भी जबतक मेरे सुदृढ़ भक्तियोग से मन का मैल सर्वथा दूर न हो जाय, तबतक गुणों और उनके कार्यों का बिलकुल त्याग कर देना चाहिए। जैसे भलीभाँति चिकित्सा न करने पर रोग का समूल नाश नहीं होता, वैसे ही जिस मन की वासनाएँ पूर्णतया नष्ट नहीं हो गई हैं, वह मन अधूरे योगी को कई बार पथभ्रष्ट कर देता है। फिर भी यदि वह अधूरा योगी मार्गच्युत हो जाता है तो वह अपने पूर्वाभ्यास के कारण पुनः योगाभ्यास में लग जाता है, क्योंकि आत्मा के साक्षात्कार से उसकी संसार-विषयक समस्त तृष्णाएँ पहले ही नष्ट हो चुकी होती हैं। आत्मदृष्टि होने पर अज्ञान और उसके कार्य निवृत्त हो जाते हैं।

अन्त में उद्धव ने गद्गद् होकर भगवान श्रीकृष्ण से निवेदन किया—'अच्युत ! जो अपना मन वश में नहीं कर सकता, उसके लिए आप कोई ऐसा सुगम और सरल साधन बतलाइये, जिससे वह अनायास ही आपका परमपद प्राप्त कर सके।'

भगवान ने बड़े प्रेम से अपने प्रिय सखा से कहा—'उद्धव ! मेरा ऐसा भक्त अपने सारे कर्म मेरे ही लिए करे और उनको करते समय धीरे-धीरे मेरे स्मरण का अभ्यास बढ़ाये। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में उसका मन और अन्तःकरण मुझमें ही रम जायँगे। मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानों में निवास करते हों, वह उन्हींमें जाकर रहे और उनके आचरणों का ही अनु-सरण करे। शुद्ध अन्तःकरणवाला साधक मुझ परमात्मा को ही

समस्त प्राणियों और अपने हृदय में स्थित देखे। जबतक समस्त प्राणियों में उसकी भगवद्-भावना दृढ़ न हो, तबतक वह मन, वाणी और शरीर से मेरी उपासना करता रहे। उद्धव! यह संपूर्ण ब्रह्मविद्या का रहस्य मैंने संक्षेप और विस्तार से तुम्हें सुना दिया।'

भगवान श्रीकृष्ण से योग के इस सारे रहस्य को सुन लेने के पश्चात् भक्तवर उद्धव ने अत्यन्त भक्तिभाव से उनके चरणों का स्पर्श किया और फिर हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की—'प्रभो! मैं मोह के महान अंधकार में भटक रहा था, आपके सत्संग से मैं सदा के लिए उससे बाहर निकल आया। आपकी मोहिनी माया ने मेरा ज्ञान-दीपक हर लिया था, उसे आपने कृपाकर पुनः अपने सेवक को लौटा दिया। ऐसा कौन दुर्मति होगा, जो आपके इस कृपाप्रसाद का अनुभव करके भी आपके चरणकमलों की शरण छोड़ देगा और किसी दूसरे का सहारा लेगा? महायोगेश्वर! अब आप कृपाकर मुझ शरणागत को ऐसी आज्ञा दीजिये, जिससे आपके चरणकमलों में मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे।'

भगवान श्रीकृष्ण ने आदेश दिया—'उद्धव! अब तुम मेरी आज्ञा से बदरिकाश्रम चले जाओ। तुम वहाँ किसी भी ऐहिक भोग की अपेक्षा न रखकर निस्पृह वृत्ति से अपने आप में मस्त रहना और अपनी इंद्रियों को वश में रखकर मैंने तुम्हें जो शिक्षा दी है, उसका एकांत में विवेकपूर्वक चिंतन करते रहना। अपनी वाणी और चित्त मुझमें लगाये रहना और मेरे बतलाये हुए भागवत-धर्म में प्रेम से रम जाना। इससे अन्त में तुम मेरे परमार्थस्वरूप में लीन हो जाओगे।'

शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण ने जब भागवतश्रेष्ठ उद्धव को ऐसा उपदेश दिया तब उन्होंने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणों में अपना सिर रख दिया। उन्होंने अपने नेत्रों की झरती हुई अश्रुधारा से भगवान के चरणों को

धो डाला। भगवान से वियुक्त होने की कल्पनामात्र से उद्धव अत्यंत कातर हो गए। उन्होंने उनके चरणों की पादुकाएँ अपने सिर पर रख लीं और बार-बार उन्हें प्रणाम कर वहाँ से प्रस्थान किया। बदरिकाश्रम पहुँचने पर उन्होंने तपोमय जीवन व्यतीत कर भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार परमगति प्राप्त की।

यदुवंश का नाश

राजा परीक्षित ने पूछा—सद्गुरो! उद्धवजी के बदरीवन चले जाने के पश्चात भगवान श्रीकृष्ण ने क्या मानवी लीला की?

शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित! प्रभासक्षेत्र में यदुवंशियों ने भगवान श्रीकृष्ण के आदेशानुसार अनेक मंगल कृत्य किये; परंतु फिर भी दैव ने उनकी बुद्धि हर ली और उन्होंने खूब मदिरापान किया। मदिरा के कुप्रभाव से वे आपे में न रहे और उन्मत्त होकर आपस में ही समुद्रतट पर अस्त्रशस्त्रों से युद्ध करने लगे। प्रद्युम्न साम्ब से, अक्रूर भोज से, अनिरुद्ध सात्यकि से और सुभद्र संग्रामजित से भिड़ गये, और उनमें भीषण मारकाट होने लगी। अन्त में जब उनके सब अस्त्रशस्त्र टूट गए, तब उन्होंने समुद्रतट पर उगी 'एरका' घास उखाड़नी शुरू की। यह वही घास थी, जो ऋषियों के शाप के कारण लोहे के मूसल के चूरे से पैदा हुई थी। उनके हाथों में आते ही वह वज्र के समान हो गई। अब वे रोष में भरकर उसी घास को लेकर एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। भगवान श्रीकृष्ण ने जब उन्हें लड़ने से मना किया, तब उन लोगोंने उन्हें भी अपना शत्रु समझ लिया। (जैसे बाँसों की रगड़ से उत्पन्न दावानल बांसों को ही भस्म कर देती है, वैसे ही ऋषियों के शाप और भगवान की माया से मोहित यदुवंशियों का उनके क्रोध ने ही ध्वंस कर डाला।) भगवान श्रीकृष्ण ने जब देखा कि समस्त यदुवंशियों का संहार हो चुका है तब यह सोच-

कर कि पृथिवी का रहा-सहा भार भी उतर गया, उन्होंने संतोष की साँस ली।

परीक्षित ! बलरामजी ने अब समुद्रतट पर बैठकर एकाग्रचित्त से परमात्मा का चिंतन करते हुए अपने आपको आत्मस्वरूप में स्थिर कर पार्थिव-शरीर को उत्सर्ग कर दिया। बलरामजी का देहोत्सर्ग देखकर भगवान श्रीकृष्ण एक पीपल के वृक्ष के नीचे जाकर चुपचाप लेट गये। उस समय उन्होंने अपने दाहिने पाँव पर बाँया चरण रख लिया था। जरा नाम का एक बहेलिया, जिसने उस मूसल के बचे टुकड़े से अपने बाण की नोक बना ली थी, उस जंगल में घूम रहा था। उसने दूर से भगवान का लाल-लाल तलवा देखा। वह उसे हरिण के मुख के सदृश प्रतीत हुआ और भ्रमवश उसने उसे अपने उसी बाण से बींध दिया। पर जब उसने समीप आकर देखा कि यह तो स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हैं, तब तो वह डर के मारे काँपने लगा और उनके चरणों में सिर रखकर पृथिवी पर लौट गया। कुछ काल बाद साहस बटोरकर उसने भगवान से कहा—

'हे मधुसूदन ! मैंने अनजान में यह बहुत बड़ा पाप किया है। मैं पापी हूँ ; पर आप तो परमयशस्वी और निर्विकार हैं। आप कृपाकर मेरा यह अपराध क्षमा करें और मुझे तत्काल मार डालें, जिससे मैं फिर कभी आप-जैसे महापुरुषों का अपराध न कर सकूं।'

उसके पश्चात्ताप भरे वचन सुनकर भगवान ने उससे कहा—'जरे ! यह तो तूने मेरे मन का ही काम किया है। जा, तू मेरी आज्ञा से वैकुण्ठ में निवास कर।'

परीक्षित ! भगवान का आदेश पाकर उस बहेलिए ने उन्हें प्रणाम किया और विमान पर आरूढ़ होकर वह स्वर्ग को चला गया।

भगवान श्रीकृष्ण का सारथि दारुक पता लगाता हुआ जब उनके पास पहुँचा, तब उसने उन्हें उसी प्रकार उस पीपल के वृक्ष के नीचे लेटे देखा। उन्हें देखते ही दारुक के हृदय में प्रेम की बाढ़ आ गई और वह रथ से कूदकर भगवान के चरणों पर गिर पड़ा। प्रेम-विह्वल होकर वह प्रार्थना करने लगा—'प्रभो! रात्रि के समय चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर राह चलनेवालों की जैसी दशा होती है, आपके चरणकमलों का दर्शन न मिलने से मेरी भी वैसी ही दशा हो गई है। मेरे हृदय में शान्ति का नाम भी नहीं है।'

भगवान ने उसे आश्वासन देते हुए कहा— 'दारुक! अब तुम द्वारका चले जाओ और वहाँ यदुवंशियों के पारस्परिक संहार, भैया बलरामजी की परमगति और मेरे स्वधाम-गमन की सूचना सबको दे दो। उनसे यह भी कहना कि अब वे द्वारका में न रहें। मेरे स्वधाम चले जाने पर समुद्र उस नगरी को डुबो देगा। इसलिए अपनी-अपनी सम्पत्ति और मेरे वृद्ध माता-पिता को साथ लेकर अर्जुन के संरक्षण में इन्द्रप्रस्थ चले जायँ। दारुक! तुम भागवतधर्म का आश्रय लो और ज्ञाननिष्ठ होकर शान्त हो जाओ।'

भगवान का आदेश लेकर दारुक खिन्नमन द्वारका जाने को राजी हुआ। जाने के पहले उसने उनकी परिक्रमा की और चरण-कमलों में बार-बार प्रणाम कर उनकी स्तुति करने लगा। अभी दारुक प्रार्थना कर ही रहा था कि उसके देखते-ही-देखते घोड़ों और पताकाओं से सुसज्जित भगवान का गरूड़ध्वज रथ उनको लेकर आकाश-मार्ग से उड़ गया। उसके पीछे भगवान के दिव्य आयुध भी चले गए। भगवान श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे इस लोक से सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और श्री भी चली गई।

भगवान के स्वधाम-प्रयाण के इस अद्भुत दृश्य को देखकर दारुक के आश्चर्य की सीमा न रही। वह भगवान के विरह से

व्याकुल हो रहा था। उसी अवस्था में वह उनके आदेशानुसार द्वारका आया और वसुदेव तथा उग्रसेन के चरणों पर गिरकर उन्हें अपनी अश्रुधारा से भिगो डाला। कुछ समय बाद अपने को संभालकर उसने यादवी-संहार का पूरा विवरण उनसे कहा। इस अत्यन्त दुःखद समाचार को सुनकर विरहातुर देवकी, रोहिणी एवं वसुदेव मूर्छित हो गये और उन्होंने वहीं अपने प्राण विसर्जित कर दिए। अन्य यादव-स्त्रियाँ अपने पतियों के शवों के साथ प्रभासक्षेत्र में बैठकर सती हो गईं। भगवान के स्व-धाम-प्रयाण के सातवें दिन समुद्र ने केवल उनके निवासस्थान को छोड़कर सारी द्वारकानगरी को अपनी लहरों में समा लिया। परीक्षित ! भगवान की आज्ञानुसार अर्जुन शेष स्त्रियों, बच्चों तथा वृद्धों को साथ लेकर इंद्रप्रस्थ लौट आये। रास्ते में भीलों ने अर्जुन को अबला की भाँति लूटकर छोड़ दिया। भीलों से छुटकारा मिलने पर अर्जुन बचे-खुचे यदुवंशियों को लेकर इन्द्र-प्रस्थ के लिए चल पड़े। वहां पहुँचकर उन्होंने उन लोगों को निकटवर्ती देश में बसा दिया और अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को उनका राजा घोषित कर उसका राज्याभिषेक भी कर दिया।

बारहवाँ स्कन्ध

परीक्षित का स्वर्गारोहण

शुकदेवजी ध्यानस्थ होकर बोले—परीक्षित, अब तुम्हारी मृत्यु का समय निकट आ रहा है। तुम्हें चाहिए कि सावधान होकर अपने पूरे अन्तःकरण से भगवान श्रीकृष्ण को अपने हृदय-सिंहासन पर आसीन कर दो। ऐसा करने से तुम्हें अवश्य ही परमगति प्राप्त होगी। इस श्रीमद्भागवत कथा में बार-बार और पद-पद में उन्हीं विश्वात्मा श्रीहरि का संकीर्तन हुआ है। अतः इस कथामृत का प्रसाद लेकर अब तुम अपनी बुद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार करो। ऐसा समझ लो कि तुम काल के भी काल तथा स्वयं परमेश्वर-रूप हो। फिर भला तक्षक की तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी तुम्हें विचलित नहीं कर सकती।

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो, राजर्षि परीक्षित ने श्रीशुकदेव मुनि का सम्पूर्ण उपदेश बड़े ध्यान से सुना। उन्होंने सिर झुका अंजलि बांधकर, बड़े विनीतभाव से उनकी प्रार्थना की—भगवन्, आप करुणा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। आपने परम अनुग्रह कर मुझे भगवान श्रीकृष्ण की परमपावन मुक्तिदायिनी लीला-कथाओं का अमृत-पान करा दिया है। मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। संसार के दुःख-दावानल में जलनेवाले मुझ-सरीखे प्राणियों पर आप जैसे महात्माओं का अनुग्रह करना स्वाभाविक ही है। महर्षे, आपने मुझे ऐसा उपदेश दिया कि अब मैं सर्वात्मैक्य का साक्षात्कार कर चुका हूँ। मैं अब परम शान्ति-स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो गया

हूँ, मैं पूर्णतः अभय हो गया हूँ। तक्षक अथवा किसी भी निमित्त से मृत्यु मुझे अब भयभीत नहीं कर सकती। आपकी आज्ञा मिलते ही अब मैं वाणी को बन्द कर मौन हो जाऊँगा और चित्त को परमात्मा में विलीन कर प्राणों का विसर्जन कर दूँगा। मेरा अज्ञान सदा के लिए आपके उपदेशामृत के पान से विनष्ट हो गया।

ऐसा कहकर परीक्षित ने बड़े प्रेम और श्रद्धा से परमहंस शुकदेवजी की विधिवत् पूजा की। महर्षि शुकदेव के चले जाने के उपरान्त राजर्षि परीक्षित परमात्मा के चिन्तन में समाहित और ध्यानमग्न होकर ब्रह्मस्वरूप हो गए। जब मुनिकुमार शृंगी का भेजा हुआ तक्षक सर्प उन्हें डसने के लिए वहाँ आया तब रास्ते में सर्वचिकित्सा-विशेषज्ञ कश्यप ब्राह्मण उसे मिले। उसने धन देकर उन्हें लौटा दिया। उसके डसने के पहले ही राजर्षि परीक्षित ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर चुके थे। इसलिए उसके डसने के साथ ही उसके विष की ज्वाला से उनका शरीर सबके देखते-ही-देखते जलकर भस्म हो गया। उनकी इस विस्मयकारी परमगति को देखकर वहाँ उपस्थित सभी दर्शक आश्चर्य से उनकी भूरि-भूरि सराहना करने लगे।

तक्षक द्वारा अपने पिता की मृत्यु का वर्णन सुनकर जनमेजय क्रोध से तिलमिला उठा। पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए उसने ब्राह्मणों को अग्निकुण्ड में सर्पों का हवन करने के लिए कहा। जनमेजय की आज्ञा से ब्राह्मणों ने यज्ञ प्रारम्भ कर दिया; किन्तु जनमेजय ने देखा कि इस यज्ञ से भी तक्षक तो सुरक्षित ही है। जब उसे यह बतलाया गया कि तक्षक ने देवराज इन्द्र की शरण ले रक्खी है, तब क्रोधविह्वल होकर उसने इन्द्रसहित तक्षक को हवनकुण्ड में आवाहन करने के लिए ब्राह्मणों को आज्ञा दी। आकर्षण-मन्त्र के पाठ होने की देर थी कि इन्द्र स्वर्ग से विचलित

होकर तक्षक के साथ स्वर्ग से गिरने लगा। देवराज की यह दशा देखकर देवताओं के गुरु बृहस्पति ने जनमेजय के पास आकर उनको इस प्रकार उपदेश दिया—"नरेन्द्र, अमृतपान किये हुए तक्षक को हवनकुण्ड में जला डालना आपको शोभा नहीं देता। तक्षक अवश्य आपके पिता की मृत्यु का निमित्त रहा है; पर मृत्यु तो निमित्तों से ही होती है। जगत के सभी प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार गति पाते हैं। उसको ध्यान में रखते हुए, आपने जो क्रोध और प्रतिशोध की भावनाओं के वश होकर हिंसा का आश्रय लिया और इतने निपराध सर्पों की हत्या कर डाली, इसे उचित नहीं कहा जा सकता। अतः इस व्यर्थ की हिंसा को अब आप बन्द कर दें।"

बृहस्पति की इस हितभरी सलाह से जनमेजय ने सर्प सत्र को बंद करा दिया और उसने देवगुरु की विधिपूर्वक पूजा की।

ऋषिगण! आप यह समझ लें कि जो कुछ था, है या होगा, वह एकमात्र परमपुरुष परमेश्वर की माया है। इसलिए परमात्मा का ही प्रतिक्षण चिंतन करते रहना चाहिए, यही पण्डितों का मत है। अब मैं भगवान श्रीकृष्ण को नमस्कार कर यह महापुराण समाप्त करता हूँ। आप लोगों ने इस भागवत-कथा को भक्ति-भाव से सुना है। जो लोग श्रद्धाभक्ति से इस कथा का पारायण करेंगे वे भवसागर से बिना किसी प्रयास के पार हो जायंगे।

इस अलौकिक आनन्ददायिनी भागवत-कथा को सुनकर शौन-कादि ऋषियों ने भक्ति भाव से महर्षि सूत की पूजा की। पश्चात सूतजी अपने आश्रम को चले गये।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९	१६	उत्टक	उत्कट
२८	२१	पीसने	रखने
४३	१०	कर-कर	कर
६४	२३	आत्माओं और	आत्माओं की आत्मा और
६४	१३	भगवत	भागवत
६५	१३	मूतसर्ग	भूतसर्ग
६५	१६	इन्द्रियाघिष्ठाता	इन्द्रियाधिष्ठाता
७१	१२	द्वारपालों	द्वारपालों को
७१	१६	अपने	आपने
७२	८	यम	यमज
७४	२७	सुर्शन	सुदर्शन
७७	१	अपनी	आपकी
७८	१८	से और अलंकृत	से अलंकृत
७९	११	प्राकर	पाकर
८१	२	रहनें में	रहने से
८३	२३	त्रिगुणात्मक	त्रिगुणात्मिका
८४	२७	को अभी से स्थापित	को स्थापित
८५	८	संघर्षण	संकर्षण
९६	१५	समर्थ हो	समर्थ न हो
९९	१४	भेदातीन	भेदातीत
१०२	५	अपते	अपने
१०३	२२	भनवान	भगवान
१०४	१६	बालक मन	बालक के मन

११०	११	याज्ञादि	यज्ञादि
११०	१२	सम्पर्ण	सम्पूर्ण
१११	७	परम भागवन	परम भागवत
११५	२३	महारज	महाराज
११६	१४	में	मैं
१२५	२२	प्राचीनबार्हि	प्राचीनबर्हि
१२९	१	नहीं रहा	रहा
१४३	१४	योग्य ने होने	योग्य न होने
१४६	३	और	द्वारा
१४७	१२	अवध्रूत	अवधूत
१५०	१५	देवयोग	दैवयोग
१५२	१	पाधारे	पधारे
१५६	१८	हृषिकेश	हृषीकेश
१५८	२४	कालिया	कालिय
१५९	५	हृश्य	दृश्य
१६०	८	टेड़ी	टेढ़ी
१६९	५	शाषक	शासक
१८४	१९	होंगे	हैं
२७३	१७	यह तो स्त्री	यह एक तो स्त्री
२७३	१९	कूरतापूर्ण	क्रूरतापूर्ण
२८१	२७	कथानुसार	कथनानुसार
२८६	३	देख-देखकर अपना	देख-देखकर गोपियाँ अपन
२८८	९	बुड़ी	बड़ी
३१४	२१	अक्रूरजी ने	अक्रूरजी से
३३१	२१	भयावाह	भयावह
३५२	९	शात्र	शात्रु
३६२	१५	बार उससे	बार आपने उससे

३६६	८	कि ब्राह्मण	कि ये ब्राह्मण
३८१	१५	उहोंने	उन्होंने
३९१	२५	साधनों	साधकों
३९३	४	अर्जुन	विवेचन
४०२	७	ब्रह्मचारी	बाल ब्रह्मचारी
४०५	२	प्रातः	प्रायः
४०८	२५	मानकर उसी	मानकर जीव उसी
४४१	१३	ज्ञिासा	जिज्ञासा
४४२	१५	क	को
४४५	२	योगमाय	योममय
४५२	२१	उसे	जो
४५६	२	प्रपि	प्रति
४७७	१३	प्रद्यम्न	प्रद्युम्न
४८०	७	प्रमासक्षेत्र में बैठकर	बैठकर प्रभासक्षेत्र में